वैदिक वाङ्मय
में
प्राकृतिक चिकित्सा
द्वितीय भाग
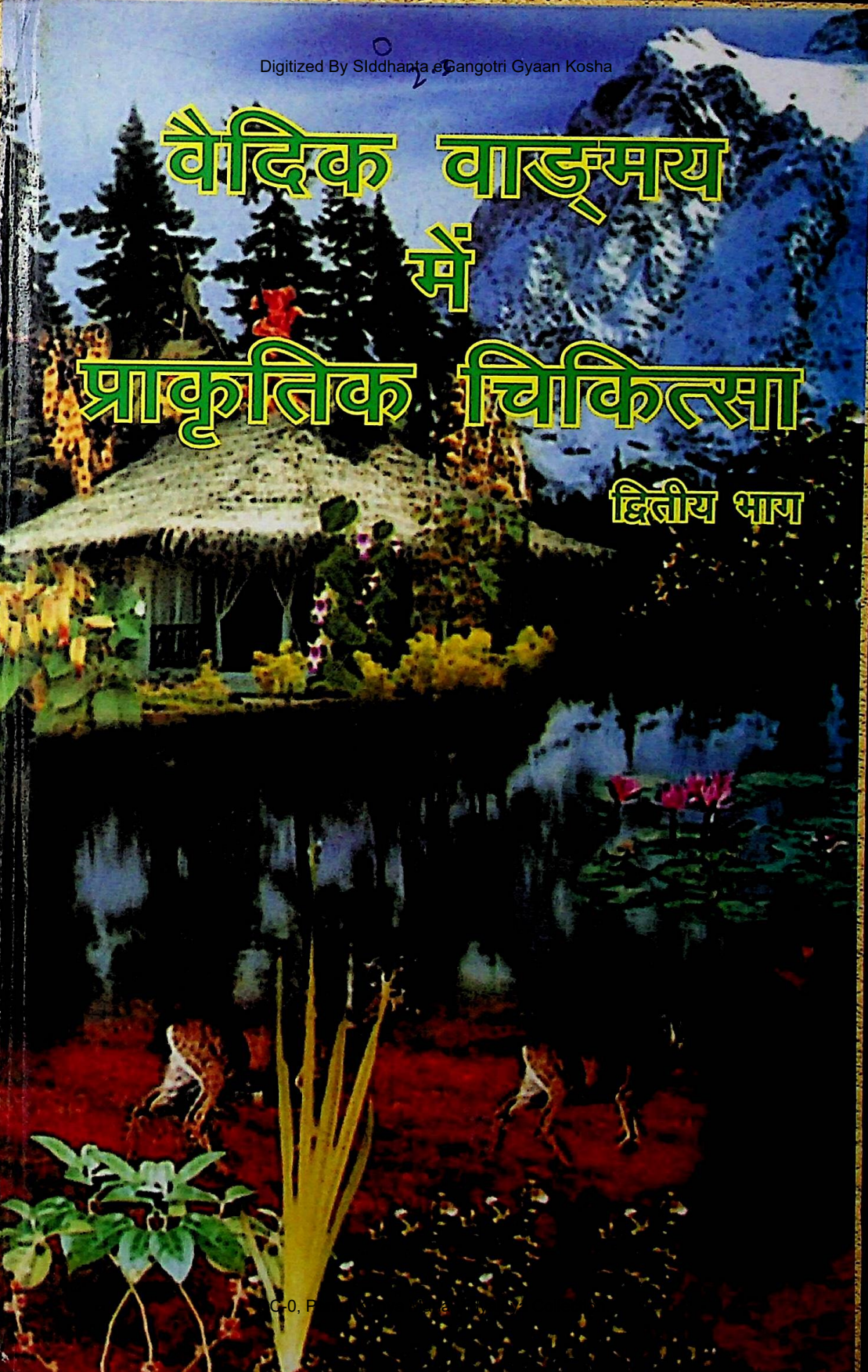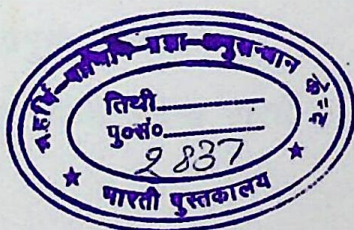
वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा

(परिषद् की साहित्यिक अनुसंधान परियोजना
के अन्तर्गत लिखित शोध ग्रन्थ)

द्वितीय भाग

प्रमुख शोधकर्त्ता

परमहंस स्वामी अनन्त भारती
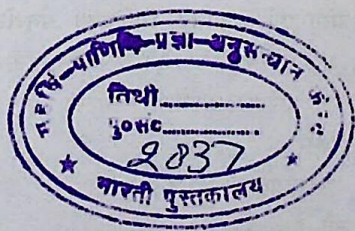
केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्

भारत सरकार, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय

(आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग)

61-65, संस्थागत क्षेत्र, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

प्रधान सम्पादक:

प्रो० डॉ० बी० टी० चिदानन्द मूर्ति

सम्पादक :

डॉ० राजीव रस्तोगी

सहायक निदेशक (प्राकृतिक चिकित्सा)

डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय

सहायक अनुसंधान अधिकारी (प्राकृतिक चिकित्सा)

प्रथम संस्करण : २००४
प्रतियाँ : ५००
द्वितीय संस्करण : २००७
प्रतियाँ : १०००
मूल्य : १७५/-

प्रकाशक :
केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्
आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग,
स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय,
भारत सरकार
६१–६५, संस्थागत क्षेत्र, जनकपुरी,
नई दिल्ली–११००५८
फोन : २८५२०४३०, २८५२०४३१, २८५२०४३२ फैक्स : २८५२०४३५
ई-मेल : ccryn@vsnl.net वेबसाइट : www.ccryn.org

मुद्रक :
आबिर प्रिन्ट प्वाइन्ट
नई दिल्ली–४६
फोन : ९८१०२१६०७४

सत्यमेव जयते

शेखर दत्त
Shekhar Dutt
SECRETARY
Tel. : 011- 23715564
Fax. : 011- 23327660
E-mail : sec-ismh@hub.nic.in

सचिव भारत सरकार
स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय
आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा,
यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग
रैड क्रॉस भवन, नई दिल्ली - 110001
SECRETARY TO GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF HEALTH & FAMILY WELFARE
DEPTT. OF AYURVEDA, YOGA & NATUROPATHY,
UNANI, SIDDHA AND HOMOEOPATHY (AYUSH)
RED CROSS BUILDING, NEW DELHI - 110 001

31-3-2004

प्राक्कथन

मनुष्य प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इस विश्व में सब कुछ प्रकृति की ही देन है और उसी की देन है प्राकृतिक चिकित्सा । मानव के विकास के साथ ही प्राकृतिक चिकित्सा का भी विकास हुआ। मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश प्रकृति के इन पंचमहाभूतों पर आधारित प्राकृतिक चिकित्सा ने धीरे-धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न प्रक्रियाएं जैसे उपवास आदि भारत की धार्मिक तथा आध्यात्मिक परंपराओं से जुड़कर उस संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गईं।

मुझे खुशी है कि केंद्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद् ने प्राकृतिक चिकित्सा के महत्व को देखते हुए अपनी साहित्यिक अनुसंधान योजना के अंतर्गत ''प्राकृतिक चिकित्सा के प्राचीन संस्कृत स्रोत'' नामक एक अनुसंधान परियोजना को स्वीकृति प्रदान की। इस योजना के अंतर्गत संकलित सामग्री अब "वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा" शीर्षक से दो भागों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। यह इस बात को रेखांकित करती है कि प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार-प्रसार भारत में आज का नहीं अपितु वेदों के समय से हो रहा है।

मैं केंद्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद् को प्राकृतिक चिकित्सा विषयक ऐसी उपयोगी पुस्तक तैयार करने के लिए बधाई देता हूं। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों, शिक्षकों, चिकित्सकों तथा शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

(शेखर दत्त)
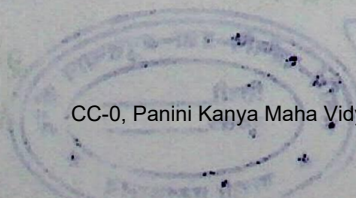
द्वितीय संस्करण की भूमिका

परिषद् द्वारा दो खण्डों में प्रकाशित ग्रन्थ ''वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा'' की प्राकृतिक चिकित्सा जगत में अच्छी सराहना हुई तथा एक संदर्भ ग्रन्थ के रूप में प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों, चिकित्सकों तथा शोधकर्त्ताओं ने इसे उपयोगी पाया। बहुत से पाठकों ने तो इसके अंग्रेजी अनुवाद की भी मांग की। शीघ्र ही इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया तथा द्वितीय संस्करण के लिए परिषद् को तत्पर होना पड़ा। इससे प्रतीत होता है कि अधिकाधिक लोगों में प्राकृतिक चिकित्सा विषयक सिद्धान्तों के प्रति रुचि बढ़ाने में तथा प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति को समृद्धशाली बनाने में इस ग्रन्थ का अपना योगदान रहा है।

ग्रन्थ के इस द्वितीय संस्करण में यत्र-तत्र रह गयी त्रुटियों का निराकरण करने का प्रयास किया गया है। कतिपय अन्य त्रुटियों की ओर ध्यानाकर्षण किये जाने पर आगामी संस्करण में उनका भी निराकरण करने का प्रयास किया जायेगा।

मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि अधिक से अधिक लोग इस बहु उपयोगी ग्रन्थ का अध्ययन कर इससे लाभान्वित होंगे।
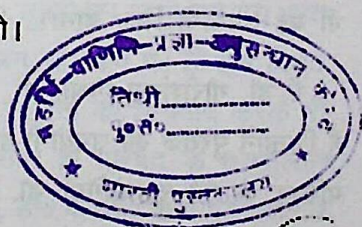
नई दिल्ली

(प्रो० डॉ० बी० टी० चिदानन्द मूर्ति)

निदेशक

प्रथम संस्करण की भूमिका

अपनी स्थापना के समय से ही केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद् इस बात के लिए प्रयासरत रही है कि योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में चिकित्सकीय अनुसंधान तथा प्रचार- प्रसार के साथ-साथ साहित्यिक अनुसंधान की गतिविधियों को भी बढ़ावा दिया जाए ताकि अच्छे तथा मूल्यपरक साहित्य को प्रोत्साहित कर प्रकाश में लाया जा सके।

इसी क्रम में परिषद् द्वारा स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली को 'प्राक तिक चिकित्सा के प्राचीन संस्कृत स्रोत' नामक एक साहित्यिक अनुसंधान परियोजना, जिसके प्रमुख शोधकर्त्ता संस्कृत के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान स्वामी अनन्त भारती थे, स्वीकृत की गयी थी। इन शोध परिणामों को 'वैदिक वाङ्मय में प्राक तिक चिकित्सा' शीर्षक से दो भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक में दिए गए सन्दर्भ इस बात को वर्णित करते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार-प्रसार भारत में वेदों के समय से रहा है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मिलने वाले अनेक सन्दर्भ इस पुस्तक में संकलित किए गए हैं। मुझे विश्वास है कि परिषद् द्वारा प्रकाशित यह ग्रन्थ प्राकृतिक चिकित्सा के विद्यार्थियों को लाभान्वित करने के साथ-साथ प्राकृतिक चिकित्सा साहित्य को सम द्ध करने में सफल होगा। एक संदर्भ ग्रन्थ के रूप में भी यह उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं डॉ. गौरीशंकर मिश्रा, डॉ. चन्द्रहास शर्मा एवं डॉ. के.के. पाण्डेय जी का आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक को उपयोगी बनाने के सम्बन्ध में अपने सुझाव एवं सहयोग दिया तथा परिषद् के मेरे सहयोगियों डॉ. राजीव रस्तोगी एवं डॉ. श्याम नारायण पाण्डेर्य का आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

इस सम्बन्ध में दिए गए सुझावों का स्वागत रहेगा।

नई दिल्ली

(प्रो० डॉ० बी० टी० चिदानन्द मूर्ति)
निदेशक

प्रस्तावना

केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की साहित्यिक अनुसन्धान परियोजना के अन्तर्गत **'प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा'** शीर्षक ग्रन्थ के लेखन का कार्य परिषद् के तत्कालीन निदेशक डा० नरेश कुमार ब्रह्मचारी द्वारा स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली को सौंपा गया था। यद्यपि मैंने राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली की सेवा से अवकाश प्राप्त होने के साथ ही शास्त्रीय लेखन से मुक्त रहने का विचार किया था, किन्तु मित्रों और सहयोगियों के अनुरोध और इस ग्रन्थ के लेखन के क्रम में एक बार पुनः विशाल संस्कृत वाङ्मय के पर्यालोडन का अवसर मिलने के लोभ ने मुझे इस ग्रन्थ के लेखन के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया एवं सदाशय सहयोगियों से मिले सहायता के आश्वासन ने मेरा उत्साह बढ़ाया फलतः मुझे स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली के निदेशक के रूप में इस ग्रन्थ के लेखन की परियोजना को स्वीकार करना पड़ा। अन्ततः यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की परिणति जिस रूप में हुई उसे देखकर मुझे इस विशाल ग्रन्थ का नाम **'वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा'** उचित प्रतीत हुआ और मेरे प्रस्ताव पर ग्रन्थ का यह नामकरण स्वीकृत भी हुआ।

इस ग्रन्थ के लेखन में डॉ० वेदव्रत आलोक, पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, स्वामी श्रद्धानन्द कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती विश्ववारा, मेरे प्रिय शिष्य डा० स्वामिनाथ मिश्र एवं डॉ० सुषमा का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ है। इन सहयोगियों द्वारा किए गये सामग्री संकलन रूप नींव पर ही इस विशद ग्रन्थ रूपी भवन का निर्माण हो सका है। एतदर्थ इन स्वजनों का धन्यवाद करके भी मैं इनके अवदान से कभी मुक्त नहीं हो सकता। साथ ही परिषद् के तत्कालीन निदेशकों डॉ० नरेश कुमार ब्रह्मचारी, डॉ० गणेश शंकर, डॉ० के०डी० शर्मा एवं वर्त्तमान निदेशक प्रो० डॉ० बी० टी० चिदानन्द मूर्ति एवं उनके विश्वस्त सहयोगियों का भी हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ, जिनके सतत् प्रयत्न से इस ग्रन्थ के लेखन की योजना से प्रकाशन तक का कार्य सम्पन्न हो सका है।

स्वामी अनन्त भारती

फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी (स्वामी अनन्त भारती)

सं० २०५६ वि०

विषय सूची

प्रथम भाग : स्वास्थ्य

प्रकृति प्रदत्त शरीर–संरचना, प्रकृति प्रदत्त शरीर का प्रमाण, मन की प्रकृति की परीक्षा, पाचन–प्रकृति की परीक्षा, रोग की प्रकृति की परीक्षा, चिकित्सा कर्म की प्रकृति औषधि की प्रकृति, परिचारक की प्रकृति, रोग की प्रकृति, पञ्चकर्मः संशोधन चिकित्सा, लंघन एवं बृंहण में, पदार्थों का उपयोग, रूक्षण, पञ्च कर्म का पूर्वकर्म स्नेहन, पञ्च कर्म का द्वितीय पूर्वकर्म स्वेदन, बस्ति (एनिमा), दीपन और पाचन, उपवास और व्यायाम आदि, स्तम्भन, शोधन चिकित्सा के कुछ उदाहरण, परिशिष्ट (मूल उद्धरण)

चतुर्थ अध्याय—— प्राकृतिक चिकित्सा का स्वरूप और उसके अंग

प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा, प्रकृति, श्लेष्मप्रकृति, पित्तप्रकृति, वातप्रकृति, अस्वास्थ्य के हेतु, प्राकृतिक चिकित्सा की पूर्ण परिभाषा, प्रचलित प्राकृतिक चिकित्सा के मुख्य सिद्धान्त, आहार, उपवास, उपवास के सामान्य प्रयोजन, उपवास सर्वश्रेष्ठ उपचार कब, उपवास में पालनीय नियम, उपवास की अवधि, पारणा–उपवास कैसे तोड़ें, दीर्घकालीन उपवास, उपवास के प्राचीन कालीन नियम, उपवास में बस्ति (एनिमा), प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा में बस्ति के प्रकार, हठ योग में बस्ति (षट्कर्मों में अन्यतम बस्ति), बस्ति में उपयोगी सहकारी द्रव्य, बस्ति (एनिमा) लेने की विधि, अभ्यङ्ग (तेलमालिश) की विधियां, लेप या आलेप, उद्वर्त्तन, मर्दन–उन्मर्दन, पादाघात, परिषेक, संवाहन, गण्डूष और कवल धारण, मूर्ध तैलः शिरस्तर्पण, शिरोधारा, पिचुधारण, मास्तिष्क्य, स्नेहावगाहन, अक्षितर्पण, नस्य या नासातर्पण, बृंहण नस्य, शमन नस्य, नस्य की विधि, कर्ण तर्पण, जल और मिट्टी के प्रयोग, प्राकृतिक उपहारों के प्रयोग,

शरीर-प्रकृति

पञ्चम अध्याय—— शरीर का परिचय :-

शरीर एक समष्टि, शरीर के छः मुख्य विभाग, शरीर के अवयव, त्वचा (सात त्वचाएं) कलाएं (सात कलाएं) आशय, स्रोत, कण्डरायें कूर्च एवं रज्जु, जालक, सीवनी, अस्थिसंघात, हड्डियां, अस्थि सन्धियां, स्नायु, पेशियां, मर्म, मर्म के भेद, सिराएं, शरीर की प्रकृति का प्राचीन विवेचन, धमनियाँ,

अङ्ग–प्रत्यङ्ग शरीर के मूल उपादान, दोष, धातु, मल, वात, पित्त, कफ (दोष), रस आदि धातु, मल, विषमता का परिणाम अस्वास्थ्य, दोष, धातु एवं मल के क्षय का परिणाम, परिशिष्ट एवं मूल उद्धरण, शारीर विवरण, चार्ट आदि, त्वचा के विभाग (सात त्वचाएं), सात कलांए, अस्थि संख्या विवरण (सम्मुख स्थित) शाखा अस्थियां, अंग–प्रत्यंग सचित्र विवरण, मर्म शारीर सचित्र विवरण, सम्मुख स्थित मर्म शारीर विवरण पृष्ठ स्थित मर्म शरीर, अस्थिसन्धियां सं० २१०, स्नायु विवरण सं० १००, स्नायु, पांच सौ पेशियों का कार्य, पेशियों के प्रकार, सात सौ सिराओं का विवरण चौबीस मुख्य धमनियां, पूर्ण संख्या अगणनीय, ऊर्ध्व गामिनी धमनियों के हृदय स्थानीय तीस विभाग, अध ोगामिनी धमनियों के तीस विभाग, पार्श्वगामिनी, धमनियों के असंख्य विभाग।

छठा अध्याय– **शरीर के मुख्य उपादान :-**

शरीर के मूल आधार, स्वास्थ्य के मूल आधार, आहार परिणाम और उसकी प्रक्रिया, धातुएं, मल, उपधातु, पाचक अग्नि, चिकित्सा का लक्ष्य, रोग के कारण, कर्म, काल, रोगों के प्रकार, दोष कुपित क्यों होते हैं, शरीर के उपादन और उनके सन्तुलन के उपाय, रस, विरोधी आहार द्रव्य, विरोध के आधार, संयोग विरोध, संस्कार विरोध, समता विरोध, विषमताजन्य विरोध, समता विषमता विरोध, मात्रा विरोध, देश विरोध, काल विरोध एवं स्वभाव विरोध, वाग्भट–निर्दिष्ट विरोध के निदर्शन, आहार की मात्रा, आहार विधि के आयतन, प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था, उपयोक्ता, आहार विधि, आहार क्रम, आहार समय, अनुपान, परिशिष्ट (मूल सन्दर्भ)

सप्तम अध्याय–– **स्वस्थवृत्त-दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं दीर्घ जीवन के उपाय :**

दिनचर्या, जागरण, मल विसर्जन, दन्तपवन, अंजन, नस्य, अभ्यङ्ग, वातनाशक प्रमुख औषध सिद्ध तेल, स्थिर वनस्पति तेल, अस्थिर तेल, अभ्यङ्ग काल, अभ्यङ्गकाल की तालिका, व्यायाम, उद्वर्त्तन, स्नान, स्नान विधि, वस्त्र, चन्दन, माल्य आदि धारण, भोजन,

भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव यज्ञ), धर्म–अर्थ–चिन्तन, ऋतुचर्या, शीतऋतुचर्या, वसन्तऋतुचर्या, ग्रीष्मऋतुचर्या, गीष्मऋतु के विशेष आहार द्रव्य : रसना, राग पञ्चसार, वर्षा ऋतुचर्या, शरद् ऋतुचर्या। परिशिष्ट (मूल सन्दर्भ)

अष्टम अध्याय–– **शरीर-शोधन और स्वास्थ्य-प्राप्ति :-**

दोषवैषम्य का मूल, योग में संशुद्धि के उपाय, धौति, अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन, मूलधौति, गणेशक्रिया, बस्तिक्रिया, शुष्कबस्ति, नौलि, प्राणायाम, संशोधन के अधिकारी, संशोधन के अनधिकारी, पूर्वकर्म स्नेहन और स्वेदन, पञ्चकर्म वमन विरेचन, निरूह और अनुवासन बस्ति, नस्य और शिरावेध या रक्तमोक्षण, पश्चात् कर्मः संर्सजन क्रम रसायनकर्म, शमन प्रयोग, संशोधन का समय, वेगावरोधजन्य रोगों में पञ्चकर्म की तालिका, शक्तिप्रद औषधियां : बृंहण वृष्य वाजीकरण रसायन, रसायन प्रयोग के भेद, स्नेहन की अवधि, बस्ति के आवृत्तिमूलक भेद, नस्य, पञ्च कर्म से चिकित्सा :– ज्वर रोग की पञ्चकर्म चिकित्सा, रक्तपित्त की चिकित्सा, गुल्मरोग, प्रमेह रोग, कुष्ठ रोग, श्वित्र रोग, राजयक्ष्मा, उन्मादरोग, अपस्मार रोग, अतत्त्वाभिनिवेश रोग, शोथ रोग, ग्रन्थि रोग, भगन्दर, जालगर्दभ, उदररोग, वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, बद्धोदर, अर्शरोग, ग्रहणी रोग, पाण्डु और कामला रोग, अतिसार, छर्दि (वमन), विसर्प, विष प्रभाव, मदात्यय रोग, व्रण रोग, उदावर्त्त रोग, आनाह उदावर्त्त, मूत्र रोग, मूत्रकृच्छ्र–मूत्राघात, हृदय रोग, प्रतिश्याय रोग, शिरोरोग, मुखरोग, अरोचक रोग, स्वर भेद, वातरोग, वातरक्त रोग, योनिव्यापद् रोग, प्रदर रोग, नपुंसकता, कौमार भृत्य और संशोधन चिकित्सा, स्तन्यशुद्धि हेतु संशोधन चिकित्सा परिशिष्ट (मूल सन्दर्भ)

द्वितीय भाग

नवम अध्याय–– **वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा :-**

वेदों में आरोग्य के साधन, जीवनीय विद्या, जीवनीय विद्या और ब्रह्मचर्य, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, आरोग्य का मुख्य साधन, पञ्चदेव : आरोग्य, पर्जन्य से आरोग्य, मित्र से आरोग्य, वरुणदेव से

आरोग्य, चन्द्रदेव से आरोग्य, सूर्यदेव से आरोग्य, आंहार से स्वास्थ्य, आहार ग्रहण करने की विधि (वैदिक विधि), मलवेगों का निरोध अस्वास्थ्य कर, वैदिक प्राकृतिक चिकित्सा विधि, यज्ञ से आरोग्य प्राप्ति, सूर्च किरणों से चिकित्सा, वायु से चिकित्सा, अग्नि से चिकित्सा, जल से स्वास्थ्य प्राप्ति, जल के विविध प्रयोग, पृथिवी (मिट्टी) का चिकित्सा में प्रयोग, हस्तस्पर्श चिकित्सा (रेकी के चिकित्सा सूत्र), दीर्घायुष्य, भैषज्य द्रव्यों का प्राकृतिक चिकित्सा में उपयोग, वयःस्थापन, बुद्धि की वृद्धि के उपाय, मूत्राघात मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा, रक्तस्राव, हृदयरोग, कामला एवं कुष्ठ की चिकित्सा, विविध ज्वरों की चिकित्सा, दिव्य वनस्पतियों से विविध रोगों की निवृत्ति : जङ्गिड मणि से, तारका से, पृश्निपर्णी से, वचा से, वारणा से, अंजन पाषण से, रोहिणी से, अपामार्ग से, गुग्गुलु से, पीलु से विविध रोगों की निवृत्ति, गुग्गुल के अनेक प्रयोग, दिव्य वनस्पति औक्षगन्धि से विविध रोगों की निवृति, अरुन्धती से, वरण से, सोम से, पिप्पली से, चीपुद्रु से, मुनि (मुण्डी) से, विविध रोगों की निवृत्ति। परिशिष्ट (मूल सन्दर्भ)।

दशम अध्याय—— प्राकृतिक चिकित्सा एवं प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग में प्राचीन आचार्यों की दृष्टि :-

प्राकृतिक चिकित्सा में प्राकृतिक द्रव्यों के प्रयोग का सिद्धान्त, जीवनदायी प्राणरक्षक द्रव्य, बृंहण द्रव्य, सन्धानीय (व्रणहर) द्रव्य, दीपनीय–अग्निवर्धक द्रव्य, बलवीर्यवर्धक द्रव्य, सौन्दर्यवर्धक द्रव्य, स्वर्य (स्वर ठीक करने वाले) द्रव्य, हृद्य = हृदयरोगहर हृदय को स्वस्थ रखने वाले द्रव्य, अरुचिहर द्रव्य, अर्शहर द्रव्य, कुष्ठ आदि चर्म रोग हर द्रव्य, कृमिहर द्रव्य, विषहर द्रव्य, रूक्षताहर द्रव्य, स्वेदकर द्रव्य, वमनकारी द्रव्य, विरेचनकारी द्रव्य, वस्ति क्रिया में उपयोगी द्रव्य, पित्तविकारहर द्रव्य, प्रमेहहर द्रव्य, ज्वरहर द्रव्य, श्रमहर द्रव्य, दाहहर द्रव्य, शीतहर द्रव्य, उदर्दहर द्रव्य, अङ्गमर्द हर द्रव्य, अजीर्णहर द्रव्य, रक्त प्रवाहहर = रक्तावरोधी द्रव्य, पीडाहर द्रव्य, अचेतनताहर द्रव्य, सन्ततिकर द्रव्य, वयःस्थापक द्रव्य, वयःस्थापक एवं दीर्घायुष्करद्रव्य। अग्निपुराण में ज्वर की प्राकृतिक चिकित्सा, अग्निपुराण में अतिसार की प्राकृतिक चिकित्सा, अग्निपुराण में अर्श की प्राकृतिक

चिकित्सा, अग्निपुराण में ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा, अग्निपुराण में कर्णशूल की प्राकृतिक चिकित्सा, अग्निपुराण में सर्पविष की प्राकृतिक चिकित्सा, रोगों से मुक्ति के कुछ सामान्य सिद्धान्त और पथ्य, ज्वर–चिकित्सा के कुछ मुख्य सिद्धान्त' रक्तपित्त की प्राकृतिक चिकित्सा, गुल्मरोग की प्राकृतिक चिकित्सा, मधुमेह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, कुष्ठ आदि चर्म रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा, राजयक्ष्मा रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, उन्मादरोग की प्राकृतिक चिकित्सा, अपस्मार रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, अतत्त्वाभिनिवेश की प्राकृतिक चिकित्सा, उरःक्षत रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, शोथ रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, उदर रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा, पाण्डुरोग की प्राकृतिक चिकित्सा, हिक्का श्वास रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा, कास रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, अतिसार, रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा, वमन रोग की प्राकृतिक चिकित्सा, तृषारोग की प्राकृतिक चिकित्सा, विष दूर करने के प्राकृतिक चिकित्सा के उपाय, व्रण की प्राकृतिक चिकित्सा, उरुस्तम्भ की प्राकृतिक चिकित्सा, वातरोग की प्राकृतिक चिकित्सा, वातरक्त की प्राकृतिक चिकित्सा, योनिव्यापद् की प्राकृतिक चिकित्सा, स्तन्य दोष की प्राकृतिक चिकित्सा, परिशिष्ट (मूल सन्दर्भ)

ग्यारहवां अध्याय—— एकल प्राकृतिक द्रव्यों से स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा

भावमिश्र के अनुसार कुछ द्रवों के गुण धर्म, बृंहण द्रव्य, बृष्य द्रव्य, व्यवायी (कामवर्धक) द्रव्य, स्तम्भक द्रव्य, वाग्वृद्धिकर द्रव्य, रसायन द्रव्य, बलकारी द्रव्य, वीर्यवर्धक द्रव्य, ओजस्कर द्रव्य, सर्वधातुवर्धक द्रव्य, शुक्रशोधक द्रव्य, शुक्ररेचक द्रव्य, शुक्रहर द्रव्य, चक्षुष्य द्रव्य, मेधावर्द्धक द्रव्य, केशवर्धक एवं संरक्षक द्रव्य, स्वर्य–मधुर स्वरकारी द्रव्य, धनदायक द्रव्य, अग्निवर्धक द्रव्य, अग्निकर द्रव्य, अग्निनाशक द्रव्य, आमपाचक द्रव्य, रुचि उत्पादक द्रव्य, हृद्य = हृदय रोग हर, हृदय को बलकारी द्रव्य, अहृद्य : हृदय के लिए अहितकर द्रव्य, आहलादजनक द्रव्य, आयुष्कर द्रव्य, भेदन=कब्जहर द्रव्य, स्तन्य=दुग्धवर्धक द्रव्य, ग्राही एवं विष्टम्भी द्रव्य, मलमूत्र–स्तम्भक द्रव्य, वमनकारी द्रव्य, बस्तिशोधक द्रव्य, कोष्ठशोधक द्रव्य, मूत्र–शोधक द्रव्य, वर्णकर द्रव्य, कान्तिकर द्रव्य, त्वचा रक्षक–द्रव्य (त्वच्य), तृप्तिकर द्रव्य, गर्भ–कर द्रव्य, गर्भपातक द्रव्य, गर्भाशय–शोधक द्रव्य, दाहकर द्रव्य, शामक द्रव्य, मादक=मोहकर द्रव्य, भग्न–सन्धानकर द्रव्य,

अस्थिसन्धानकर द्रव्य, छेदनद्रव्य, मलहर द्रव्य, त्रिमलहर द्रव्य, श्रेष्ठ गन्ध, स्वेदकर द्रव्य, नेत्र ज्योतिकर द्रव्य, नेत्ररोगकर द्रव्य, दन्त्य (दान्तों को स्वस्थ रखने वाले) द्रव्य, आध्मानकर द्रव्य, मलकर द्रव्य, मूत्रवर्धक द्रव्य, रक्तपित्तहर द्रव्य, रक्तपित्तदोषकर द्रव्य, रक्तदोषकर द्रव्य, अम्ल पित्तकर द्रव्य, मन्दाग्निकर द्रव्य, शोषणकर द्रव्य, स्नायु–शोधक द्रव्य, मूत्र कृच्छ्रकर द्रव्य, कण्डूकर द्रव्य, वातहर द्रव्य, वातानुलोमक द्रव्य, पित्तहर द्रव्य, कफहर द्रव्य, वातपित्तहर द्रव्य, वातकफहर द्रव्य, त्रिदोषहरद्रव्य, वातशामक द्रव्य, वातकोपन=वात को कुपित करने वाले द्रव्य, पित्तशामक द्रव्य, वातकफ–अनुलोमक द्रव्य, वातपित्त प्रकोपक द्रव्य, वातपित्त शामक द्रव्य, त्रिदोष शामक द्रव्य, वातकर द्रव्य, पित्तकर द्रव्य, कफकर द्रव्य, कफवातकर द्रव्य, वातपित्तकर द्रव्य, वातदोषकर द्रव्य, कफपित्तकर द्रव्य, रक्तकोपक द्रव्य, त्रिदोषकर द्रव्य, ज्वरहर द्रव्य, रक्तज्वरहर द्रव्य, चातुर्थिक ज्वरहर द्रव्य, शीतज्वरहर द्रव्य, कासहर द्रव्य, पित्तजकासहर द्रव्य, वातज कासहर द्रव्य, श्वासहर द्रव्य, तमकश्वासहर द्रव्य, उदररोगहर द्रव्य, मन्दाग्निहर द्रव्य, विषमाग्निहर द्रव्य, तीक्ष्णाग्निहर द्रव्य, अर्जीणहर द्रव्य, अरुचिहर द्रव्य, वमनहर द्रव्य, रक्तवमनहर द्रव्य, आध्मानहर द्रव्य, अतिसारहर द्रव्य, प्रवाहिकाहर द्रव्य, वातातिसारहर द्रव्य, पित्तातिसारहर द्रव्य, रक्तातिसारहर द्रव्य, मूत्रातिसारहर द्रव्य, आमदोषहर द्रव्य, आमातिसारहर द्रव्य, पक्वातिसारहर द्रव्य, ग्रहणी–संग्रहणीहर द्रव्य, उदावर्त्तहर द्रव्य, जलोदरहर द्रव्य, कुक्षिशूलहर द्रव्य, विषूचिकाहर (हैजा) द्रव्य, कृमिहर द्रव्य, उदरकृमिहर द्रव्य, गुदकृमिहर द्रव्य, कामलाहर द्रव्य, पाण्डुहर द्रव्य, यकृत्प्लीहा दोषहर द्रव्य, तृषाहर द्रव्य, मुखशोषहर द्रव्य, दाहहर द्रव्य, शूलहर द्रव्य, कफजशूलहर द्रव्य, हृदयशूलहर द्रव्य, आमशूलहर द्रव्य, पक्तिशूलहर द्रव्य, शिरःशूलहर द्रव्य, पृष्ठशूलहर द्रव्य, कटिशूलहर द्रव्य, अस्थिशूलहर द्रव्य, शुक्रशूलहर द्रव्य, गुह्यशूलहर द्रव्य, योनिशूलहर द्रव्य, कर्णशूलहर द्रव्य, कुक्षिशूलहर द्रव्य, पार्श्वशूलहर द्रव्य, हिक्का=हिचकीहर द्रव्य, पित्तजरोगहर द्रव्य, रक्तपित्तोदरहर द्रव्य, कफरोगहर द्रव्य, कफवृद्धिहर द्रव्य, कफोदरहर द्रव्य, प्रतिश्यायहर द्रव्य, शोषहर द्रव्य, क्षयहर द्रव्य, रक्ताल्पताहर द्रव्य, वार्धक्यहर द्रव्य, श्रम (थकावट) हर द्रव्य, पादपीडाहर द्रव्य, अङ्गमर्दहर द्रव्य, स्वेदहर द्रव्य, दुर्गन्धहर द्रव्य, बस्ति रोगहर द्रव्य, वृषणशूलहर द्रव्य, अश्मरी (पथरी) हर द्रव्य, मूत्रकृच्छ्रहर द्रव्य, मूत्राघातहर द्रव्य,

मूत्रशोधक द्रव्य, मूत्ररोगहर द्रव्य, बहुमूत्रहर द्रव्य, गुदारोगहर द्रव्य, गुदांकुरहर द्रव्य, बद्धगुदोदरहर द्रव्य, गुदकीलहर द्रव्य, गर्भाशय शोधक द्रव्य, योनिदोषहर द्रव्य, श्वेतप्रदरहर द्रव्य, गर्भपातन द्रव्य, धातुदोषहर द्रव्य, प्रमेहहर द्रव्य, मधुमेहहर द्रव्य, बहुमूत्रहर द्रव्य, शीघ्रपतनहर=स्तम्भक द्रव्य, फिरङ्गरोगहर द्रव्य, सिद्धमहर द्रव्य, विसर्पहर द्रव्य, व्यङ्गरोगहर द्रव्य, हृल्लासहर द्रव्य, ब्रध्नहर द्रव्य, उरःक्षतहर द्रव्य, हृदयरोगहर द्रव्य, नेत्ररोगहर द्रव्य, नेत्रशूल–(अभिघात) हर द्रव्य, नासिकारोगहर द्रव्य, कर्णरोगहर द्रव्य, बाधिर्यहर द्रव्य, पीनसरोगहर द्रव्य, मुखरोगहर द्रव्य, मुखदुर्गन्धिहर द्रव्य, दन्त्य रोगहर द्रव्य, शिरोरोगहर द्रव्य, कण्ठरोगहर द्रव्य, वैस्वर्यहर द्रव्य, जीर्णरोगहर द्रव्य, सर्वरोगहर द्रव्य, तन्द्राहर द्रव्य, अपस्मारहर द्रव्य, मूर्च्छाहर द्रव्य, मदात्ययहर द्रव्य, मदहर द्रव्य, उन्मादहर द्रव्य, भ्रम (चक्कर) हर द्रव्य, मानसरोगहर द्रव्य, रक्त दोषहर द्रव्य, विषदोषहर द्रव्य, सर्प विषहर द्रव्य, मूर्च्छाहर द्रव्य, मदात्ययहर द्रव्य, भग्नसन्धानकर द्रव्य, अस्थिसंहारक द्रव्य, क्षतरोगहर द्रव्य, व्रणहर द्रव्य, विषव्रणहर द्रव्य, चर्मरोगहर द्रव्य, पामाहर द्रव्य, विवर्णहर द्रव्य, दद्रुहर द्रव्य, विपादिकाहर द्रव्य, श्लीपदहर द्रव्य, गण्डमालाहर द्रव्य, गलगण्डहर द्रव्य, मोटापाहर द्रव्य, बुद्धिदौर्बल्यहर द्रव्य, वाग्दोषहर द्रव्य।

महर्षिचरक के अनुसार बृंहण–द्रव्य, (कृशताहर) द्रव्य, कण्ठ्यद्रव्य=कण्ठरोग हर द्रव्य, हृद्य द्रव्य, अरुचिहर द्रव्य, अर्शहर द्रव्य, कुष्ठहर द्रव्य, पामाहर द्रव्य, कृमिहर द्रव्य, विशिष्ट रोगहर द्रव्य, स्तन्य=दुग्धवर्धकद्रव्य, स्तन्यशोधक द्रव्य, वमनहर द्रव्य, तृषाहर द्रव्य, हिक्काहर द्रव्य, ग्राही द्रव्य, रंजक पित्तविकारहर द्रव्य, मूत्र संग्रहणीय द्रव्य, मूत्रशोधक द्रव्य, मूत्रविरेचनीय द्रव्य, श्वासहर द्रव्य, कासहर द्रव्य, शोथहर द्रव्य, ज्वरहर द्रव्य, श्रमहर द्रव्य, दाहहर द्रव्य, शीतहर द्रव्य उदर्द(लालचकत्ते) हर द्रव्य, अङ्गमर्दहर द्रव्य, शूलहर द्रव्य, रक्तप्रवाहहर द्रव्य, मूत्र संग्रहणीय द्रव्य, मूत्रशोधक द्रव्य, मूत्रविरेचनीय द्रव्य, रक्तप्रवाहहर द्रव्य, पीडाहर द्रव्य, शुक्रवर्धक द्रव्य, शुक्रशोधक द्रव्य, आस्थापन बस्तियोग्य द्रव्य, वमनकारी द्रव्य, विरेचनकारी द्रव्य, विषहर द्रव्य, आस्थापन बस्तियोग्य द्रव्य, अनुवासनीय द्रव्य, लेखनीय द्रव्य (मोटापाहर द्रव्य), भेदनीय द्रव्य, विबन्धहर द्रव्य, चोट ठीक करने वाले द्रव्य, अग्निदीपनकर द्रव्य, बलकर द्रव्य, सौन्दर्यकर द्रव्य।

संक्षिप्त विषय सूची

नवम अध्याय

पृष्ठ सं.

दशम अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

नवम अध्याय

वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा

वैदिक वाङ्मय में प्राकृतिक चिकित्सा

जिस प्रकार औषध–विज्ञान (मेडिकल साइंस) शब्द ही यह सूचित करता है कि यह विज्ञान औषध केन्द्रित है। इसमें किसी औषध द्रव्य के गुण–धर्म और उपयोग का अध्ययन किया जाता है और उपयोगिता के अध्ययन के क्रम में मनुष्य के भी कष्ट–निवारण के प्रसंग में उसकी उपयोगिता देखी जाती है; उसी प्रकार चिकित्सा शास्त्र, जिसे चिकित्सा–विज्ञान भी कह सकते हैं, शब्द भी सूचित करता है कि यह विज्ञान रोग केन्द्रित है जिसमें रोग, उसके स्वरूप, उसके कारण, उसके पूर्वरूप, उसकी सम्प्राप्ति, उसका उपशम अर्थात् शमन का क्रम तथा रोग शमन के उपाय आदि का अध्ययन किया जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में ये दोनों विज्ञान आयुर्वेद, जिसे आधुनिक शैली में आयुर्विज्ञान कह सकते हैं, के अंग रहे हैं। आयुर्वेद को प्राचीन परम्परा में उपवेद कहा जाता है। उपवेद शब्द ही हमें यह सूचित करता है कि यह विज्ञान किसी वेद विशेष के कथ्य अथवा प्रधान कथ्य का विस्तार है। भारतीय परम्परा आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानती है। इसी कारण आयुर्वेद के लिए प्राचीन काल में आथर्वण शब्द का भी प्रयोग होता रहा है।

वेदों का अथवा वैदिक साहित्य का अध्ययन न करने के कारण अथवा वैदिक साहित्य की विषय वस्तु का ज्ञान न होने के कारण, विदेशियों को ही नहीं अपितु पाश्चात्य संस्कृति में पले भारतीय लोगों को भी एक भ्रम ने ग्रस रखा है कि वेद धर्म–ग्रन्थ हैं, जिस में यज्ञ याग का, दूसरे शब्दों में देवी–देवताओं को प्रसन्न कर के उनकी कृपाप्राप्ति के लिए पूजा–पाठ रूपी कर्मकाण्ड का वर्णन है अथवा कर्मकाण्ड के उपयोगी मन्त्रों का संकलन मात्र है। उनका यह भ्रम सर्वथा मिथ्या भ्रम है, मिथ्या धारणा है। वास्तविकता यह है कि वेदों में मानव जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक सभी विषयों का यथावत् वर्णन हुआ है, इसी कारण मनु ने स्पष्ट कहा है–**'सर्वज्ञानमयो हि सः।'** (मनुस्मृति २।७)। इतना अवश्य है कि किन्हीं भी विषयों का विशेष विस्तार खोज पाना वहाँ कठिन हो सकता है। अथर्ववेद में तो उसके अनेक सूक्त आयुर्विज्ञान से सम्बन्धित हैं। उन सूक्तों में कहीं रोग–निवारण के लिए भेषज द्रव्यों का उल्लेख है, तो कहीं सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि को आरोग्य का रक्षक अथवा आरोग्य के दाता के रूप में वर्णित किया गया है। कहीं कुछ यज्ञ आदि उपायों का संकेत भी किया गया है। सामान्यतः संहिता भाग को वेद कहा जाता है, जिसके व्याख्यान रूप अथवा विषय विशेष के विस्तार रूप ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद् आदि हैं। उनमें भी आयुर्विज्ञान सामग्री का यथावसर विवरण निबद्ध मिलता है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों के विस्तारभूत मन्त्र ब्राह्मण आदि ग्रन्थ जो वैदिक साहित्य के अंग हैं, में भी आयुर्विज्ञान से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। वह सभी सामग्री प्राकृतिक चिकित्सा से सम्बन्धित है।

इस प्रसंग में पुनः यह स्मरण कर लेना उचित होगा कि प्राकृतिक चिकित्सा, जैसा कि आजकल प्रायः माना जाता है, केवल मिट्टी, पानी, मालिश और वस्ति (एनिमा) पर आश्रित चिकित्सा नहीं है, न ही यह (प्राकृतिक चिकित्सा) वैकल्पिक चिकित्सा है कि और कुछ उपाय सुलभ न होने पर उनका उपयोग कर लिया जाये, अपितु प्राकृतिक चिकित्सा, जिसे प्राकृतिक जीवन–पद्धति कहना अधिक उपयुक्त होगा, एक ऐसी सर्वाङ्ग पूर्ण जीवन–पद्धति है, जिसमें स्वास्थ्य की सम्पूर्णतया सुरक्षा तथा अस्वास्थ्य की स्थिति में सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के उपायों का समावेश है।

वेदों में आरोग्य के साधन

वेदों में सम्पूर्ण इन्द्रियों के पूर्ण स्वास्थ्य के साथ समग्र भाव से अदीन अर्थात् सभी दृष्टि से स्वावलम्बी (परमुखापेक्षी नहीं) सौ वर्ष के जीवन की कामना की गयी है और इसके लिए उदय होते हुए सूर्य की किरणों का शरीर से सम्पर्क उपाय के रूप में माना गया है।[१] इतना ही नहीं एक अन्य स्थल पर तिगुनी अर्थात् तीन सौ वर्ष की आयु की कामना और उसके लिए यज्ञ, भेषज द्रव्यों का प्रयोग और दिव्य जीवन अर्थात् प्रशस्त सात्त्विक जीवन को उपाय के रूप में स्वीकार किया है।[२] वैदिक ऋषि यह मानते थे कि सब को पवित्र करता हुआ वायु, तपता हुआ सूर्य, मेघ और उनसे बरसने वाला जल मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अतिशय कल्याणकारी है।[३] अथर्ववेद के एक मन्त्र में एक सहस्र वर्ष तक क्रियाशील रहते हुए, जीने की कामना की गयी है।[४] दीर्घ आयुष्य के लिए वैदिक ऋषि हिरण्य (सुवर्ण) का आन्तर या बाह्य प्रयोग[५] और जङ्गिण मणि को धारण करने को एक सरल उपाय मानते रहे हैं।[६] वैदिक ऋषि मन्त्र अर्थात् संकल्प शक्ति को भी रोग निवृत्ति और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का उपाय मानते थे।[७]

---

१. यजुर्वेद ३६।२४
२. यजुर्वेद ३।६२
३. यजुर्वेद ३६।१०
४. अथर्ववेद १७।१।२७
५. अथर्ववेद १।३५।१
६. अथर्ववेद २।४।१
७. अथर्ववेद ८।२।२४

अथर्ववेद में इस प्रकार के एकाधिक सूक्त हैं। इस वेद के नवम काण्ड के आठवें सूक्त में शिरो रोग, कर्ण रोग, अंग विशेष की अतिशय पीड़ा (अंगभेद) अंगज्वर आदि शरीर के विविध रोगों को दूर करने की चर्चा हुई है।[१] यहीं निम्नलिखित मन्त्र में शिर, कपाल और हृदय के रोगों तथा अङ्गभेद की चिकित्सा के लिए उदय होते हुए सूर्य की किरणों का प्रयोग करने को कहा गया है—

'सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः।।[२]

अर्थात् तेरे शिर के कपालभाग और हृदय की जो व्याधि है, उगता हुआ सूर्य अपनी किरणों से शिर के रोगों को नष्ट करता है और अंग भेद (अंगों को पीड़ा देने वाले रोगों) का शमन करता है। आरोग्य की रक्षा और खोये हुए आरोग्य को पुनः प्राप्त करने के लिए वैदिक ऋषि स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम तथा दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियमों का भली प्रकार ज्ञान आवश्यक समझते थे। उनका मानना था कि इन नियमों को जानने और मानने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य क्या उसके द्वारा पाले गये पशु आदि की भी कभी असमय मृत्यु नहीं होती। वे सभी दीर्घजीवी होते हैं। क्योंकि ज्ञान की सुरक्षा—परिधि बन जाने पर उस परिधि में जीवन के विरोधी का प्रवेश ही नहीं हो पाता।[३]

आरोग्य की रक्षा और खोये हुए आरोग्य को पुनः प्राप्त करने के लिए वैदिक ऋषि प्रकृति प्रदत्त भेषज रूप उपादानों का भी प्रयोग करते थे।[४]

इस प्रकार वेदों में उपलब्ध आरोग्य—रक्षक और आरोग्य—दायक उपायों के विवरण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रकृति के अनन्त रूप हैं, उसी प्रकार आरोग्य की रक्षा और आरोग्य प्राप्ति के अनन्त प्राकृतिक उपाय हैं, जिन्हें वैदिक ऋषि व्यवहार में लाते थे। इन उपायों को उन्होंने चार वर्गों में विभाजित कर रखा था। आथर्वण आङ्गिरस, दैव और मनुष्यज। इनका व्यवहार करते हुए वे प्राणों की रक्षा करते थे—प्राण—शक्ति को सबल बनाते थे।[५] मन्त्र (संकल्प) यज्ञ सूर्य आदि का और भेषज के नाम से जाने जाने वाले प्राकृतिक द्रव्य आदि सबका समावेश इन चार वर्गों में ही हो जाता है।

जीवनीय विद्या

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है आयुर्विज्ञान का उद्देश्य समस्त इन्द्रियों

---

१. अथर्ववेद ६।८।१–२१

२. अथर्ववेद ६।८।२२

३. अथर्ववेद ८।२।२५

४. (क) अथर्ववेद ८।१।१७ (ख) अथर्ववेद ८।२।२८ (ग) गोपथ ब्राह्मण १।३।४

५. अथर्ववेद ११।४।१६

और अंगप्रत्यंगों की सम्पूर्ण क्रियाशीलता से प्राप्त अदीनता युक्त दीर्घ जीवन रहा है। इसके लिए वैदिक ऋषि एवं प्राचीन आचार्य जीवनीय विद्या को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। जीवनीय विद्या में आचार विचार के प्रशस्त स्वरूप का ज्ञान और जीवन में उसका व्यवहार रहा है। किसी भी विद्या की पूर्णता उसके व्यवहार में होती है। कहा भी है—**चतुर्भिः प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्याय-कालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।**[1] अर्थात् अध्ययन या गुरु उपदेश, चिन्तन—मनन, परिचर्चा एवं आचरण में उसका उतरना, इन चार उपायों से विद्या पूर्णता को प्राप्त करती है। इसीलिए समुचित आचार विचार का जीवन में पूर्णतया अवतरण, जीवनचर्या पर उसका सुस्पष्ट प्रभाव, ये सभी जीवनीय विद्या में सम्मिलित समझने चाहिए। जीवनीय विद्या की दीर्घायुष्य के उपायों में अनिवार्यता के कारण ही दीर्घायुष्य सूक्त में अथर्ववेद के ऋषि कहते हैं—

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः।।५।।
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवे स्मा अरिष्टतातये।।६।।
अधिब्रूहि मा रभथा सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः।।७।।
अस्मै मृत्यो अधिब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम्।।८।।[2]

अर्थात्—"यह मनुष्य दीर्घजीवी हो शीघ्र न मरे, ऐसी शक्ति का संचार हो। इसलिए औषध आदि द्रव्यों का प्रयोग बताया जाता है, क्योंकि हम चाहते हैं (हमारी कामना है) कि इसकी मृत्यु न हो। इसके दीर्घजीवन के लिए जीवन्ती आदि औषधियां (द्रव्य) विद्यमान हैं, जो आयुष्य को बढ़ाने वाली, बल देने वाली, दोषों और रोगों को दूर करने वाली हैं।" वैदिक ऋषि आगे कहता है—'इस दीर्घ जीवन के उपाय जीवनीय विद्या का उपदेश सब को करो, जिससे कोई ऐसा आचरण न करे, जो आयुष्य के क्षय का कारण हो। दीर्घजीवन के रहस्य को जानकर सभी जन रोग दोष से रहित होकर जगत् में विचरें और लम्बी आयु तक जीवित रहें। इन का शरीर सुखमय रहे, रोग और दोष इनसे दूर रहें और ये पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करें।' वह पुनः मृत्युञ्जयी विद्या के अधिष्ठाता से कहता है— इसे आरोग्य—प्राप्ति का उपदेश दो। मृत्यु इस समय इस पर दया करे अर्थात् इसकी आयु को न हर सके। यह नीरोग होकर सब प्रकार से अभ्युदय को प्राप्त हो, इसके सभी अंग—प्रत्यंग पूर्ण रीति से बढ़ें, निर्दोष रहें। इस दीर्घजीवी विद्या को प्राप्त कर यह पूर्ण आयुष्य वाला हो और जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने

---

१. महाभाष्य
२. अथर्ववेद ८।२।५-८

प्रयत्न से अर्थात् क्रियाशील और स्वावलम्बी अतएव अदीन होकर सुखी जीवन जिये।"

जीवनीय विद्या और ब्रह्मचर्य

वैदिक ऋषि द्वारा संकेतित जीवनीय विद्या के उपदेश की कामना से विषय–भोगों से दूर रहने का निर्देशक **'अधिब्रूहि मा रमथा'** वाक्य आया है, जिसका तात्पर्य है कि अधिकार पूर्वक यह उपदेश (आदेश) करो कि यह रमण न करे। सांसारिक भोगों के फेर में न पड़े, यह वाक्य स्पष्ट संकेत करता है कि इन्द्रियों की विषयों के भोगों के प्रति आसक्ति और प्रवृत्ति, रोग और मृत्यु का कारण है। इस तथ्य को आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य महर्षि चरक आदि ने भी अविकल रूप से स्वीकार किया है। महर्षि चरक ने आयुष्कर उपायों में ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठतम उपाय स्वीकार किया है।[१]

आचार्य वाग्भट कुछ विस्तार के साथ दूसरे रूप से कहते हैं कि 'जो व्यक्ति सत्यवादी है, क्रोध रहित है, जिसकी इन्द्रियाँ आत्मचिन्तन में लगी हैं, जो स्वभाव से शान्त है जिसका आचरण उत्तम है वह मानो नित्य रसायन का सेवन कर रहा है।[२] सद्वृत्त में वे ब्रह्मचर्य पर सर्वाधिक बल देते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए उनका कहना है कि ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल है। इसके आचरण से मनुष्य यशस्वी होता है। उसको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य इहलोक और परलोक दोनों लोकों के लिए रसायन सदृश है। वृत्त की दृष्टि से ब्रह्मचर्य सम्पूर्णतया निर्मल वृत्त है।[३] शास्त्रों के निर्देश के अनुसार आचरण को तो वे परिपूर्ण रसायन मानते हैं।[४] ब्रह्मचर्य से मृत्यु को सरलतापूर्वक जीता जा सकता है।[५]

ब्रह्मज्ञान आरोग्य का मुख्य उपाय

ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को आरोग्य का रक्षक और साधक इसलिए माना जाता है कि शरीर में जब कभी किसी रोग की उत्पत्ति होती है तो उसका कारण धातुवैषम्य है। अर्थात् वात, पित्त, कफ का शरीर में जन्मतः जो अनुपात होता है वह शरीर की प्रकृति कहाती है, आहार–विहार की अव्यवस्था आदि के कारण अथवा मलमूत्र आदि के वेगों को रोकने, विषम आहार–विहार आदि करने के कारण शरीर की उस प्रकृति अर्थात् वात, पित्त, कफ, रक्त आदि धातुओं के अनुपात में विषमता आ जाना ही रोग का कारण होता है।[६]

जो व्यक्ति शरीर की प्रकृति को और प्रकृति के आधारभूत धातुओं में विषमता

---

१. चरक सू० २५।८०
२. अ० हृदय उत्तर ३६।१७६
३. अ० हृदय उत्तर ४०।४
४. अ० हृदय उत्तर ३६।१८१
५. अथर्ववेद ११।५।१६
६. अ० हृदय सू० १।२०

के उत्पन्न होने के कारणों को जानता है और उनसे बचा रहता है, विषमता को जानने की योग्यता रखता है तथा विषमता को दूर करने के उपाय जानता है, वह धातुओं में विषमता का आरम्भ होते ही उनको साम्य अवस्था (प्रकृति) में लाने का प्रयत्न करके अपने आरोग्य को सुरक्षित रख सकता है। वैद्य अर्थात् एतद्विषयक ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति आतुर की बहुविध परीक्षा करके सर्वप्रथम विषमता के स्वरूप को पहचानता है फिर इस धातु वैषम्य के कारणों को खोज कर उन्हें दूर करता है।[१] उसके बाद धातु–वैषम्य को दूर करने का उपाय करता है। यही चिकित्सक का कार्य है और इसी को चिकित्सा कहते हैं।[२] इस ज्ञान के कारण ही चिकित्सक को वैद्य अर्थात् जानने वाला कहते हैं।

पञ्चदेव

अथर्ववेद के एक सूक्त में पांच देवताओं को आरोग्य का रक्षक और आरोग्य का दाता बताया गया है।[३] ये पांच देवता हैं–पर्जन्य, मित्र अर्थात् शुद्ध वायु, जल का अधिष्ठातृ देवता वरुण, औषधियों में अमृतत्व का आधान करने वाला उनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्र तथा सबका जीवनदाता सूर्य। इन पांचों की विविध शक्तियाँ हमारे जीवन के लिए सहायक हो रही हैं इसलिए ये पांचों हमारे संरक्षक हैं तथा स्वास्थ्य के संरक्षक होने के कारण ही ये पितृस्थानीय हैं। इसी कारण इन मन्त्रों में इन्हें पिता शब्द से अभिहित किया गया है। इनसे आरोग्य की रक्षा करने अथवा आरोग्य लाभ करने के कुछ संकेत निम्नांकित हैं–

पर्जन्य से आरोग्य–पर्जन्य का शुद्ध जल जो स्वाति आदि नक्षत्रों में प्राप्त किया जाता है अतिशय आरोग्य रक्षक एवम् आरोग्यप्रद है। पूर्ण उपवास के दिनों में यदि पर्जन्य से प्राप्त जल को पिया जाये तो शरीर के सम्पूर्ण विकार दूर होते हैं और पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति होती है। वृष्टि जल से स्नान करने से सूखी खुजली आदि चर्म रोगों का निवारण होता है। अन्तरिक्ष में शुद्ध प्राणों का भण्डार है, वह वृष्टि के जल बिन्दुओं के साथ भूमि पर आता है उससे सभी वनस्पतियाँ समृद्ध होती हैं, सभी प्राणी आरोग्य और शान्ति प्राप्त करते हैं।

आयुर्वेद के प्रतिष्ठित आचार्य भावमिश्र के अनुसार–पर्जन्य से भूमि पर पड़े बिना प्राप्त किया गया जल त्रिदोषनाशक, सुपाच्य, सौम्य, रसायन, बल और तृप्ति देने वाला, जीवन को आनन्दित करने वाला, पाचनशक्ति और बुद्धि को बढ़ाने वाला तथा मूर्च्छा, तन्द्रा, दाह, श्रम, क्लम और तृषा आदि रोगों को दूर करता है।[४]

मित्र अर्थात् शुद्ध वायु से आरोग्य–प्राणवायु ही हमारे जीवन का मुख्य

---

१. चरक सू० १६।३५–३६
२. चरक सू० १६।३४, ३७
३. अथर्ववेद १।३।१–५
४. भाव प्रकाश नि० ११।८–६

आधार है। प्राणवायु से ही शरीर में ओषजन (ऑक्सीजन) प्राप्त होता है, जिससे शरीर के अन्तर्गत अग्नितत्त्व प्रज्वलित रहता है, शरीर में अपेक्षित ताप सुरक्षित रहता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञानविद् भी किसी रोगी की विषम (संकटपूर्ण) स्थिति होने पर कृत्रिम उपायों से ऑक्सीजन देने का प्रयत्न करते हैं। योग साधना की परम्परा में इसी कारण प्राणायाम को अनेक रोगों को दूर करने वाला बताया गया है। योगी स्वात्माराम के अनुसार एक विशेष प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करके योगी जरा (वृद्धावस्था) से छूटकर सोलह वर्ष के नवयुवक के सदृश हो जाता है।[१] इसी प्रकार सूर्यभेदन प्राणायाम के द्वारा वातरोग, कृमिदोष आदि का निवारण होता है, कपाल का शोधन होने से शिरस्थानीय रोग भी दूर होते हैं।[२] उज्जायी प्राणायाम से कफ विकार से उत्पन्न रोग, कण्ठ के रोग, नाड़ी विकार जलोदर और धातुविकार दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है।[३] शीतली प्राणायाम से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, तृषा, क्षुधा अर्थात् तीक्ष्णाग्नि होने से उत्पन्न भस्मक रोग तथा सभी प्रकार के पित्त विकारजन्य रोग दूर होते हैं [४] तथा भस्त्रिका प्राणायाम त्रिदोषहर होता है।[५]

ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में इस पूर्वोक्त (मित्र) प्राणवायु को आयु कहा गया है[६] क्योंकि जब तक शरीर में प्राणवायु का संचार रहता है, तब तक ही कोई प्राणी जीवित रहता है। एक अन्य स्थान पर शतपथ ब्राह्मण में इस प्राण को भुजा अर्थात् समस्त क्रियाकलाप को सम्पन्न करने वाला कहा गया है।[६]

वरुण देव शुद्ध जल से आरोग्य—वरुण को सामान्यतया जल के अथाह भण्डार महोदधि (समुद्र) का देवता माना जाता है, इस दृष्टि से समुद्र जल पर विचार करें तो कहना उचित होगा कि समुद्र के खारे पानी में स्नान से सम्पूर्ण चर्मरोग दूर होते हैं, रक्तसंचार सुचारु रूप से होता है। पाचनशक्ति बढ़ती है, इस प्रकार अनेक रूप से वह आरोग्य प्रदान करता है। वरुण का सम्बन्ध केवल महोदधि से ही नहीं है, वह सामान्य जल और जलाशय का भी देवता है। सरोवर नदी और कूप आदि का जल भी स्नान करने और तैरने से अनेक रोगों का निवारण करता है। पीने के कार्य में आकर तो वह अमृतमय होता ही है। इसी कारण आश्वलायन गृह्यसूत्र में जल को अमृत का बिछौना और ओढ़ना कहा गया है।[७] यजुर्वेद के एक मन्त्र में जल को मनोकामना को पूर्ण करने वाला अर्थात् समस्त रोगों को दूर करके सर्वविध सुख देने वाला पालन करने वाला और कल्याण की वर्षा करने वाला कहा गया है।[८] वरुण देव से अधिष्ठित जल से रोग

---

१. हठ योग प्र० २।४७
२. हठ योग प्र० २।५०
३. हठ योग प्र० २।५२—५३
४. हठ योग प्र० २।५८
५. हठ योग प्र० २।६५—६७
६. (क) ऐतरेय २।३८ (ख) शतपथ ५।२।४।१०, शतपथ ८।४।१।८
७. आश्वलायन १।२४।१२,२१
८. यजुर्वेद ३६।१२

निवारण की चर्चा इसी अध्याय में आगे की गयी है।

चन्द्रदेव से आरोग्य–चन्द्रमा औषधियों का राजा है।[१] इसका ही दूसरा नाम सोम है।[२] औषधियों में अमृत अर्थात् रोग निवारक क्षमता चन्द्रमा की किरणों से ही आती है; इस कारण इसे औषधियों का स्वामी कहा जाता है।[३] चन्द्रमा में विद्यमान आरोग्य की सुरक्षा और आरोग्यदायकता को आधार मानकर ही ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे प्रजापति[४], धाता, विधाता[५] और प्राण[६] आदि विशेषणों अथवा नामों से भी स्मरण किया गया है। 'चन्द्र किरणों से अमृत की वर्षा शरत्काल में मुख्यतः शरत् पूर्णिमा को होती है।' प्राचीन काल से चला आ रहा यह विश्वास आज भी लोगों में विद्यमान है, जिसके कारण शरद्पूर्णिमा की सायंकाल खीर बनाकर चांदनी में रखने और प्रातःकाल उसे अमृत सिक्त मानकर खाने की परम्परा चिरकाल से चली आ रही है।

सूर्यदेव से आरोग्य–सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से अन्धकार के साथ ही अस्वास्थ्यकर कीटाणुओं का नाश करके हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करता है। सूर्य सम्पूर्ण चराचर जगत् में जीवन का संचार करता है। इसी कारण उसे चराचर विश्व का आत्मा[७], प्रजाओं का प्राण[८] आदि विशेषताओं से विशेषित किया जाता है। उदयकालीन किरणों की तो स्वास्थ्यप्रदता में कोई समानता ही नहीं है। इसी कारण वैदिक ऋषियों ने जीवन, इन्द्रियों की स्वस्थता और सबलता, अदीनता अर्थात् स्वावलम्बी बने रहने की क्षमता एवं शतायुष्य ही नहीं, उससे भी अधिक काल तक जीने की कामना सूर्यदेव से ही की है।[९] निर्वस्त्र शरीर से सूर्य किरणों का स्नान करने से आरोग्य प्राप्त होता है। यही कारण है कि वस्त्रधारण करने वालों की अपेक्षा निर्वस्त्र रहने वाले मनुष्य अधिक स्वस्थ और सबल होते हैं।

महर्षि चरक ने रोगों का विभाजन तीन वर्गों में किया है **निज, आगन्तुज और मानस। निज रोग** वे कहलाते हैं जो शरीर के मूल तत्त्व वात, पित्त, कफ में विकार

---

१. (क) तैत्तिरीय ३।६।१७।१ कौषीतकी ४।१२ (ख) गोपथ ब्रा० उ० १।१७ (ग) ऐतरेय ब्रा० ३।४०

२. शतपथ ब्रा० २।२।३।२३, ७।५।२।१६ (ख) कौषीतकी १६।५, तैत्तिरीय १।४।१०।७, शतपथ १२।१।१।२, (ग) शतपथ ६।५।१।१ (घ) शतपथ १०।४।२।१, (ङ.) कौषीतकी ४।४, (च) ऐतरेय ब्रा० ७।११

३. मन्त्र ब्राह्मण २।८।३।४,

४. (क) शतपथ ६।१।३।१६ (ख) शतपथ ६।२।२।१६

५. (क) षड्विंश ब्रा० ४।६ (ख) गोपथ उ० १।१०

६. जैमिनीय ब्रा० ४।२२।११

७. यजुर्वेद १३।४६

८. प्रश्न उपनिषद् १।८

९. यजुर्वेद ३६।२४

आने अथवा विषमता आने के कारण उत्पन्न होते हैं। **आगन्तुज रोग**—भूत, विष, वायु,

अग्नि अथवा प्रहार आघात आदि के कारण उत्पन्न होते हैं। **मानस रोग**—अभीष्ट के प्राप्त न होने और अनिष्ट के उपस्थित होने के कारण उत्पन्न होते हैं। उनके अनुसार मानस व्याधि होने पर भी बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह बुद्धिपूर्वक हित और अहित का बारम्बार चिन्तन करके धर्म, अर्थ, काम में जब जो अहित हो उसका सेवन न करने एवं जो हित हो उसका सेवन करने में प्रवृत्त रहे। संसार में धर्म, अर्थ और काम के इन तीन के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ करता अर्थात् लोक में जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं वे या तो धर्म से प्रेरित होंगी अथवा अर्थ या काम से प्रेरित। इनके कारण ही मनुष्य अथवा प्राणी को सुख अथवा दुःख होता है। इसलिए जो आपाततः सुखदायक हो, हितकर हो उस क्रिया को ही सम्पन्न करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं को देश, काल, कुल (वंश), बल और अपनी शक्ति को जानने का निरन्तर प्रयत्न करे और उसके अनुसार ही व्यवहार करे तथा जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम को हित अहित आदि को जानने समझने वाले हैं, उनके सम्पर्क में निरन्तर रहने का प्रयत्न करे। मानसिक रोगों से बचने का, उनसे छूटने का केवल एक ही उपाय है कि त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के रहस्य को समझा जाए, जो व्यक्ति धर्म आदि के रहस्य को जानते समझते हैं, उनकी सेवा की जाये तथा आत्मा आदि तत्त्वों का सम्पूर्णतया ज्ञान प्राप्त किया जाए।[1]

आहार से स्वास्थ्य—वैदिक ऋषियों ने स्वास्थ्य (आरोग्य) की रक्षा के लिए समुचित आहार को प्राथमिकता दी है। उनका कहना है कि जो कुछ भी तुम आहार ग्रहण करते हो, उसमें कृषि से प्राप्त धान्य आदि और दूध आदि पेय है, वह विषरहित होना चाहिए, अर्थात् जो आहार तुम लो, वह विषमय अर्थात् हानिकर तो नहीं है, इस का विचार कर लो।[2] सामान्यतः आहार में जो खाद्य या पेय द्रव्य लिये जाते हैं, उन्हें सर्वप्रथम उनके उत्पत्ति क्रम को विचार करके दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वह जो जोतने बोने से उत्पन्न होता है। दूसरा वह है जिसमें जोतने बोने की आवश्यकता नहीं होती।[3] इनमें किसी के फूलों का उपयोग किया जाता है, किसी के फल का और किसी के मूल का उपयोग होता है।[4] यद्यपि वनस्पतियों की समृद्धि पुष्पों और फलों से ही मानी जाती है।[5] जिन औषधियों में पुष्प और फल दोनों का उपयोग किया जाता है उनमें भी फल का उपयोग अधिक प्रशस्त होता है, क्योंकि जिस प्रकार जल से औषधियाँ तैयार होती हैं मानो वे जल की रस हैं, उसी प्रकार औषधियों के रस पुष्प होते हैं और पुष्पों के भी रस फल होते हैं।[6]

१. चरक सूत्र ११।४५–४७
२. अथर्व ८।२।१९
३. ताण्ड्य ब्रा० ६।९।९
४. तैत्तिरीय ब्रा० ३।८।१७।४
५. शतपथ ब्रा० ६।४।४।१७
६. शतपथ १४।९।४।१

विविध औषध वनस्पतियों में महाव्रीहियाँ, साम्राज्य अर्थात् प्रमुख के रूप में हैं। यव अर्थात् जौ उनमें भी प्रधान सेनापति के समान हैं। अतएव उसे सर्वप्रधान दूसरे शब्दों में सर्वाधिक हितकारी माना जाता है।[1] वैदिक ऋषियों का मानना है कि शालि और यव रोग प्रतिरोधक हैं और इनके प्रयोग से रोग दूर भी होते हैं। ये कफकारक अर्थात् मोटापा को बढ़ाने वाले भी नहीं हैं, साथ ही अन्य अन्नों की अपेक्षा खाने में स्वादिष्ट भी होते हैं।[2] व्रीहि और यव कृष्टपच्या औषधियाँ हैं अर्थात् इनको पैदा करने के लिए खेतों की जुताई की जाती है, जिसमें हिंसा की भी सम्भावना रहती है। इस कारण दिव्य भावनाओं से भरे हुए मुनिजन आदि, जिन्हें देव कहा जा सकता है, उनका प्रिय अन्न नीवार है। इनके उत्पादन में न किसी प्रकार हिंसा की सम्भावना है, न किसी को श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार मानो परब्रह्म ही इनकी खेती करता है।[3]

आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य भावमिश्र के अनुसार लाल धान आदि शालि कहलाते हैं और साठी वार्षिक कृष्णव्रीहि, पाटल कुक्कुटाण्ड, शालामुखी और जन्तुमुख नामक धान (चावल) व्रीहि कहलाते हैं।[4] इनमें साठी सर्वश्रेष्ठ होता है।[5] साठी धान की बाली पत्तियों से बाहर नहीं आती अन्दर ही रहती है और धान पक जाता है। यही साठी धान की पहचान है। शतपुष्प, प्रमोदक, मुकुन्दक, महाषष्ठिक इत्यादि धानों को भी षष्ठिक अर्थात् साठी ही माना जाता है। व्रीहि का लक्षण संगत होने से इन सभी को व्रीहि ही कहा जाता है।[6]

साठी के चावल मधुर शीतल सुपाच्य मल को बांधने वाले होते हैं। शालिधान के सब गुण तो इसमें होते ही हैं। साथ ही ये स्निग्ध और त्रिदोषनाशक, बलदायक, ज्वर को दूर करने वाले होते हैं।[7] स्मरणीय है कि शालिधान से प्राप्त चावल को उन्होंने मधुर, स्निग्ध, बल कारक, मल को बांधने वाला, सुपाच्य, रुचिकर, स्वर को शुद्ध करने वाला, वृष्य और बृंहण अर्थात् वीर्य और पौरुष को बढ़ाने वाला, शरीर की वृद्धि और पुष्टि करने वाला माना है। शालि का चावल अल्प मात्रा में वात कफ को बढ़ाने वाला और पित्तनाशक होता है।[8]

---

१. ऐतरेय ब्रा० ८।११,१६

२. अथर्ववेद ८।२।१८

३. (क) तैत्तिरीय ब्रा० १।३।६।८ (ख) शतपथ ५।१।४।१४, ५।३।३।५

४. भाव प्र० निघण्टु ६।२,१७

५. भाव प्र० निघण्टु ६।२५

६. भाव प्र० निघण्टु ६।२२–२४

७. भाव प्र० निघण्टु ६।२४–२६

८. भाव प्र० निघण्टु ६।७–८

यव (जौ) व्रीहि की अपेक्षा भी अधिक गुणकारी हैं। यह मधुर, शीतल, मोटापा को

दूर करने वाला, बुद्धि को बढ़ाने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, स्वर को शुद्ध करने वाला, बलकारी, वर्ण को स्थिर बनाने वाला है। व्रण की चिकित्सा में यह तिल के समान गुणकारी है। इसके प्रयोग से कण्ठ और त्वचा के रोग, कफ और पित्त के विकार, मोटापा, पीनस, श्वास, कास, उरुस्तम्भ, रक्तदोष तथा तृषा आदि अनेक रोग दूर होते हैं।[1]

आहार ग्रहण करने की शैली

वैदिक ऋषियों ने आरोग्य को सुरक्षित बनाये रखने के लिए आहार ग्रहण करने का उद्देश्य और शैली आदि पर भी पर्याप्त विचार किया था और उसके नियम निर्धारित किये थे। उनका मानना है भोजन (आहार) ग्रहण करने का उद्देश्य, शक्ति (बल) प्राप्त करना होता है, जिह्वा सुख नहीं। भोजन करते समय उसे इतना चबाया जाये कि उसके अनन्त खण्ड हो जायें, उसका अपना पूर्व स्वरूप ही समाप्त हो जाये। चबाने के प्रसंग में अथर्ववेद के ऋषि ने उपमा दी है कि जिस प्रकार इन्द्र वज्र से वृत्र के स्कन्धों के टुकड़े टुकड़े कर डालता है, उसको छिन्न भिन्न कर डालता है, नामोनिशान मिटा डालता है, उसी प्रकार आहार को इतना चबा लेना चाहिए कि उसका पूर्व स्वरूप किसी अंश में शेष न रहे। जो भी पेय पदार्थ लिये जायें उन्हें इस प्रकार पिया जाये कि मुख में ही उसका मूल रूप बदल जाय और वह समुद्र में जल के समान आत्मसात् हो जाए। जो कुछ निगला जाये, उसका स्वरूप निगल लिया जाये अर्थात् पेय पदार्थ भी इस प्रकार धीरे–धीरे मुख में रख रखकर पिये जायें जिससे मुख में स्थित ग्रन्थियों द्वारा निकले हुए तरल द्रव (लालास्राव) से पेय पदार्थ का मूल स्वरूप मुख में ही बदल जाये।[2]

मलवेगों का निरोध अस्वास्थ्यकर

वैदिक ऋषियों का आरोग्य की दृष्टि से यह निर्देश रहा है कि मल–मूत्र आदि के वेगों को रोका न जाये उन्हें अविलम्ब शरीर से बाहर निकाल दिया जाये, क्योंकि इनके रोकने से शरीर में विविध प्रकार की व्याधियाँ होती हैं। अथर्ववेद में एक सूक्त के चार मन्त्रों में मूत्र वेग को कभी न रोकने, मूत्र को अविलम्ब बाहर निकालने के लिए निर्देश दिये हैं। वहाँ यह भी कहा गया है कि यदि इस नियम की अवहेलना के कारण मूत्र अवरोध हो गया है तो औषध द्रव्यों की सहायता से मूत्र मार्ग को खोल कर उसे (मूत्र को) बाहर निकाल देना चाहिए।[3] आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने भी अधारणीय वेगों को कभी न रोकने का स्पष्ट निर्देश किया है।[4] महर्षि चरक ने तो 'न वेगान् धारणीय' नाम से एक अध्याय ही निबद्ध किया है।[5]

---

१. भाव प्र० निघण्टु ६।२६–३१
२. अथर्ववेद ६।१३५।१–३
३. अथर्ववेद १।३।६–६
४. (क) अष्टांगहृदय सू० ३।१ (ख) चरक सू० ७।१–२
५. चरक सूत्रस्थान 'न वेगान्धारणीय' अध्याय सम्पूर्ण।

शरीर की संरचना पांच महाभूतों से हुई है। इनमें से वायु, अग्नि एवं जल को शरीरस्थ होने पर आयुर्विज्ञान के आचार्यों ने क्रमशः वात, पित्त और श्लेष्मा अथवा कफ नाम से अभिहित किया है। इन आचार्यों ने शरीर को धारण करने के कारण इन्हें धातु नाम से और विषम होने पर रोगों का उत्पादक होने से दोष नाम से स्मरण किया है।[१] आचार्य चरक के अनुसार– वात (वायु) पित्त और कफ (श्लेष्मा) ये तीन शारीरिक दोष हैं तथा रज और तम मानस दोष हैं।[२] ये दोष जब सम अवस्था में रहते हैं, तो मनुष्य को नीरोग, सुखी और बलशाली बनाये रखते हैं और जब विषम होते हैं, तब रोग उत्पन्न करके शरीर को नष्ट कर डालते हैं।[३] वैदिक ऋषि रोगों के कारण भूत वात, पित्त और कफ के विकारों को पहचानते थे और स्वीकार करते थे कि शरीर में कुछ रोग श्लेष्मा (अभ्र) से, कुछ वात से और कुछ पित्त (ऊष्मा–शुष्म) के कारण होते हैं। उन्हें वनस्पतियों के द्वारा विशेषतः पर्वतों पर उत्पन्न वनस्पतियों के द्वारा अथवा पर्वत पर कुछ दिन निवास करके दूर कर लेना चाहिए।[४]

मानसिक रोग रजोगुण और तमोगुण की अभिवृद्धि से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इन दोनों गुणों को मानसिक दोष कहा गया है।[५] क्योंकि मानसिक रोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि होते हैं। सद्विचारों के माध्यम से शमन इनकी चिकित्सा है। हठ (बल) पूर्वक दमन करने से ये अन्य विविध रूपों में प्रकट होते हैं। काम आदि विकार अशिव संकल्प रूप होते हैं। वैदिक ऋषियों ने सर्वविध मानसिक रोगों से बचने के लिए शिवसंकल्प की कामना की है।[६] अथर्ववेद में इस शिव संकल्प (कल्याणमयी भावना) को मनोरोग की औषधि कहा गया है।[७] अशिव भावनाएँ पाप कर्मों को जन्म देती हैं। पापी मनुष्य नीरोग, दीर्घायु और तेजस्वी नहीं हो सकता। इसलिए वैदिक ऋषि आरोग्य की रक्षा के लिए निष्पाप बने रहने की सलाह मनुष्य मात्र को देते हैं।[८]

शारीरिक और मानसिक रूप से सम्पूर्ण आरोग्य के लिए शरीर के अंग–प्रत्यंगों का विशेष कर इन्द्रियों का स्वस्थ और सबल रहना आवश्यक है। इनको हृष्ट–पुष्ट रखने से ही मनुष्य नीरोग और दीर्घजीवी होता है। इसलिए वैदिक ऋषि इन्द्रियों को पुष्ट बनाये रखने के लिए बहुत बल देते हैं।[९]

पूर्ण आरोग्य के लिए उषःकाल में उठना, नित्य कर्म आदि करना[१०] तथा

---

१. शार्ङ्गधर सं० पू० ५।४१–४२
२. चरक सू० १।५७
३. (क) शार्ङ्गधर पू० ५।६५–६६ (ख) अ० हृदय सू० १।६–७ (ग) चरक वि० १।५
४. अथर्ववेद १।१२।३
५. अ० हृदय सू० १।२१
६. यजुर्वेद ३४।१–६
७. अथर्ववेद २।२६।६
८. अथर्ववेद ३।३१।८
९. अथर्ववेद ६।४१।३
१०. (क)ऐतरेय ४।२७(ख) तैत्तिरीय ब्रा० १।१।३।१

प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का सेवन करना वैदिक ऋषियों ने आवश्यक माना है।[1]

वैदिक चिकित्सा-विधि

वैदिक ऋषि जहाँ आरोग्य की सुरक्षा के लिए प्राकृतिक उपायों का ही प्रयोग करते थे। उनके द्वारा रोग–निवारण के लिए किये जाने वाले सभी उपाय प्राकृतिक चिकित्सा के अन्दर समाहित किये जाने चाहिए। आरोग्य की रक्षा के लिए तथा नये पुराने रोगों के निवारण के लिए वे यज्ञों का सर्वाधिक प्रयोग करते थे। अनेक यज्ञों का अनुष्ठान ही चिकित्सा के लिए किया जाता था, ऐसे यज्ञों को भैषज्य कहा जाता था क्योंकि ऋतुओं की सन्धि के समय रोग अधिक होते हैं।[2] अतः ये भैषज्य यज्ञ, ऋतु–सन्धियों में ही किये जाते थे।[3] ऋग्वेद में पूरा एक सूक्त यज्ञ–चिकित्सा से सम्बन्धित है। उस सूक्त के सभी मन्त्रों की अथर्ववेद में प्रायः अविकल (केवल एक मन्त्र में एक शब्द के परिवर्तन के साथ) आवृत्ति हुई है।

ऋग्वेद का ऋषि यक्ष्मनाशन, प्राजापत्य और अथर्ववेद का ऋषि ब्रह्मा कहता है–

'सुखपूर्वक दीर्घ जीवन के लिए मैं तुझ को यज्ञ के हविर्द्रव्य से अज्ञात रोग से और राजयक्ष्मा नामक रोग से छुड़ाता हूँ। यदि जकड़ने वाले रोग ने इसे इस प्रकार पकड़ रखा हो तो उस पीड़ा से भी इन्द्र और अग्नि इसको छुड़ावे। यदि यह रोगी समाप्त आयुवाला है, अथवा यदि वह मृत्यु के निकट पहुँच चुका हो अथवा मृत्यु के अतिशय समीप (मृत्यु के मुख में) भी क्यों न पहुँच चुका है। मैं यज्ञ में हवि प्रदान करके उसको विनाश के पास से वापस लाता हूँ। इसको सौ वर्ष के दीर्घायुष्य के लिए सुरक्षित करता हूँ।[4] हमने जो आहुतियाँ प्रदान की हैं वे अपने सहस्त्र नेत्रों से सौ वर्ष का जीवन और दीर्घायुष्य प्रदान करने वाली हैं। मैंने इन आहुतियों के द्वारा इस (रोगी) के जीवन को सुरक्षित किया है। इन्द्र देव सम्पूर्ण दुःखों का निवारण करके इन्हें सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।[5]

हे रोगमुक्त मनुष्य ! प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करते हुए आप एक सौ शरद्, एक सौ हेमन्त, एक सौ वसन्त तक सुखपूर्वक जीवित रहें। इन्द्रदेव, अग्नि, सविता और बृहस्पति हविष्य रूप अन्न द्वारा तृप्त होकर आपको सौ वर्ष तक के लिए जीवनी शक्ति प्रदान करें।[6]

---

१. (क) यजुर्वेद १३।४६ (ख) शतपथ ब्राह्मण १४।३।२।६

२. (क) गोपथ उ० १।१६ (ख) कौषीतकी ब्राह्मण ५।१

३. गोपथ ब्राह्मण उ०प्र० १।१६, कौषीतकी ब्राह्मण ५।१

४. ऋग्वेद १०।१६१।१,२ अथर्ववेद ३।११।१–२

५. (क) ऋग्वेद १०।१६१।३ (ख) अथर्ववेद ३।११।३

६. (क) ऋग्वेद १०।१६१।४ (ख) अथर्ववेद ३।११।४

यज्ञ से आरोग्य

अथर्ववेद का ऋषि ब्रह्मा यज्ञ से आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्त्ति की वृद्धि होती है, यह स्वीकार करता है।

ऋग्वेद का ऋषि यक्ष्मनाश प्राजापत्य दृढ़तापूर्वक रोगी से कहता है—

हे रोगी मनुष्य, हम आपको मृत्यु के पाश से लौटा कर लाये हैं। पुनः नवजीवन प्राप्त करने वाले हे मनुष्य! आप हमारे समीप पुनः आये हैं। हे सर्वाङ्ग स्वस्थ! आपके लिए सम्पूर्ण विश्व को देखने में समर्थ नेत्रों को और आयुष्य को हमने उपलब्ध किया है।[१]

हे प्राण और अपान ! जिस प्रकार गोचर भूमि में (ब्रज में) बैल प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार तुम पुनः इस मनुष्य में प्रवेश करो। तुम्हारे विरोधी अपमृत्यु तथा सैकड़ों व्याधियाँ इससे दूर रहें। तुम दोनों यहाँ ही रहो, यहाँ से दूर मत जाओ, इसका शरीर और सब अवयव वृद्धावस्था के लिए फिर ले चलो अर्थात् वृद्धावस्था तक ये इसके साथ रहें। हे पुरुष ! मैं तुम्हें वृद्धावस्था के लिए सौंपता हूँ। तुझे वृद्धावस्था के लिए स्थिर करता हूँ। वृद्धावस्था तुझे सुख देवे। अपमृत्यु के सैकड़ों कारण तुम से दूर रहें।[२]

पूर्वोक्त प्रकार से आयुष्य का रक्षक होने के कारण ही ताण्ड्य ब्राह्मण में यज्ञ को आयु नाम से भी स्मरण किया गया है।[३]

विवाह संस्कार की पूर्णाहुति के रूप में विनियोग किये गये मन्त्र ब्राह्मण के मन्त्रों में शरीर गत सभी रोगों के निवारण के लिए घृत की आहुतियाँ करने का विधान है। उसके अनुसार लेखासन्धि, पक्ष्म, रोम कूप, केश, नेत्र, स्वरयन्त्र, उपाङ्ग, दांत, हाथ, पैर, ऊरु, उपस्थ, जंघा इनकी सन्धियाँ ही नहीं सभी अंग–प्रत्यंगों में जो भी कठिन से कठिन पीड़ादायी (घोर) रोग हैं, घृत की आहुति से उन सबका शमन हो जाता है।[४] इतना ही नहीं घृत की आहुति देकर किये जाने वाले यज्ञ का प्रभाव मन आदि अन्तरिन्द्रियों पर भी पड़ता है, जिसके फलस्वरूप स्वभाव में बोलने और हंसने आदि में भी यदि कोई दोष है तो उनका निवारण हो जाता है।[५] अथर्ववेद के एक मन्त्र में भी प्रदीप्त अग्नि में घृत की आहुति को यातुधान क्षयण अर्थात् भयंकर व्याधियों का नाशक कहा गया है।[६]

गण्डमाला आदि दुर्जयरोग, पसलियों तलवों के रोग, पीठ में होने वाला कार्बङ्कल, स्त्री सम्पर्क से होने वाले उपदंश आदि रोग, वंशानुगत रोग, संक्रामक रोग, जीर्ण व्रण

---

१. ऋग्वेद १० ।१६१ ।५

२. अथर्ववेद ३ ।११ ।५–७

३. ताण्ड्य ब्राह्मण ६ ।४ ।४

४. मन्त्र ब्राह्मण १ ।३ ।१–२, ४–६

५. मन्त्र ब्राह्मण १ ।३ ।३

६. अथर्ववेद ६ ।३२ ।१

(नासूर) आदि रोग भी यज्ञ द्वारा दूर होते हैं इसका परिगणन पूर्वक उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[1]

आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य महर्षि चरक आदि ने भी प्राणों का हरण करने वाले राजयक्ष्मा (टी०बी०) जैसे राज रोग के लिए भी वेद विहित यज्ञ करने की व्यवस्था दी है। साथ ही उस चिकित्सा के साथ चिकित्सा (प्राकृतिक चिकित्सा) के अंग के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने, दान, तपश्चर्या, देवपूजा, सत्य, सदाचार, माङ्गलिक कर्म, हिंसा, वैद्य और विप्र पूजा आदि करने का भी विधान बतलाया है। वे यह भी कहते हैं कि प्राचीन काल में इस विधि से राजयक्ष्मा पर विजय प्राप्त भी की जाती थी।[2] आचार्य वाग्भट ने भी राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिए दैव व्यपाश्रय कर्म करने की व्यवस्था दी है।[3] यज्ञ के लिए घृत के अतिरिक्त जिस हवन सामग्री का प्रयोग किया जाता है उसमें सुगन्धित पुष्टिकारक मीठे द्रव्यों के साथ और रोग निवारक द्रव्यों का समावेश भी[4] यज्ञ की इस रोग निवारक क्षमता को विद्यमान रखने और बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। यज्ञ की इस आरोग्यप्रद महिमा के कारण ही यज्ञों को प्रजापति एवं भुवन की नाभि आदि नामों से स्मरण किया जाता है।[5]

ज्ञातव्य है कि शारीरिक और मानसिक रोगों की उत्पत्ति में दूषित पर्यावरण मुख्य कारण होता है। यज्ञ पर्यावरण में गुणात्मक परिवर्तन करते हैं, जिससे बाह्य प्रकृति के साथ रोगी के शरीर के उपादान तत्त्वों पर भी आरोग्यदायी प्रभाव पड़ता है। जिसके फलस्वरूप उसके वात आदि दोष अपनी प्राकृतिक अवस्था में आ जाते हैं और रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्येक ऋतु में और चिकित्सार्थ प्रयुक्त यज्ञ में रोगी के रोग की दृष्टि से हवन के लिए प्रयुक्त होने वाली सामग्री में भेद (परिवर्तन) रहा करता है। इसीलिए जातकर्म संस्कार के समय प्रसूति गृह के द्वार पर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें भात और सरसों मिलाकर आहुति देने का विधान है,[6] जबकि अन्यत्र कहीं भी सरसों अथवा सरसों के तेल का प्रयोग हवन में करने का विधान नहीं मिलता।

---

१. अथर्ववेद ७।७६।१–५

२. चरक चि० ८।१८४–१८६

३. अ० हृदय चि० ५।८४

४. संस्कारविधि पृ० २१–२२

५. (क) ताण्ड्य ब्राह्मण १३।११।१८, (ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।५५
(ग) शतपथ ब्राह्मण ६।४।१।११

६. पारस्कर गृह्य० १।१६।२१

सूर्य-किरण का उपयोग

आरोग्य की प्राप्ति के लिए वैदिक ऋषियों ने जो प्राकृतिक उपाय स्वीकार किये थे, सूर्य की किरणों का प्रयोग उनमें अन्यतम था। उनका मानना था कि रोग के कीटाणु सूर्य की किरणों के सम्पर्क से नष्ट हो जाते हैं।[१] मरणासन्न रोगी को यदि उदय होते हुए सूर्य की किरणों का कुछ दिनों तक लगातार सम्पर्क मिले, तो उसमें पुनः प्राणों का संचार हो जाता है और वह मृत्यु के मुख से छूट कर पुनः जीवन प्राप्त कर लेता है।[२] इस रहस्य का लाभ मनुष्य मात्र को मिले इसके लिए प्राचीन काल में प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर[३] नित्य कर्म करके सूर्याभिमुख बैठकर सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सन्ध्योपासन करने का विधान किया गया था और कहा गया था कि इससे रात्रि और दिन में संचित हुए दोषों का क्षय हो जाता है।[४] अथर्ववेद का ऋषि पैर, जानु, श्रोणि, गुप्तांग, रीढ़ की हड्डी एवं गुर्दे के रोग, नाड़ियों में फैलने वाली पीड़ाओं, शिरो रोग, शीर्षकपाल के रोग और हृदय के रोगों की चिकित्सा उगते हुए सूर्य की किरणों के सम्पर्क से किया करते थे।[५] उपर्युक्त मन्त्र के पूर्ववर्त्ती बीस मन्त्र समूह, जिनमें रोगों के निवारण की तो चर्चा है, किन्तु साधन का उल्लेख नहीं है, की अन्तिम मन्त्र से एकवाक्यता देखने पर, जो अनुचित नहीं है, यह मानना आवश्यक हो जाता है कि अथर्ववेद का ऋषि भृगु, अंगिरा, शीर्षशूल, सिर के अन्य रोग, कर्णशूल, रक्ताल्पता, पाण्डु रोग, मस्तिष्क सम्बन्धी विकार (शीर्षण्य रोग), कान के भीतरी भाग के रोग, विसल्यक कर्णशूल, कर्णस्राव, मुख से होने वाले विविध स्राव, मनुष्य को बहरा और अन्धा बनाने वाले शिरो रोग, अंग भेद अर्थात् वे रोग जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे अंग टूट रहे हैं, सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा करने वाला ज्वर (जिसे आजकल डेंगू कहते हैं), मस्तिष्क ज्वर (मेनिन्जाइटिस) आदि को सूर्य की किरणों द्वारा दूर होते हैं, यह मानता है।[६]

सम्पूर्ण शरत्काल में उत्पन्न होने वाले ज्वर, जिसका भयंकर रूप शरीर को कंपा डालता है उस ज्वर को, जो जांघों और नाड़ियों तक पहुँच जाता है, उस अन्तरङ्ग अर्थात् गुप्त रोग को, काम, क्रोध आदि से उत्पन्न ज्वर को, हृदय से ऊपर किन्हीं भी कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्वर को, कफ प्रधान ज्वर (न्यूमोनिया) को, कामला, रक्तहीनता, जलोदर आदि के दोषों को हम उदय होते हुए सूर्य की किरणों से दूर करते हैं, जिससे शरीर का दोष कफ (थूक) के रूप में बाहर आ जाये। आम दोष मूत्र के माध्यम से आ जाए। इस प्रकार सभी रोगों के विष, स्वेद आदि जिस किसी मार्ग से बाहर आ जाएं।[७]

---

१. ऋग्वेद १० ।१०० ।८
२. अथर्ववेद १७ ।१ ।३०
३. (क) मनु० ४ ।९२, (ख) अ० हृदय सू० २ ।१, (ग) अ० संग्रह सू० ३ ।३
४. मनुस्मृति २ ।१०१–१०२
५. अथर्ववेद ६ ।८ ।२१–२२
६. अथर्ववेद ६ ।८ ।१–५, २२
७. अथर्ववेद ६ ।८ ।६–१०, २२

पेट का वह विष जिसके कारण अन्दर शब्द होता है, मूत्रमार्ग से निकल जाता हैं। तुम्हारे पेट, फेफड़े, नाभि और हृदय के पास जो रोग के विष हैं तथा जो शरीर की सीमा अर्थात् पैरों से प्रारम्भ होकर शिर तक फैल जाते हैं, रोगों के वे विष भी उगते सूर्य की किरणों से दोषरहित होकर शरीर को किसी भी प्रकार हानि पहुँचाये बिना त्वचा के छिद्रों से बाहर निकल जाते हैं। हृदय को कष्ट देने वाले रोग, हंसली की हड्डियों में फैलने वाली पीड़ाएं पृष्ठ भाग के रोग, पार्श्व में फैलने वाले, पसलियों पर आक्रमण करने वाले रोग, गुदा के आंतों के रोग, हड्डियों के मध्य में स्थित मज्जा को दूषित करने वाले जोड़ों में पीड़ा उत्पन्न करने वाले रोगों के विष भी उगते हुए सूर्य की किरणों के सम्पर्क से शरीर को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इसी प्रकार जो रोग व्याकुल करते हुए तेरे अंगों को मदयुक्त करते हैं, विविध प्रकार की पीड़ा, सूजन, वात रोग, अलर्जी रोग, इन सभी के विष उगते हुए सूर्य की किरणों के सम्पर्क से शरीर को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना शरीर से बाहर निकल जाते हैं।[१]

ऋग्वेद का ऋषि कण्व का पुत्र प्रस्कण्व उदय के अनन्तर ऊपर उठते हुए सूर्य को हृदयरोग और पाण्डुरोग (हरिमा) को दूर करने वाला बतलाता है।[२] अथर्ववेद का ऋषि ब्रह्मा हृदय रोग और कामला (पाण्डु) रोग को दूर करने के अन्य अनेक उपायों के साथ उदित होते हुए कपिल (लाल) वर्ण के सूर्य का भी वर्णन करता है। वे कहते हैं कि लोहित वर्ण के सूर्य से निकलने वाली किरणें पाण्डुरोग से मुक्ति देने के साथ ही दीर्घायुष्य भी प्रदान करती हैं।[३]

ऋग्वेद का प्रस्कण्व सूर्य को हृदयरोग और पाण्डुरोग का ही नहीं अपितु शरीर के समस्त रोगों को नष्ट करने वाला मानता है।[४] अथर्ववेद का ऋषि अङ्गिरा अनेक प्रकार के नये या पुराने गण्डमालारोग के निवारण के लिए सूर्य की किरणों को अति शीघ्रकारी अमोघ भेषज मानता है। उसका कहना है—जिस प्रकार गरुड़ को देखकर सर्प भाग जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के सम्पर्क से गण्डमाला रोग दूर हो जाता है, भले ही वह गण्डमाला रोग चित्र वर्ण का हो या श्वेत अथवा लाल या काला। सूर्य की किरणों से चिकित्सा करने पर शरीर में किसी प्रकार की हानि भी नहीं होती।[५]

---

१. अथर्ववेद ६।८।११–२०, २२
२. ऋग्वेद १।५०।११
३. अथर्ववेद १।२२।१–२
४. ऋग्वेद १।५०।१३
५. अथर्ववेद ६।८३।१–२

अथर्ववेद के ब्रह्मा ऋषि का मानना है कि सूर्य का प्रकाश रूपी अमृत प्राण अपान को इतना सबल बना देता है कि मृत्यु पास नहीं फटक पाती।[1] इसलिए वह दीर्घ जीवन की कामना करने वाले पुरुष को सम्बोधन करके कहता है कि तुम सूर्य और रात्रि में उसके प्रतिनिधि भूत अग्नि से स्वयं को कभी दूर मत करो।[2] अग्रिम मन्त्र में वह पुनः कहता है कि स्वच्छ वायु और वर्षा के अमृतमय जल के अतिरिक्त सूर्य ही एक ऐसा देव है, जिसके ताप में तपने वाले व्यक्ति के पास मृत्यु आना नहीं चाहती।[3]

ऋग्वेद के एक अन्य ऋषि मित्रावरुण के पुत्र अगस्त्य के अनुसार प्रातः काल उदय होता हुआ सूर्य सब मनुष्यों का दर्शनीय और पूजनीय इस कारण ही है कि वह विविध प्रकार के प्रकट और प्रच्छन्नरूप से हम पर आने वाले हानिकारक अथवा मृत्युदायी (यातुधानों) रोग के कीटाणुओं और विषाणुओं को दूर कर देता है। यह जब ऊपर उठता है तब इसके तेज से असंख्य अनिष्टकारी रोगाणु नष्ट हो जाते हैं अथवा छिप जाते हैं अर्थात् उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है।[4] ऋग्वेद के ही लुशघानाक ऋषि का मानना है कि प्रातःकालीन सूर्य ही नहीं सभी काल का सूर्य वह चाहे सामने रहे चाहे पीछे, वह ऊपर रहे अथवा नीचे अर्थात् मध्याह्न का सूर्य जब वह ऊपर रहता है रात्रिकालीन सूर्य जब वह नीचे (पृथिवी के अन्य भाग में) रहता है प्रत्येक स्थिति में वह हमें ऐश्वर्य अर्थात् धन सम्पदा और दीर्घायुष्य प्रदान करता है। अर्थात् रात्रि में भी उसका ताप और प्रकाश हमारे ऐश्वर्य और दीर्घायुष्य का कारण होता है।[5] ऋग्वेद के ही सूर्य पुत्र अभितपा का मानना है कि दिन और रात्रि का कारण भूत सूर्य ही पृथिवी की गति का पृथिवी में जीवन का कारण है। वही जल वृष्टि के द्वारा हमें आरोग्य देता है और उदय के समय हमारे रोगों को दूर करके प्राणों का संचार करते हुए जीवन देता है।[6] वह प्रकाश और तेजस्विता के माध्यम से दिशाओं से तमरूप अन्धकार को और हमारे अन्तःकरण से तमोगुण को दूर करके हमारी वर्तमान और आगामी पीड़ाओं को रोग आदि से उत्पन्न पीड़ाओं को शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को दूर करता है।[7] उसका दर्शन करके अर्थात् उसकी किरणों के सम्पर्क में आकर हम समस्त आधि–व्याधियों से मुक्त होकर दीर्घायुष्य को प्राप्त करके वृद्धावस्था में भी कल्याणमय जीवन जीते हैं।[8]

---

१. अथर्ववेद ८।१।१
२. अथर्ववेद ८।१।४
३. अथर्ववेद ८।१।५
४. ऋग्वेद १।१६१।८–६
५. ऋग्वेद १०।३६।१४
६. ऋग्वेद १०।३७।२
७. ऋग्वेद १०।३७।४
८. ऋग्वेद १०।३७।६

सूर्य की इन जीवनदायी आरोग्यरक्षक और रोग–निवारक शक्तियों को साक्षात्कार करके ब्राह्मण–ग्रन्थों में उसे पिता[1] धाता[2] पुरोहित[3] आदि विशेषणों से विशेषित किया जाता है। ऊपर वर्णित सूर्य की रोहित (लोहित) किरणों की महिमा के वर्णन से ही प्रेरणा लेकर, कालान्तर में विविध रंग के शीशों से तथा रंगीन बोतल में जल, तेल आदि रखकर चिकित्सा प्रारम्भ हुई है।

अथर्ववेद का ऋषि भृगु, अंगिरा उदीयमान सूर्य और मेघ के मध्य से निकली हुई सूर्य की किरणों को तथा बहती हुई वायु के समय वायु वेग के कारण वक्र होती हुई सूर्य की किरणों को तथा गरजते और बरसते हुए मेघ के साथ अथवा उसके बाद पड़ने वाली सूर्य की किरणों को सिर दर्द, खांसी, जोड़ों के दर्द और वात रोग का निवारक मानता है। इन किरणों से सभी अंग प्रत्यंगों को आरोग्य मिलता है।

अथर्ववेद के एक अन्य ऋषि काण्व कृमि रोग की चिकित्सा सूर्य की किरणों से करते हैं। वह कहते हैं कि उदय होता हुआ सूर्य भूमि पर रहने वाले अथवा पृथिवी स्थानी कृमियों का नाश करता है। अस्त होते हुए सूर्य की किरणों से कृमि नष्ट हो जाते हैं। अनेक रूप वाले, चार आंखों वाले, रेंगने वाले, श्वेत रंग के कृमियों का सूर्य की किरणों से सर्वनाश हो जाता है। मानो सूर्य की किरणें इनकी हड्डियों को तोड़ देती हैं। इनका शिर तोड़ देती हैं।------ इनके द्वारा कृमियों का राजा इनका स्थपति इनके माता, भाई, बहिन सभी मर जाते हैं अर्थात् इनका सम्पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है।

अथर्ववेद के भागलि नामक ऋषि पर्वत के शिखर तक ऊपर उठे हुए सूर्य की किरणों को अदृष्ट अर्थात् जो अभी प्रकट नहीं हुए अथवा दृष्ट जो प्रकट हो चुके हैं दोनों प्रकार के रोगों का नाशक मानते हैं, वह उन्हें आयु देने वाला मेधाशक्ति को बढ़ाने वाला और सभी रोगों को दूर करने वाला मानते हैं और इनसे सभी रोगों का शमन करते हैं।

वायु-चिकित्सा

प्रकृति में विद्यमान भौतिक पदार्थों में वायु सबसे गतिशील पदार्थ है। वायु की गतिशीलता के कारण ही हमारे अन्दर ताप के कारण प्रतिक्षण बनता हुआ कार्बन डाइ ऑक्साइड नामक मल शरीर के अन्दर से बाहर निकल जाता है, और बाहर निकलता ही नहीं वह वन उपवन में वृक्षों वनस्पतियों के पास पहुँचा दिया जाता है जहाँ वह परिशोधित करके पुनः प्राण तत्त्व (ऑक्सीजन) में बदल दिया जाता है। वायु की गतिशीलता के कारण हमारे उपयोग के लिए प्राणतत्त्व (ऑक्सीजन) निरन्तर मिलता रहता है। इस प्रकार वायु हमारे शरीर के अन्तर्भाग को और सकल ब्रह्माण्ड के अन्तर भाग को पवित्र करता रहता है। इसलिए इसका एक नाम 'पवन' अर्थात् पवित्र करने

---

१. शतपथ १४।१।४।१५
२. (क) शतपथ ६।५।१।३७, (ख) ऐतरेय ब्राह्मण ३।४८
३. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२७

वाला है। हमारे शरीर के आधारभूत तत्त्वों में वायु भी है। वायु के साथ मिलकर अग्नि (पित्त) और जल (कफ) शरीर को धारण करते हैं। इनमें प्रत्येक का अपना–अपना महत्त्व होते हुए भी वायु का महत्त्व अधिक है। कफ और पित्त शरीर के धारण पोषण के आधार अवश्य हैं किन्तु स्वयं में ये गतिशील नहीं हैं। वायु ही इनको जब जहाँ चाहता है ले जाता है। कहा भी गया है–

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवः मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।।[1]

वस्तुतः वायु ही इस शरीर रूपी तन्त्र और इसके यन्त्रों को धारण करता है। शरीर में रहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की आत्मा अर्थात् आधार वायु ही है। वही विविध प्रकार की अच्छी बुरी चेष्टाओं का प्रवर्त्तक और नियामक है। मन की गति का मूल भी वायु ही है। यही समस्त इन्द्रियों का प्रेरक, इन्द्रियों के अर्थों का अभिवाहक है। शरीर गत सभी धातुओं को अपने–अपने कार्य में यही प्रवृत्त कराता है। यह शरीर की मांसपेशियों का सन्धान करने वाला, वाणी का प्रवर्त्तक है। स्पर्श और शब्द की प्रकृति भी यही है, श्रोत्र और त्वचा का मूल भी वायु ही है। उत्साह और हर्ष भी वायु के बिना नहीं हो सकते, यही अग्नि का प्रेरक है, दोषों को सुखाने वाला और मलों को बाहर फेंकने वाला भी यही है। स्थूल और सूक्ष्म स्रोतों का भेदन करने वाला, गर्भ में आकृतियों का निर्माण करने वाला, आयुष्य का अनुवर्त्तन और पालन करने वाला भी वायु ही है।[2] इस प्रकार शरीर में वायु एक प्रधान और महत्त्वशील तत्त्व है, यह माना जा सकता है।

इस प्रकार वायु शरीर और ब्रह्माण्ड में अतिशय महत्त्वपूर्ण है। साथ ही क्योंकि वह गतिदाता होने के साथ पवन अर्थात् पवित्र करने वाला, मल को हटा कर प्राण तत्त्व को पहुँचाने वाला भी है, इसलिए चिकित्सा के क्रम में भी वायु का सदा से सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी क्रम में प्राचीन ऋषि–मुनियों ने प्राणायाम साधना को प्रवर्त्तित किया था। प्राणायाम की साधवा श्वास–प्रश्वास से सम्बन्धित साधना है। इससे शरीर और मन दोनों के अस्वास्थ्य को दूर किया जाता है। प्राणायाम के सूर्य–भेद–उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका या भस्त्रा प्रकारों से कौन–कौन रोग दूर होते हैं, इसकी चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भ में की गयी है, जो प्राचीन कालीन वायु–चिकित्सा के ही प्रकार हैं। प्राणायाम का इतना ही लाभ नहीं है, अतिशय अस्थिरता अर्थात् किसी भी विषय पर अथवा किसी भी कार्य में अपेक्षित समय तक स्थिर न होना मन का रोग है। क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ मन (चित्त) की भूमियां (स्थितियां) हैं। मन की चंचलता का अतिशय

---

१. शार्ङ्गधर संहिता पूर्व ५।४३–४४
२. चरक सू० १२।८

(बढ़ी हुई) क्षिप्त अवस्था में होना उन्माद अर्थात् पागलपन कहलाता है। मन (चित्त) को क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ स्थितियों से निकाल कर एकाग्र स्थिर तथा निरुद्ध (पूर्ण स्थिर) कर लेना मानसिक स्वास्थ्य है। इसके लिए प्राणायाम सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। महर्षि पतञ्जलि ने बुद्धि की मलिनता दूर करने और चित्त की स्थिरता की ओर अग्रसर करने के लिए प्राणायाम को एकमात्र उपाय के रूप में स्वीकार किया है।[१] उनके पूर्व काल में भी रेचक, पूरक रूप श्वास, प्रश्वास की क्रियाएँ, जो शरीरगत वायु से सम्बन्धित क्रियाएँ हैं, प्रचलित रही हैं।[२] जिसके पूर्ण अभ्यास से परमाणु अथवा परम महतत्त्व जैसे अत्यन्त सूक्ष्म आलम्बन पर भी चित्त की एकाग्रता का अभ्यास हो जाता है।[३] जो मन के अतिशय स्वस्थ होने का चिह्न है।

एक विशेष प्रकार की प्राणायाम–साधना जिसका सुस्पष्ट वर्णन दत्तात्रेय योग शास्त्र में मिलता है, करने पर जब पवन सहित चित्त सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर लेता है, उस स्थिति में साधक का मन इतना स्वस्थ और सशक्त हो जाता है कि वह भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के वृत्त को उसी प्रकार जानता है। जैसे कि सामान्य व्यक्ति हथेली पर रखे फल को जानता है।[४] इसके अतिरिक्त जब वह पञ्चभूत धारणा में अर्थात् वायु सहित चित्त को मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय एवं कण्ठ जिन्हें क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के स्थान कहते हैं, में वायु और चित्त को स्थिर करने में समर्थ हो जाता है, तो उसका शरीर इतना सशक्त हो जाता है कि वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।[५] प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ्य की यह सर्वोच्च स्थिति कही जा सकती है। इस प्रकार प्राणायाम की विविध क्रियाएँ शरीर और मन को स्वस्थ रखने के सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं।

मनु ने भी प्राणायाम को शरीर और इन्द्रियों के सभी मलों को भस्म कर देने का एक प्रशस्त उपाय माना है।[६] प्राणायाम की अवश्य करणीयता को वैदिक ऋषियों ने प्राण के विराट् स्वरूप को पहचानने के कारण ही स्वीकार किया था। अथर्ववेद का ऋषि स्पष्ट स्वीकार करता है कि प्राण विराट् है, देष्ट्री है, इसी कारण सभी देवता प्राण की उपासना करते हैं। वे प्राण को सूर्य चन्द्रमा और प्रजापति तक कहते हैं।[७]

---

१. योग सूत्र २।५२,५३
२. योग सूत्र १।३४
३. योग सूत्र १।४०
४. दत्तात्रेय योगशास्त्र २१८,२१९
५. दत्तात्रेय योगशास्त्र २३६–२४२
६. मनुस्मृति ६।७१,७२
७. अथर्ववेद ११।४।१२

यहाँ यह स्मरण कर लेना उचित होगा कि वैदिक ऋषि शरीरस्थ प्राण को ब्रह्माण्डगत आकाश में व्यापक सूत्रात्मा वायु के प्रतिनिधि के रूप में ही स्वीकार करते हैं और इसीलिए उसे जीवन के भूत और भविष्य का अधिष्ठाता भी मानते हैं।[१]

वेदान्त–परम्परा में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवम् आनन्दमय इन पांच कोषों की समष्टि को जीवित मनुष्य कहा जाता है। इसके अनुसार प्राणमय कोष के अभाव में अथवा उसके स्वस्थ और सबल न रहने की स्थिति में मानव का जीवन ही सम्भव नहीं है। यह प्राण शरीर में वायु का अथवा वायु के साथ तादात्म्य भाव से रह कर शक्ति का सहचरित रूप है। कार्य और स्थान के भेद से इसके निम्नलिखित दस प्रकार हो जाते हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान तथा नाग कूर्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय। इनमें प्रथम पांच मुख्य हैं। इनमें से प्राण का स्थान नासिका से हृदय तक अथवा उदर और वक्ष में स्थित डायफ्राम नामक पेशी तक, अपान का नाभि से नीचे गुदा तक, समान का नाभि–मण्डल में, उदान का कण्ठ देश में है। व्यान सम्पूर्ण शरीर में गति करता रहता है। ये सभी समष्टि रूप से प्राण कहलाते हैं। इनके भली प्रकार क्रियाशील रहने पर शरीर और मन स्वस्थ और सबल रहते हैं। इनमें विकार आने पर शरीर और मन भी स्वस्थ नहीं रह पाते तथा इनकी समुचित क्रियाशीलता के लिए निर्मल वायु की उपलब्धि आवश्यक है। इसके लिए प्राचीन ऋषि मुनि वनों, कुटियों में निवास करते थे एवं नदी तट पर स्नान सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्म करते थे। स्वास्थ्य–रक्षा के लिए वायु चिकित्सा–विधि का यह एक सहज अन्य प्रकार रहा है।

ऋग्वेद का ऋषि उलवातायन वायु को प्राणतत्त्व का वाहक ही नहीं, अपितु साक्षात् भेषज मानता है और उससे दीर्घ जीवन की कामना करता है।[२] वह मानता है कि वायु में अमृत का खजाना भरा है और अपने दीर्घ जीवन के लिए उसकी उपासना करता है। उसका सेवन करता है।[३] रोग और मृत्यु से बचा कर पालन करते हुए दीर्घ जीवन देने के कारण वह वायु को पिता मानता है।[४] ऋग्वेद के ही गोतम राहूगण का मानना है कि जिसके घर में वायु की निर्बाध उपलब्धि रहती है, वह सबसे अधिक सुरक्षित मनुष्य है अर्थात् रोग और मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते हैं।[५] वे यह भी मानते हैं कि वायु औषध तत्त्वों को हमारे शरीर में पहुँचाकर हमें स्वस्थ करके अथवा स्वस्थ रख करके हमारे लिए सुख स्वरूप (मयोभू) है।[६]

---

१. अथर्ववेद ११।४।१५
२. ऋग्वेद १०।१८६।१
३. ऋग्वेद १०।१८६।३
४. ऋग्वेद १०।१८६।२
५. ऋग्वेद १।८६।१
६. ऋग्वेद १।८६।४

इसी प्रसंग में सप्तर्षि गण एक और रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि समुद्र की ओर अर्थात् उत्तर से दक्षिण को प्रवाहित होने वाला वायु बल प्रदान करता है। आयुर्विज्ञानीय पारिभाषिक शब्दों में वह रसायन है। इसके विपरीत समुद्र की ओर से आने वाला वायु रोगों का निवारण करने वाला होता है।[1] अथर्ववेद का ऋषि ब्रह्मा घोषणा करता हुआ सा एक रोगी से कहता है कि मैंने मृत्यु के पाश से तुमको छुड़ाते हुए तुम्हारे लिए वायु से प्राणों को प्राप्त किया है। मैं तुम्हें दीर्घ आयुष्य प्रदान कर रहा हूँ।[2]

वायु के औषध गुणों से मरणासन्न और निर्बल रोगियों को दीर्घायुष्य प्रदान करने के कारण ही कौषीतकी ब्राह्मण का ऋषि वायु को प्रजापति नाम से स्मरण करता है।[3] शतपथ का रचयिता भी वायु को प्रजापति मानता है।[4] वह यह भी मानता है कि वायु ही सबको पुष्ट करता है। पुष्टि देने के लिए वह उसके दोषों (विषों) को दूर हटा कर पवित्र भी करता है। इसीलिए उसे पूषा भी कहते हैं।[5] ताण्ड्य ब्राह्मण में भी वायु को पवित्र करने वाला अर्थात् शरीर से रोगों और रोग के कारणों को हटाने वाला स्वीकार किया गया है।[6] इसी गुण के कारण जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में वायु को 'धाय्या' अर्थात् प्राणियों का पालन पोषण करने वाला स्वीकार किया है।[7] शरीर से रोग और रोग के कारणों को तथा पर्यावरण से रोग के कारणों को हटाकर दूर फेंकने के कारण शतपथ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में वायु को पवित्र विशेषण से विशेषित किया गया है।[8] शरीर में स्थित पवित्र वायु के प्रतिनिधि भूत प्राण और अपान वायु को भी वहाँ पवित्र कहा गया है।[9] शतपथ का ऋषि प्राण के साथ उदान को भी पवित्र कहता है।[10]

स्मरणीय है कि समस्त विद्याओं के भण्डार वेद और उन पर आश्रित अन्य वैदिक साहित्य चिकित्सा–शास्त्र के पाठ्य ग्रन्थ नहीं हैं। जहाँ अमुक परिस्थिति में अमुक पदार्थ का अमुक प्रकार से प्रयोग किया जाए इत्यादि प्रकार के वाक्यों की योजना प्राप्त हो। यही कारण है कि मीमांसा शास्त्र में वेद में वर्णन चाहे प्रार्थना रूप से हो चाहे किसी अन्य रूप से सभी प्रकार के वेद वाक्यों को विधिवाक्य ही माना गया है। मीमांसादर्शन द्वारा स्वीकृत इस तथ्य को स्वीकार करके ही वैदिक संहिताओं तथा

---

१. ऋग्वेद १० ।१३७ ।२
२. अथर्ववेद ८ ।२ ।२–३
३. कौषीतकी ब्रा० १९ ।२
४. शतपथ ८ ।३ ।४ ।१५
५. (क) शतपथ १४ ।२ ।१ ।९, १४ ।२ ।२ ।३२, (ख) शतपथ १४ ।४ ।२ ।२५ (ग) शतपथ ब्रा० २ ।५ ।१ ।५
६. ताण्ड्य ब्रा० १० ।६ ।२
७. जैमिनीय ब्रा० ३ ।४ ।२–३
८. (क) शतपथ १ ।१ ।३ ।२, १ ।७ ।१ ।१२, (ख) तैत्तिरीय ब्रा० ३ ।२ ।५ ।११
९. तैत्तिरीय ३ ।३ ।४ ।४, ३ ।३ ।६ ।७
१०. शतपथ १ ।८ ।१ ।४४

आयुर्वेद आदि अन्य वैदिक साहित्य में आयुर्विज्ञान दूसरे शब्दों में चिकित्सा–शास्त्र के सिद्धान्तों का अनुसन्धान करना अपेक्षित होगा।

अग्नि-चिकित्सा–

चिकित्सा के क्षेत्र में अग्नि का अनेक प्रकार से प्रयोग होता है।

१. शीत को अथवा शीत लगने से उत्पन्न रोगों को दूर करने के लिए अग्नि का प्रयोग।

२. सेक करने अथवा स्वेदन करके रोग हरने के लिए।

३. आहार द्रव्य अथवा औषधियों को सिद्ध करने के लिए पाक करने हेतु।

४. धूमवर्त्ति द्वारा औषधि ग्रहण में वर्त्ति को प्रज्वलित करने हेतु।

५. दाह करने हेतु।

इसके अतिरिक्त रोग फैलाने वाले द्रव्यों को जलाने हेतु तथा विषनाशक अथवा रोगनाशक द्रव्यों को अग्नि में डालकर वातावरण को शुद्ध करने और वातावरण में गुणात्मक परिवर्तन करके रोगों के मूल को ही दूर करके आरोग्य रक्षार्थ अग्नि का प्रयोग होता है।

वैदिक ऋषि अग्नि के उपर्युक्त सभी प्रयोग करते थे। यजुर्वेद में प्रश्न उठाकर कि हिम अर्थात् जाड़ा और जाड़ा लगने के कारण उत्पन्न रोगों की औषध क्या है? उत्तर के रूप में कहा गया है कि हिम अर्थात् शीत और शीतजन्य रोगों की औषध अग्नि है।[१] अथर्ववेद में भी शीत की चिकित्सा अग्नि से बतायी गयी है।[२]

अग्नि को हिम की भेषज कहते हैं। उन कफज रोगों में जहाँ सेक की अथवा स्वेदन द्वारा चिकित्सा करने की आवश्यकता होती है, वहाँ वैदिक ऋषि इसका प्रयोग करते थे, यह सूचना भी प्राप्त होती है। आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य चरक ने पञ्चकर्म चिकित्सा में पूर्व कर्मों में अन्यतम स्वेदन के लिए 'संकरस्वेद, प्रस्तर स्वेद, नाड़ी स्वेद, परिषेक स्वेद, अवगाहस्वेद, जेन्ताक स्वेद, अश्मघन स्वेद, कर्षूस्वेद, कुटी स्वेद, भूस्वेद, कुम्भी स्वेद, कूप स्वेद और होलाक स्वेद इन तेरह प्रकार की स्वेदन विधियों का वर्णन किया है।[३] इन सभी स्वेदन विधियों में अग्नि का समान रूप से प्रयोग होता है। आजकल सेक अथवा स्वेदन के लिए विद्युत् यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु विद्युत भी अग्नि का, ताप उत्पन्न करने का साधन है। पञ्चकर्म के पूर्व कर्म के रूप में स्वेदन का वर्णन काश्यप संहिता[४] सुश्रुत संहिता[५] अष्टांग हृदय[६] आदि ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में संख्या भेद के साथ प्रायः सभी आचार्यों ने किया है।[७]

आरोग्य–रक्षार्थ अथवा रोगी के पथ्य–हेतु आहार द्रव्यों को पकाने के लिए अग्नि

---

१. (क) यजुर्वेद २३।६ एवं ४५ (ख) यजुर्वेद २३।१० एवं ४६
२. अथर्ववेद ६।१०६।३
३. चरक सू० १४।३६–४०
४. काश्यप संहिता सू० २३।२५–२६
५. सुश्रुत चि० ३२।१
६. अ० हृदय सू० १७।१
७. सुश्रुत चि० ३२।१ पर डल्हण टीका

का प्रयोग वैदिक काल से अथवा आदि काल से हो रहा है। इसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आतुर के लिए अथवा स्वास्थ्य–रक्षार्थ रसायन अथवा वाजीकरण आदि के लिए प्रयोग हेतु क्वाथ, अर्क, घृत, तेल आदि सिद्ध करने के लिए आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में तथा पञ्चतन्त्र आदि कथा–ग्रन्थों में अग्नि प्रयोग का स्थान–स्थान पर वर्णन हुआ है। इसके लिए भी प्रमाण प्रस्तुत करना सिद्ध साधन का प्रयास करना होगा।

पञ्चकर्म चिकित्सा में शिरो विरेचन के लिए धूमवर्त्ति का विवरण चरक आदि चिकित्सा–ग्रन्थों[1] में एवं हर्षचरित आदि साहित्य ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। धूम्रपान के सम्बन्ध में वहाँ समय निर्धारित है। वे हैं—स्नान करने के बाद, भोजन के उपरान्त, वमन के उपरान्त, छींक आने के बाद, दातुन करने के बाद, नस्य के बाद, अञ्जन लगाने के बाद, सोकर जागने के बाद, वहाँ कहा गया है कि आत्मवान् पुरुष को चाहिए कि वह प्रतिदिन धूमपान करे। इस प्रकार धूमपान करने से वात, कफजनित ऊर्ध्वजत्रुगत रोग नहीं होते।[2]

अग्निदाह से वात–व्याधियों चिकित्सा हिमालय की गोदी में बसे गढ़वाल, चमोली आदि (उ० प्रदेश) जिलों में चिरकाल से प्रचलित है। चरक में सर्पविष–चिकित्सा प्रकरण में सर्प द्वारा काटे गये स्थान पर छेदन करके उसे अग्नि से जलाने का उल्लेख मिलता है।[3] सुश्रुत में विस्तारपूर्वक अग्नि–चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध होता है। उनके अनुसार सामान्यतः शरद् और ग्रीष्म ऋतु को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में अग्नि कर्म किया जाता है। इन ऋतुओं में भी आवश्यक होने पर विपरीत उपचार अर्थात शीत आच्छादन भोजन कराकर अग्नि कर्म कर सकते हैं। उनके अनुसार मूढ गर्भ, अश्मरी, भगन्दर, अर्श और मुख रोगों को छोड़ कर अन्य सभी रोगों में रोगी को भोजन कराकर अग्निकर्म करना चाहिए। इन रोगों में भोजन दिये बिना ही अग्नि से उपचार किया जाता है।[4]

सामान्यतया अग्नि से उपचार चर्म और मांस में किया जाता है, किन्तु आचार्य धन्वन्तरि सिरा स्नायु–सन्धि अस्थि आदि में भी अग्नि से दाह करके चिकित्सा करते हैं।[5] उनके अनुसार त्वचा, मांस, सिरा, स्नायुसन्धि, अस्थि में स्थित वायु की तीव्र वेदना में, व्रण में, मांस उठने पर, चेतना रहित मांस युक्त व्रण में, ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्म कील, तिलकालक, आन्त्र वृद्धि, सन्धिरोग, सिरा छेदन आदि कार्यों

---

१. चरक सू० ५।२४–२६
२. (क) चरक सू० ५।३३–३६ (ख) अ० हृदय सू० २१।१–२
३. चरक चि० २३।२५१
४. सुश्रुत सूत्र १२।५–६
५. सुश्रुत सू० १२।७

में, नाड़ी व्रण में, बहुत रक्त स्राव होने पर अग्नि कर्म करना चाहिए।[१] सिरा या स्नायु का दाह करने पर स्राव बन्द हो जाता है।[२] सर्प दंश में जहाँ बन्धन सम्भव नहीं होता वहाँ भी छेदन करके दहन कर दिया जाता है।[३]

महर्षि धन्वन्तरि के अनुसार अग्नि कर्म प्रायः चार प्रकार का होता है। वलय अर्थात् गोल चूड़ी के आकार से, विन्दु रूप से, तिरछी, ऋजु, टेढ़ी रेखाओं के रूप में एवं प्रतिसारण अर्थात् गरम शलाकाओं से अवघर्षण इनके अतिरिक्त कभी–कभी अर्ध चन्द्र स्वस्तिक और अष्टापद आकार में भी दाह किया जाता है।[४] सामान्यतः अग्निकर्म रोगपीड़ित स्थान पर किया जाता है, किन्तु शिर के रोगों में तथा अधिमन्ध नामक नेत्ररोग में भ्रू, ललाट और शंख–प्रदेश में दाह कर्म (अग्नि कर्म) किया जाता है। वर्त्म रोगों में दृष्टि को गीले वस्त्र से ढक कर पलकों के बालों को नीचे से जलाया जाता है।[५]

अथर्ववेद के अथर्वा ऋषि एक स्थल पर विधि की चर्चा किये बिना कहते हैं कि जिस प्रकार वृत्र जल धाराओं को रोक रखता है, उसी प्रकार मैं वैश्वानर अग्नि से प्रत्येक प्रकार के रोगों को शरीर से दूर ही रोक देता हूँ।[६]

अग्नि के स्वास्थ्य–रक्षा के प्रसंग में दो और प्रयोग होते आये हैं। प्रथम रोगनाशक सुगन्धित घृत आदि द्रव्यों को अग्नि में प्रज्वलित करके पर्यावरण में समुचित गुणात्मक परिष्कार करने के लिए प्रयोग। इसे ही हवन यज्ञ के नाम से स्वीकार किया जाता है। इसकी चर्चा पहले यज्ञ–चिकित्सा के प्रसंग में इसी अध्याय में की जा चुकी है। अग्नि का स्वास्थ्य–प्रयोजन से दूसरा प्रयोग उन दूषित पदार्थों को जला डालने के लिए होता है। जो पड़े रहने पर सड़कर अपनी दुर्गन्ध द्वारा अथवा उसमें विद्यमान रोगोत्पादक कीटाणुओं द्वारा मानव के लिए अकल्याणकारी होते हैं। ऐसे हानिकर दुर्गन्धित अथवा दुर्गन्धोत्पादक पदार्थों को जलाने के समय साथ में चन्दन, धूप, गुग्गुल आदि विविध सुगन्धित द्रव्यों को तथा घृत को भी अग्नि में डाला जाता है, जिससे कुछ काल के लिए फैलने वाली दुर्गन्ध को भी सुगन्ध में बदला जा सके। मृत मनुष्य की अन्त्येष्टि की क्रिया इसी प्रकार की क्रिया है।[७]

उपर्युक्त दोनों क्रियाएं पर्यावरण को दुर्गन्ध रहित अथवा पवित्र बनाये रखने के

---

१. सुश्रुत सू० १२।१०
२. सुश्रुत सू० १२।८
३. सुश्रुत सू० ५।५
४. सुश्रुत सू० १२।११
५. सुश्रुत सू० १२।६
६. अथर्ववेद ६।८५।३
७. आश्वलायन गृ० ४।१।६–८,१५–१७

लिए की जाती हैं। इसी कारण अग्नि को पवमान मानते हुए उसकी उपासना की जाती है तथा कामना की जाती है कि इस पवमान अग्नि की उपासना करके हम रोगों से मुक्त होकर लम्बी दीनता रहित आयु प्राप्त करेंगे।[१] यजुर्वेद के अनेक मंत्रों में अग्नि से कामना की गयी है कि वह हमें अपनी पवित्र दिव्य तेजस्विता से पवित्र करे।[२] यजुर्वेद में ही एक अन्य मन्त्र में अग्नि के लिए स्वपा (स्वयम् अकारण ही पालन करने वाला अथवा धन का पालन करने वाला) विशेषण का प्रयोग करते हुए पवित्र करने वाला और धन वैभव और सर्वविध पुष्टि देने वाला माना गया है।[३]

अग्नि की इन अति विशिष्ट विशेषताओं के कारण अग्नि को समस्त इन्द्रियों का कारण[४] इन्द्रिय रूप शरीरस्थ देवताओं का रथ[५] धुर्य[६] धाता अर्थात् पालन करने वाला[७] रक्षोहार, सपत्नहा और शरीर को पार करने वाला साथ ही पीड़ा को हरने और पवित्रता देने वाला भेषज आदि विशेषणों से विशेषित किया जाता है।[८]

वनस्पतियों में जिस अश्वत्थ पीपल को देव वृक्ष अथवा ब्रह्म का आवास वृक्ष कहा जाता है उस अश्वत्थ की उत्पत्ति ऐतरेय ब्राह्मण में तेजस् अर्थात् अग्नि से ही बतायी गयी है।[९] स्मरणीय है कि अश्वत्थ अर्थात् पीपल को शरीर की अधिक उष्णता को दूर करने वाला पित्त और श्लेष्म जन्य रोग, व्रण, रक्त दोष को दूर करने वाला, योनि का शोधक तथा सौन्दर्य को बढ़ाने वाला कहा गया है।[१०]

इसकी एक जाति पारिष को कफ और शुक्र को बढ़ाने वाला माना गया है।[११] वेलिया जाति के पीपल को मल को बांधने वाला, विष के प्रभाव, पित्त और कफ को जीतने वाला माना गया है।[१२] इतना ही नहीं आयुर्वेद के आचार्य मानते हैं कि बोधि वृक्ष (पीपल) के कषाय को प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में मधु के साथ लेने से भयंकर त्रिदोषज वातरक्त भी दूर हो जाता है।[१३] यह आरोग्यदायी चमत्कार अग्नि का है क्योंकि पीपल अग्नि तत्त्व से ही उत्पन्न और अग्नि तत्त्व प्रधान वृक्ष है।

---

१. ऋग्वेद ६।६६।१६, यजुर्वेद १६।३८; ३५।१६
२. यजुर्वेद १६।४०—४३
३. यजुर्वेद ८।३८
४. ऐतरेय १।२२,२।३
५. कौषीतकी ब्रा० ५।१०
६. (क) शतपथ ब्रा० १।१।२।१०, (ख) तैत्तिरीय ब्रा० ३।२।४३
७. तैत्तिरीय ब्रा० ३।३।१०।२
८. अथर्ववेद ८।२।२८
९. ऐतरेय ब्राह्मण ७।३२
१०. भावप्रकाश नि० ५।३—४
११. भावप्रकाश नि० ५।४
१२. भावप्रकाश नि० ५।७—८
१३. चरक चि० २६।१५८

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल के ऋषि मुनि और आचार्य आरोग्य की रक्षा के लिए और रोगों के निवारण के लिए अग्नि का विविध प्रकार से प्रयोग करते रहे हैं।

जल से स्वास्थ्य-प्राप्ति–

स्वास्थ्य–रक्षा अथवा रोग को दूर करके पुनः पूर्ण स्वास्थ्य–प्राप्ति के लिए जल का महत्त्व भी सूर्य चन्द्र या वायु अग्नि से किसी प्रकार कम नहीं है। वैदिक ऋषियों ने जल को आप, अम्बु, नीर, जल, उदक, वारि, सलिल, पानीय, तोय, पयस् आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया है। जीवन का संरक्षक होने के कारण इसका एक नाम जीवन और अमृत भी है।[१] जल का एक नाम 'कम्' भी है जिसके अन्य अर्थों में एक सुख भी है।[२] जल और सुख इन अर्थों का साहचर्य सम्भवतः जल की सुखदायकता के कारण हुआ होगा।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में जल को अमृत का उपस्तरण और अपिधान अर्थात् ओढ़ना और बिछौना कहा गया है।[३] यजुर्वेद के एक मन्त्र में जल को अभीष्ट का देने वाला, पालन करने और कल्याण की सर्वतोव्यापिनी वर्षा करने वाला कहा गया है।[४] यजुर्वेद में ही इसे सर्वश्रेष्ठ दिव्य औषधि कहा गया है।[५] जल के देवता वरुण को वहीं औषधियों का स्वामी कहा गया है।[६] उसे औषधियों का स्वामी कहने का औचित्य तभी है जब जल को भेषज माना जाना सुनिश्चित है। वहीं एक मन्त्र में उसे चिकित्सा करने वाला स्वीकार किया गया है।[७]ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी जल में अमृत होने से उसे सभी रोगों की औषध और सभी के लिए कल्याणकारी बतलाया गया है।[८] वहीं एक मन्त्र में माना गया है कि जल हमारे शरीर में औषध तत्त्वों को पहुँचाता है, जिससे हम चिरकाल तक नीरोग होकर जीवन–यापन कर सकते हैं।[९] यह भी कहा गया है कि हममें जो रोग और रोग के बीज हैं जल उसे हमारे शरीर से निकाल कर फेंक दें।[१०]

आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य भावमिश्र के अनुसार जल से थकावट और सुस्ती

---

१. भावप्रकाश नि० ११।१–२

२. अव्यायार्थ

३. आश्वलायन गृह्यसू० १।२४।१२,२१

४. यजुर्वेद ३६।१२

५. यजुर्वेद १६।५

६. यजुर्वेद २१।४०

७. यजुर्वेद १६।८०

८. ऋग्वेद १।२३।१६

६. ऋग्वेद १।२३।२१

१०. ऋग्वेद १।२३।२२

दूर होती है। मूर्च्छा, प्यास, तन्द्रा, अजीर्ण, वमन और कब्ज दूर होता है, अतिनिद्रा को भी जल हटाता है। इतना ही नहीं, वह बलकारी हृदय को स्वस्थ और सबल बनाने वाला है। रक्त का उपादान रस इसमें भरा है साथ ही रस का कारण भी है, इसी कारण यह अमृत के समान जीवनदायक है।[१] जल की प्राप्ति दो प्रकार से होती है। आकाश से वर्षा, करका और ओस, बरफ के माध्यम से तथा भूमि से निकाला गया जल[२]। नदियों में यद्यपि इन दोनों प्रकार का जल प्रवाहित होता है, तथापि प्रत्येक नदी के जल के गुणों में भी कुछ–कुछ अन्तर है। प्राचीन आचार्यों ने चिकित्सा के क्रम में इनके गुणों पर गहन अनुसन्धान करके उपयोगी ज्ञान प्राप्त किया था। उनके अनुसार दिव्य अर्थात् आकाश से प्राप्त जल के भेदों में करका (ओला), हिम (बरफ) और तुषार (ओस) से प्राप्त जल की अपेक्षा धारा जल अर्थात् वर्षा का जल अधिक गुणकारी होता है।[३]

वर्षा का जल संग्रह करने के लिए धुला हुआ निर्मल वस्त्र वर्षा के समय फैला कर बांध दिया जाता है और उसके नीचे मध्य में बड़ा चौड़े मुख का जलपात्र रख दिया जाता है। फैले हुए वस्त्र पर गिर कर वर्षा–जल वस्त्र के मध्य में सिमटता हुआ बीच में गिरकर पात्र में एकत्र हो जाता है। इसे सोने, चांदी, ताम्र, स्फटिक, कांच अथवा मिट्टी के बर्त्तन में संगृहीत करके सुरक्षित कर लिया जाता है।[४] उनके अनुसार धारा–जल त्रिदोष–नाशक अर्थात् वात, पित्त, कफ में किसी एक दोष के कारण अथवा दो दोषों के कारण अथवा तीनों दोषों के कुपित होने के कारण उत्पन्न रोगों के लिए भेषज है। इसके रस का वर्णन करना संभव नहीं है। यह सुपाच्य, सोम गुण युक्त अर्थात् शान्तिदायक दूसरे शब्दों में बेचैनी को दूर करने वाला, रसायन, बलकारी, तृप्तिदायी, जीवन में प्रसन्नता भरने वाला पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला और बुद्धिवर्धक होता है। इसके प्रयोग से मूर्च्छा, तन्द्रा, दाह, थकावट, सुस्ती और तृषा आदि रोग दूर होते हैं।[५] इन आचार्यों का मानना है कि धारा–जल यदि आश्विन मास में संगृहीत किया जाये तो वह विशेष गुणकारी होता है। प्राचीन आचार्य आश्विन मास में एकत्र किये गये इस जल को सभी रोगों की औषध मानते थे और उससे सब रोगों की निवृत्ति करते थे।[६] उनका मानना है कि आश्विन से भिन्न महीनों में अथवा असमय होने वाली वर्षा का जल गुणकारी नहीं होता, अपितु वह त्रिदोषकर भी हो सकता है।[७]

---

१. भाव प्र० नि० ११।३
२. भाव प्र० नि० ११।४
३. भाव प्र० नि० ११।५
४. भाव प्र० नि० ११।६–७
५. भाव प्र० नि० ११।८–९
६. भाव प्र० नि० ११।१०–१३
७. भाव प्र० नि० ११।१७–१८

प्राचीन आचार्य करका अर्थात् ओले के जल को अमृत के समान हितकर मानते हैं, यद्यपि अधिक शीतल गुण वाला होने से जहाँ वह पित्तहर है वहीं कफ, वात को बढ़ाता भी है।[1] पृथिवी से प्राप्त जल, जांगल अर्थात् जङ्गल में भूमि से निकाला गया, आनूप अर्थात् ग्राम और वन के समीपस्थ भू भाग से प्राप्त जल एवं साधारण अर्थात् ग्रामों नगरों में भूमि से प्राप्त जल के भी प्राचीन आचार्यों ने अलग–अलग गुण माने हैं। इनमें जाङ्गल जल रूक्षता उत्पन्न करता है और पित्तकारक है। अग्नि को बढ़ाता है, कफ की भी वृद्धि करता है। अनेक विकारों को भी दूर करता है। अनूप जल को वे हितकर नहीं अपितु विकार कारक मानते हैं। उनके अनुसार साधारण जल तृप्तिकर, भोजन में रुचि बढ़ाने वाला, तृषा और दाह का शमन करने वाला है तथा त्रिदोषहर होता है।[2]

नदियों के जलों में हिमालय से निकली हुई गंगा, सतलज, सरयू, यमुना आदि के जल को वे गुणशाली मानते हैं। सह्य पर्वत से निकलने वाली वेणी (कावेरी), गोदावरी आदि का जल कुछ (अल्प मात्रा में) कफ और वात का शमन करता है, जबकि वह कुष्ठ रोग को भी उत्पन्न करता है। वे यह भी मानते हैं कि स्थान–भेद से नदी के जल के गुणों में दोष गुण में अन्तर होता है।[3] प्राचीन आचार्यों ने इसके अतिरिक्त विविध नदियों, भू–स्रोत, झरना, सरोवर (झील), तडाग, वापी, कुआं, चौण्ड अर्थात् लता वृक्षों से ढके हुए पहाड़ी गड्ढे, सामान्य भूखण्ड के गड्ढे, नदी के तटीय कुओं का जल, खेतों में भरा जल तथा सामान्य वर्षा आदि के जल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में आरोग्य की रक्षा एवम् आरोग्य की प्राप्ति के लिए उनके जल का प्रयोग किया जाता था। विशेष उपयोगिता न होने से यहाँ उसका वर्णन नहीं किया गया है। इस प्रसंग में आयुर्विज्ञान के चरक, आयुर्वेद महोदधि, अष्टांग हृदय, अष्टांग संग्रह आदि अधिकांश ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रकार के विविध प्रकार के जलों के गुणों का वर्णन यथास्थान द्रष्टव्य है।

जल के विविध प्रयोग–

प्राचीन काल से आज तक जल का प्रयोग अनेक रूप में किया जाता है। जल का मुख्य प्रयोग पीने और आहार आदि के संसाधन आदि में होता है। इसी दृष्टि से जल के गुणों का विवरण प्राचीन आचार्यों ने दिया है। जिसका प्रतीक रूप से परिचय पूर्व पृष्ठों में किया गया है। जल का दूसरा मुख्य प्रयोग स्नान आदि शरीर शुद्धि की क्रियाओं के लिए होता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में गहरे जल में प्रवेश करके अवगाहन

---

१. भाव प्र० नि० ११।१९–२०

२. भाव प्र० नि० ११।२६–३२

३. भाव प्र० नि० ११।३५–३६

करने से शरीर रस से आप्लावित हो जाता है ऐसा वर्णन मिलता है।[1] जिस प्रकार कुछ
आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सक जल, तेल आदि को विविध रंग की बोतलों में भर कर उसे सिद्ध करके औषध के रूप में उपयोग करते हैं। इस प्रकार का प्रयोग सूर्य की किरणों से जल को भावित करके वैदिक ऋषि पूर्व काल से करते आये हैं। इस प्रसंग में ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है–

अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्।[2]

अर्थात् यह जो जल सूर्य की किरणों में है, गिरते हुए जल की धारा को लांघ कर पड़ने वाली किरणों में जो जल का प्रभाव है तथा जिस जल के साथ सूर्य की किरणें हैं, अर्थात् सूर्य की किरणों से संसाधित जल हमें अध्वर (अंहिसित) अर्थात् मृत्यु से सुरक्षित बनाये।"

इस मन्त्र से विदित होता है कि वैदिक ऋषि जीवन–रक्षा के लिए जल और सूर्य की किरणों का संयुक्त प्रयोग दो प्रकार से करते थे। प्रथम प्रयोग कृत्रिम जलप्रपात बनाकर जलधारा को पार करके आई हुई सूर्य की किरणों का शरीर पर प्रयोग। इसी का संक्षिप्त और सरल प्रयोग प्रातः काल या स्नान के बाद सूर्य को अर्घ्य देने का धर्म की भावना से प्रचलन है, जिसमें कुछ सूर्य की किरणें जल को पार करके अर्घ्य देने वाले के शरीर पर पड़ती हैं। दूसरा प्रयोग जल को सूर्य की किरणों से भावित करके किया जाता रहा है। सम्भवतः इसी कारण पुराने घरों में जलाधार जिसे अवध की हिन्दी भाषा में घनौची कहते हैं, आंगन के उत्तरी भाग में ऊँचा चबूतरा निर्मित करके बनाया जाता रहा है। जहां दिन में सामान्यतः सात आठ घण्टे जल से भरे हुए पात्रों पर सूर्य की किरणें पड़ती थीं। जल–संग्रह के ये पात्र अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार स्वर्ण, रजत, ताम्र और लोहे के होते थे। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है स्वर्ण पात्र में (भावित) रखा हुआ जल हृदय रोगों से, रजत पात्र में भावित जल श्वसन–संस्थान के जुकाम आदि रोगों से एवं ताम्र पात्र में भावित जल उदर रोगों से मुक्ति दिलाता है। इसी कारण नदियों में चांदी या ताम्बे के सिक्के डालने और रजतपात्र में जल पीने अथवा ताम्रपात्र में जल रखकर पीने की परम्परा आज भी प्रचलित है। आयुर्विज्ञान के ग्रन्थों में दिव्य (वर्षा के) जल को संग्रह करके स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के पात्रों में रखने का निर्देश किया गया है जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

अथर्ववेद के ऋषि भृगु–अङ्गिर एवम् ऋग्वेद के जमदग्नि मानते हैं–'जल उत्तम औषधि है। इसमें कोई सन्देह का अवसर नहीं है, समस्त रोगों को यह अकेले ही दूर

---

१. ऋग्वेद १।२३।२३
२. ऋग्वेद १।२३।१७

करता है। इसके प्रयोग से आनुवंशिक अर्थात् वंश परम्परा से प्राप्त रोग भी दूर होते हैं।[1] अथर्ववेद के एक अन्य ऋषि शन्ताति का मानना है कि हिमालय से निकल कर समुद्र में मिलने वाली जलधाराएं (नदियाँ) दिव्य धाराएँ हैं। इनका सेवन करने से हृदय की पीड़ा दूर होती है। इसके अतिरिक्त आँखों, एड़ियों और पैरों में होने वाली पीड़ा इन सबको वैद्यों में भी सर्वोत्तम जलरूपी वैद्य मिटा देता है।[2] अथर्ववेद के ही एक अन्य ब्रह्मा नामक ऋषि का विश्वास है कि पर्जन्य के जल के प्रयोग से बिस्तर पर पड़ा हुआ व्यक्ति भी उठ खड़ा होता है और सभी पापों और रोगों से मुक्त होकर अमर हो जाता है अर्थात् सुदीर्घ जीवन प्राप्त करता है।[3]

अथर्ववेद का पूर्वोक्त ऋषि ब्रह्मा अनभ्र जल के प्रकारों में भूमि को बहुत गहराई तक खोद कर नीचे से निकाले गये जल को आरोग्य लाभ के लिए बहुत उपयोगी मानता है तथा उस जल को भिषजों में श्रेष्ठतर भिषक् के रूप में स्वीकार करता है।[4] यद्यपि वह धन्वन् अर्थात् ऊषर या रेगिस्तान में प्राप्त वनों के समीपवर्त्ती भूभागों के कुओं के तथा घड़ों में भर कर रखे गये जल का भी स्वास्थ्य के लिए कल्याणकारी उपयोग जानता है।[5] इसी तथ्य को अथर्वा ऋषि ने भी दोहराया है।

अथर्ववेद में विविध प्रकार के जलों का उल्लेख और उसकी कल्याणकारी तथा रोग–निवारक क्षमता का अनेक बार गुणगान हुआ है। उन्नीसवें काण्ड के दूसरे सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में हिमालय के जल, उत्स अर्थात् स्रोत के जल, प्रवाहित होने वाले जल, वर्षा के जल, रेगिस्तान के जल, नगर और वनों के मध्यवर्त्ती प्रदेशों (आनूप्य) के जल, कूप जल, घड़ों में रखे जल के तथा बहुत गहरे भूमिभाग से खोद कर निकाले गये जल के कल्याणकारी और रोग–निवारक होने का कथन करके स्वच्छ जल को वैद्यों से भी श्रेष्ठतर कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि दिव्य अथवा स्रोत के जल का उपयोग करके मनुष्य नीरोग और घोड़े के समान शक्तिशाली हो सकता है।[6]

रक्तप्रवाह एवम् अतिशय पीड़ादायी विद्रधि फोड़ा आदि के लिए विविध प्रकार के जल और रस तीव्र औषधि हैं। इनके द्वारा रोग–पीड़ित भाग पर जलधारा गिराना अथवा उस पर पानी की पट्टी रखना अतिशय लाभकारी होता है। इनका प्रयोग करने से तत्काल पीड़ा कम हो जाती है और रोगी का रोना चिल्लाना बन्द हो जाता है। शल्य व्रण इसके प्रयोग से अति शीघ्र ठीक होता है।[7] यजुर्वेद के प्रजापति नामक ऋषि मानते

१. (क) अथर्ववेद ३।७।५, (ख)ऋग्वेद १०।१३७।६
२. अथर्ववेद ६।२४।१–२
३. अथर्ववेद ३।३१।११
४. अथर्ववेद १६।२।३
५. अथर्ववेद १६।२।२, अथर्ववेद १६।६६।१
६. अथर्ववेद १।६।४
७. (क) अथर्ववेद १६।२।१–४ (ख) अथर्ववेद ६।५७।१–२

हैं कि जल हमारे रोगों और रोग के कारणों को दूर कर देता है। इस प्रकार वह हमारी माता के समान है।[1] अथर्ववेद के ब्रह्मा नामक ऋषि एक स्थल पर मनुष्यों को सम्पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक जीने के लिए तथा प्राणहर व्याधियों से जल के द्वारा सुरक्षित होकर सम्पूर्ण आयुष्य के लिए जीवित रहने और दूसरों को जीवित रखने का विश्वास रखते हैं।[2] यजुर्वेद के सिन्धुद्वीप नामक ऋषि जल को स्थिरता और सुख देने वाला, शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करने वाला मानते हैं। उनका मानना है कि जिस प्रकार माता अपने शिशु को सर्वाधिक सुख और संरक्षण देते हुए अपने दूध से उसका पालन करती है उसी प्रकार जल सर्वाधिक कल्याणमय रस से हमें युक्त करता है। इसलिए हमें चाहिए कि हम उस कल्याणमय रस से सम्पूर्ण रूप से लाभ उठायें। उस रस से ही सम्पूर्ण विश्व तृप्त होता है। हम भी उससे कल्याण और तृप्ति प्राप्त करें।[3]

वेद, संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जल–चिकित्सा के संकेत मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में जल को अमृत कहा गया है।[4] ऐतरेय, शतपथ और कौषीतकी आदि ब्राह्मणों में भी बार–बार इसे अमृत घोषित किया गया है।[5] उनके अनुसार शरीरस्थ सभी देवता अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति का मूल आधार जल ही है।[6] इसी कारण ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों में जल को सर्व देवमय अर्थात् रस के माध्यम से सभी इन्द्रियों के मूल में विद्यमान माना गया है।[7]

ब्राह्मण ग्रन्थ के ऋषियों का मानना है कि जल वज्र के समान अमोघ है इसलिए वह वज्र स्वरूप है।[8] इस जल रूपी वज्र से रोग रूपी असुरों का ऋषियों ने संहार ही किया है।[9] इसलिए जल को रक्षोघ्न कहा जाता है।[10] शारीरिक और मानसिक सर्वविध रोगों का शमन करके जल सब को शान्ति प्रदान करता है इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे शान्तिप्रद औषध अथवा शान्तिरूप कहा गया है।[11]

---

१. यजुर्वेद ४।५
२. अथर्ववेद १६।६६।१
३. यजुर्वेद ११।५०–५२, ३६।१४–१६
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।६।३
५. (क) ऐतरेय ब्रा० ८।२०, (ख) शतपथ ब्रा० १।६।३।७, ३।६।४।१६, ४।४।३।१५ गोपथ उत्तर ३।१ (ग) कौषीतकी ब्रा० १२।१
६. तैत्तिरीय ब्रा० ३।२।४।२
७. (क) ऐतरेय २।१६, कौषीतकी ११।४, तैत्तिरीय ३।२।४।३, ३।३।४।५, ३।७।३।४, ३।६।७।५ (ख) शतपथ १०।५।४।१५, (ग) शतपथ १।१।३।७
८. शतपथ १।१।१।१७, ३।१।२।६, ७।५।२।४१ तैत्तिरीय ३।२।४।२
९. शतपथ १।१।३।८
१०. तैत्तिरीय ३।२।३।१२, ३।२।४।२, ३।२।६।१४
११. (क) गोपथ उ० १।२, कौषीतकी ३।६।६ (ख) ऐतरेय ७।५, (ग) ताण्ड्य ब्रा० ८।७।८, (घ) शतपथ १।२।२।११, ३।३।१।७, २।६।२।१८ (ङ) षड्विंश ब्रा० ३।१

वस्तुतः जल और प्राण का कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। जल के बिना प्रत्येक प्राणी मनुष्य पशु पक्षी वनस्पति सभी मुरझा जाते हैं, ग्लान हो जाते हैं। व्याकरण महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि तो प्राणी की परिभाषा ही यही करते हैं कि जो जल के बिना ग्लानि को प्राप्त करे।[१] जल के बिना किसी प्राणी के प्राण स्थिरता खोने लगते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता ऋषियों ने जल को ही लक्षणा से प्राण कहा है।[२] जैसा कि पहले लिखा गया है, अन्न का रस जलरूप प्रथम धातु है, शरीर में उसका अन्तिम परिणाम रेतस् है। इसे ही वीर्य भी कहते हैं। वीर्य पर्यन्त सभी धातुओं की उत्पत्ति और परिणाम का मूल उपादान जल ही है। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे वीर्य और रेतस् नाम से भी स्मरण किया गया है।[३] जल की इस अद्भुत आरोग्य–रक्षक शक्ति को देखक शतपथ ब्राह्मण के ऋषि ने जल के देवता वरुण को आयु के नाम से भी अभिहित किया है।[४] इस प्रकार जल से शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति, इन्द्रियों की सबलता, क्रियाशीलता होने और रस से वीर्य पर्यन्त धातुओं के उत्पादन में कारणता, आयुष्यप्रदता आदि कारणों से भी ब्राह्मण ग्रन्थों में जल को सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला तक स्वीकार किया गया है।[५]

चिकित्सा के प्रसंग में जल का एक और प्राकृतिक प्रयोग प्रसव के प्रसंग में प्राचीन काल में किया जाता था, यह प्रयोग है—जल में प्रसव, गर्भ में शिशु भ्रूण में स्थिर तरल द्रव के अन्दर तैरता सा रहता है। इस आधार पर यूरोप के आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक जल में प्रसव कराने की कल्पना करने लगे हैं। इससे नव प्रसूत शिशु को कठोर भूमि के स्पर्श से सम्भावित चोट आदि का भय न रहेगा। गर्भ–काल में तैरने का स्वभाव होने के कारण जल में प्रसूत शिशु के डूबने की सम्भावना होनी ही नहीं चाहिए। ऐसा उनका मानना है। इस चिन्तन को चिकित्सा के क्षेत्र में नवीन चिन्तन माना जा रहा है। किन्तु यह भवभूति के उत्तररामचरितम् में विद्यमान है। भवभूति के अनुसार सीता के गर्भ से लव और कुश का जन्म गंगा प्रवाह में हुआ था।[६]

आयुर्विज्ञान के आचार्यों के अनुसार ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा मुख्यतः जल के द्वारा ही होती है। इसके लिए महर्षि चरक ने शीतल जल वाली कल्याण कारक नदी

---

१. महाभाष्य २।४।१।६

२. शतपथ ३।८।२।४, तैत्तिरीय ३।२।५।२, ताण्ड्य ६।६।४, जैमिनीय ३।१०।६

३. (क) शतपथ ५।३।४।१ (ख) ऐतरेय १।३ (ग) शतपथ ३।८।४।११, ३।८।५।१

४. शतपथ ४।१।४।१०

५. (क) शतपथ १०।५।४।१५ (ख) गोपथ पू० १।२

६. उ० रामचरितम् पृ० १५६

में बहाव के विपरीत तैरना या जल में चलना अथवा बहाव रहित जल में बारम्बार तैरना उपाय बताया है। उनके अनुसार ऐसा करने से ऊरु प्रदेश में फंसा हुआ कफ सूख जाता है और रोग शान्त हो जाता है।[1] यहाँ सन्देह हो सकता है कि जल–सम्पर्क से कफ वृद्धि होती है। अतः जल में तैरने से कफ का क्षय कैसे होगा और फिर रोग–निवृत्ति कैसे होगी? इस शंका का समाधान चरक के टीकाकार आचार्य चक्रपाणि इस प्रकार देते हैं–"जल के द्वारा बाहर निकलने वाली ऊष्मा का निरोध होता है। वह ऊष्मा पलट कर अन्दर को जाती है, फलतः उससे कफ–समूह का भेदन होता है। इसी प्रकार तैरने की क्रिया से भी श्लेष्मा (कफ) का भेदन होता है।[2] महर्षि चरक ने स्वयं कहीं–कहीं विवेक पूर्वक विरुद्ध प्रतीत होने वाली क्रिया को भी चिकित्सार्थ अभिमत माना है।[3]

शोथ रोग में महर्षि चरक ने सूर्य की ऊष्मा से तप्त जल से स्नान को प्रशस्त उपचार माना है। इस स्नान से पूर्व वे औषध द्रव्यों के क्वाथ से स्वेदन भी कराते हैं। जिसमें द्रव्य जल अग्नि तीनों का प्रयोग होता है।[4] वे पित्तज शोथ में अभ्यंग कराकर रवितप्त जल से स्नान का विधान करते हैं।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से ही प्राचीन आचार्यों ने जल का चिकित्सा क्रम में बहुत प्रकार से प्रयोग किया है।

पृथिवी (मिट्टी) का चिकित्सा में प्रयोग

वैदिक साहित्य में पृथिवी को माता कहा गया है।[6] जिस प्रकार माता की गोद में पहुँचने पर शिशु अपनी सब व्यथा भूल जाता है, उसी प्रकार पृथिवी माता का स्पर्श अर्थात् स्वच्छ भूमि पर चलने फिरने, स्वच्छ मृत्तिका का लेप करने आदि से शरीर की सभी पीड़ाएं (रोग) दूर होती हैं। ऐसा वैदिक ऋषियों का विश्वास रहा है, जिसके सूत्र हमें वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आयुर्विज्ञान के ग्रन्थों में मिलते हैं।

वैदिक ऋषियों ने भूमि के तीन तल माने हैं। प्रथम तल का नाम उन्होंने रेवती दिया है, जिसमें पेड़ पौधे उगते हैं, खेती होती है। वनस्पतियों की जड़ें पृथिवी के इस रेवतीतल में ही रहती हैं। दूसरा तला अनाधृष कहलाता है, यह मध्य का तल पानी की सतह के ऊपर तक रहता है। तीसरा तल सिषासु कहलाता है। अथर्ववेद के ऋषि सन्ताति कहते हैं कि 'ये जो तीन पृथिवियां अर्थात् पृथिवी के तल हैं उनमें भूमि अर्थात् ऊपरी तल है, जो पृथिवी की त्वचा के समान है और वनस्पतियों से भरा रहता है, वह उत्तम भेषज है। यद्यपि रोग निवारक तीनों ही हैं। इनसे त्वचा के रोग दूर होते हैं और

१. चरक चि० २७।५९–६०
२. चरक चि० २७।५९–६० पर चक्रपाणि टीका
३. चरक चि० ३०।३२२
४. चरक चि० १२।६७
५. चरक चि० १२।६६
६. तैत्तिरीय २।४।६।८

केश बढ़ते हैं, दृढ़ होते हैं, उनका गिरना झरना रुक जाता है।[1] स्मरणीय है कुछ वर्ष पूर्व तक पंजाब, हरियाणा आदि प्रदेशों में स्त्रियाँ मुल्तानी मिट्टी भिगो कर उससे बाल धोती थीं और उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में इस कार्य के लिए काली मिट्टी, तालाब की सूखी मिट्टी और उसके अभाव में पीली मिट्टी जिसे पिंडोर कहते हैं, का प्रयोग किया जाता था। अथर्ववेद के ऋषि का मानना है कि प्राण रक्षक विद्या को जानने वाले असुर नीचे तक पृथिवी खोद कर जो जल युक्त मिट्टी निकालते हैं, वह मिट्टी बड़े–बड़े व्रणों की भी उत्तम औषधि है, वह व्रण रोग को समूल नष्ट कर डालती है।[2]

उपजीका नामक कीट समुद्रतल से आहार लेकर जो उद्गिरण करते हैं (उगल कर गृह–निर्माण करते हैं) उसे मूंगा या प्रवाल नाम से प्रायः जाना जाता है। वह आस्राव अर्थात् बढ़े हुए रक्तस्राव की भेषज है। वह प्रत्येक प्रकार के रक्तस्राव की उत्तम औषध है।[3] इसी प्रकार पृथिवी के ऊपरी तल की मिट्टी व्रण (फोड़ा) आदि विशेषतः अंगुलवेड़ा जिसे विषहरी भी कहते हैं, की महौषधि है, यह रोग को नष्ट कर डालती है।[4]

आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य चरक और सुश्रुत वनस्पतियों के अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञाता थे। अतः उन्होंने शोधन के बाद वनस्पतियों के प्रयोग की चर्चा ही अधिक की है। तथापि वे मिट्टी का प्रयोग भी वनस्पतियों के अभाव में और कभी–कभी वनस्पतियों के साथ–साथ करते थे। आचार्य सुश्रुत सर्प विष की चिकित्सा के क्रम में निर्दिष्ट अगदों औषधियों को दूध, मधु और घृत के साथ पिलाने का निर्देश करते हुए कहते हैं कि यदि अपेक्षित अगद प्राप्त न हो तो काली मिट्टी अथवा वल्मीक (दीमकों द्वारा बनाये गये घर) की मिट्टी पिलाये, इससे भी सर्प विष का दोष शान्त हो जायेगा।[5]

आचार्य चरक ऊरुस्तम्भ रोग में करञ्ज का मूल, फूल और त्वचा (छाल) के चूर्ण के साथ वल्मीक की मिट्टी और ईंट का चूरा मिलाकर प्रलेप या उत्सादन करने का निर्देश करते हैं।[6] इसी रोग की चिकित्सा के लिए वे असगन्ध की जड़, मदार की जड़, नीम की जड़ और देवदारु की जड़ इनमें से जो भी उपलब्ध हो उसके चूर्ण के साथ मधु पिसी सरसों और वल्मीक की मिट्टी मिलाकर प्रलेप या उत्सादन करने का निर्देश करते हैं।[7]

इन कुछ सन्दर्भों को देखने से पता चलता है कि प्राचीन काल में ऋषि मुनि और

---

१. अथर्ववेद ६।२१।१–३
२. अथर्ववेद २।३।३
३. अथर्ववेद २।३।४
४. अथर्ववेद २।३।५
५. सुश्रुत कल्प ५।१७
६. चरक चि० २७।४६
७. चरक चि० २७।५०–५१

आचार्य चिकित्सा के प्रसंग में मृत्तिका का आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार का प्रयोग यथावसर करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त मिट्टी के पात्र में रखकर भावित जल का प्रयोग भी स्वास्थ्य का एक अंग रहा है। इन सभी प्रयोगों से होने वाले आरोग्य के कारण पृथिवी के प्रति मातृ भावना पुष्ट होती थी। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी को पूषा नाम से अभिहित किया जाता रहा है, क्योंकि वह सबका विविध प्रकार से पोषण करती है।[1]

हाथ के सम्पर्क से सूक्ष्म किरणों द्वारा चिकित्सा

आजकल प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करने वाले चिकित्सक, एलोपैथिक–यूनानी अथवा आयुर्वेदिक आदि क्रम से बनी हुई औषधियों का प्रयोग न करने वाली सभी चिकित्सा–विधियों को प्राकृतिक चिकित्सा में सम्मिलित करना चाहते हैं। आसन, प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाएं, चुम्बक चिकित्सा, एक्यूप्रेशर के उपाय इत्यादि को वे प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इसी क्रम में वर्तमान समय में रेकी चिकित्सा विधि भी है, जिसमें रोगी को शवासन में लिटाकर अथवा जिस स्थिति में वह सहज रह कर शिथिलित हो सके उस स्थिति में बैठाकर या लिटाकर रोगी के शरीर के विविध भागों पर विशेषतः विशेष रोगग्रस्त शरीर के अंग विशेष का स्पर्श करते हुए अथवा बिना स्पर्श किये अपना हाथ रखते हुए चिकित्सक अपना चित्त एकाग्र करते हैं और भावना करते हैं कि उसके शरीर से हाथ के माध्यम से आरोग्यदायी किरणें निकलकर रोगी के शरीर पर विशेषतः विशेष रोगग्रस्त अवयव पर पड़ रही हैं और रोगी को स्वस्थ कर रही हैं। इस विधि से रोगी को स्वास्थ्यलाभ होता भी है। कुछ प्राकृतिक चिकित्सक इस विधि का प्रयोग यथावसर कर रहे हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ ऐसे मन्त्र प्राप्त हैं जिनसे पता चलता है कि इस प्रकार की हस्त–किरण चिकित्सा–विधि का वैदिक काल में भी प्रयोग होता था। इस विधि से वैदिक ऋषि अधिक रोग पीड़ित व्यक्ति को सुला भी देते रहे हैं जिससे रोगी पीड़ा से बचकर स्वास्थ्य लाभ कर सके। इस विधि से चिकित्सा प्रारम्भ करते हुए वे सर्वप्रथम प्रार्थना करते थे–"सब देवगण, मरुत्गण और भूतगण इस रोगी की रक्षा करें जिससे यह शीघ्र नीरोग हो जाये।[2] इसके अनन्तर वे रोगी को सम्बोधित कर कहते हैं। हे रोगी! मैं तेरे पास कल्याण करने वाले और विनाश को दूर करने वाले सामर्थ्य के साथ आ गया हूँ। अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूँ और तेरा रोग दूर करता हूँ।[3] इसके बाद वे अपने हाथ के सम्बन्ध में रोगी से कहते थे–**'अयं मे हस्तो भगवायं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्व भेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।।"**[4] अर्थात् यह मेरा हाथ भगवान् है। भगवान् से भी बढ़कर है इसमें एक साथ सभी औषधियों के गुण विद्यमान हैं। मेरा यह हाथ शुभ मंगल को बढ़ाने वाला है। इसके अनन्तर दस शाखाओं से युक्त हाथों के पूर्व जिह्वा से वाणी को तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए प्रेरित करता हूँ और इन

---

१. (क) शतपथ ब्रा० २।५।४।७, ३।२।४।१९, ६।३।२।८ इत्यादि तैत्तिरीय १।७।२।५
 (ख) शतपथ १४।४।२।२५
२. अथर्ववेद ४।१३।४
३. अथर्ववेद ४।१३।५
४. अथर्ववेद ४।१३।६

आरोग्यदायक हाथों से तुम्हारा स्पर्श करता हूँ।[१] ऐसा कह कर वे रोगी के अंगों पर कल्याणमयी किरणों की वर्षा करते थे। इस प्रकार के कुछ सन्दर्भ हस्तस्पर्श–चिकित्सा जो वर्तमान रेकी के समानान्तर प्रतीत होती है, का वैदिक काल से उपयोग होता रहा है।

दीर्घायुष्य–

आयुर्विज्ञान का मुख्य उद्देश्य मनुष्य आदि प्राणियों के आयुष्य को चिरस्थायी बनाना है। इस आयुष्य में स्वास्थ्य और क्रिया–क्षमता दोनों सम्मिलित हैं। दीर्घ आयुष्य के लिए प्राचीन ऋषि मुनियों ने अनेक प्रकार के सफल प्रयोग किये थे। मणि, मन्त्र, औषधि और यज्ञ इनमें प्रमुख थे। अथर्ववेद के ऋषि अथर्वा समुद्र में उत्पन्न शंख को विविध रोगों को दूर करके आयुष्य को देने वाला मानते हैं। वह कहते हैं कि शंख से रोग के जीवाणु, गतिहीनता और पीड़ादायी रोग दूर होते हैं। यह प्रायः सभी रोगों को दूर करके प्राणी को दोष रहित करता है। यह सम्पूर्ण आयुष्य को दुःख रहित करता है तथा बल, वर्चस् से युक्त सौ वर्ष का दीर्घ आयुष्य प्रदान करता है।[२] राजनिघण्टु में शंख को पुष्टि, वीर्य और बलप्रद तथा गुल्म, शूल, कफ, श्वास आदि रोगों को तथा विष के प्रभाव को दूर करने वाला बताया गया है।[३] आचार्य भाव मिश्र के अनुसार यह नेत्रों के लिए हितकारी, शीतल, सुपाच्य, पित्त, कफ और रक्त दोषों को जीतने वाला होता है।[४] नेत्राञ्जनों में अन्य द्रव्यों के साथ घिस कर तथा अन्य अनेक रोगों में इसके भस्म का प्रयोग किया जाता है। शंख को बजाने से पेट की आँतें स्वस्थ और सबल होती हैं, फेफड़े पुष्ट होते हैं और कण्ठ की ग्रन्थियाँ सशक्त होती हैं।

अथर्ववेद के आयुष्काम उन्मोचन नामक ऋषि दीर्घ आयुष्य के लिए रोग के कारण भूत दोषों के विपरीत गुणों वाले भेषज द्रव्यों के अतिरिक्त उचित मात्रा में निद्रा और जागरण को आवश्यक मानते हैं। वह कहते हैं कि ये दोनों मिलकर दिन रात प्राणों की रक्षा करते हैं।[५] अतः स्वास्थ्य चाहने वाले व्यक्ति को उचित मात्रा में सोना और जागना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह प्राण अपान से सम्बन्धित प्राणायाम साधना तथा सूर्य की किरणों के सेवन का भी परामर्श देते हैं।[६] अथर्ववेद के ऋषि ब्रह्मा यज्ञाग्नि का और यज्ञ के प्रसाद का सेवन करके तथा अग्नि के द्वारा वातावरण को परिष्कृत करके वायु मरुत् आदि की सहायता से लोगों को दीर्घायुष्य प्रदान करते रहे हैं।[७]

---

१. अथर्ववेद ४।१३।७
२. अथर्ववेद ४।१०।२–४,७
३. राजनिघण्टु व० १६
४. भाव प्र० नि० ८।१५८
५. अथर्ववेद ५।३०।२,५,१०
६. अथर्ववेद ५।३०।१५
७. (क) अथर्ववेद ७।३२।१ (ख) अथर्ववेद ७।३३।१

अथर्ववेद के ऋषि प्रजापति ओदन का समुचित प्रयोग करके मृत्यु पर विजय

प्राप्त करते रहे हैं।[१] ओदन पकाये हुए चावल को कहते हैं, इसे लोकभाषा में भात कहा जाता है। आयुर्वेद के आचार्य भात (ओदन) को अग्निदीपक, रुचिजनक सुपाच्य और पथ्य मानते हैं।[२] महर्षि चरक प्रायः सभी रोगों में पथ्य के रूप में भात का विधान करते हैं। आचार्य सुश्रुत ने दीर्घायुष्य के प्रसंग में जो कल्प बतलाये हैं। उन कल्पों को करते हुए ओदन (भात) को ही घृत के साथ लेने का निर्देश किया है।[३] इस ओदन का निर्देश करके महर्षि ब्रह्मा ने ब्रह्मौदन का भी निर्देश किया है, जिसका अर्थ है विवेक। विवेक को पूर्णतया जागृत करके मनुष्य क्या नहीं प्राप्त कर सकता है।[४]

भेषज द्रव्यों से चिकित्सा में उपयोग

वयःस्थापन—आयुर्विज्ञान के आचार्यों ने दीर्घायुष्य के लिए अनेक प्राकृतिक उपाय बतलाये हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार शीतल जल, दूध, मधु, घृत इनमें से किसी एक द्रव्य को अथवा किन्हीं दो को अथवा जो भी सुलभ हो उनको अथवा सबको मिलाकर भोजन के पूर्व पीने से वय स्थिर रहता है। वृद्धावस्था और मृत्यु शीघ्र नहीं आती।[५] उन्होंने ही विडङ्ग (वायविडङ्ग) जिसे अंग्रेजी में BABRENG कहते हैं, के चूर्ण को मुलेठी के चूर्ण और मधु के साथ अथवा भिलावे के चूर्ण और मधु के साथ अथवा द्राक्षा क्वाथ और मधु के साथ अथवा आंवले के रस और मधु के साथ अथवा गिलोय के क्वाथ और मधु के साथ प्रातः लेने का निर्देश किया है। उनका कहना है कि औषध के पच जाने पर अर्थात् दो–ढाई घंटे बाद नमक रहित किन्तु घृत युक्त मूंग की दाल और आंवले के साथ थोड़े घृत में बनाया गया ओदन (भात) खाये। इसका एक मास तक प्रयोग करने से आयु में सौ वर्ष की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रयोग से अर्श और कृमि रोग भी दूर होते हैं। बुद्धि की ग्रहण करने और धारण करने की शक्ति भी बढ़ती है।[६]

---

१. अथर्ववेद ४।३५।१–६

२. भावप्रकाश नि० २१।६

३. सुश्रुत चि० २७।७

४. अथर्ववेद ४।३५।७

५. सुश्रुत चि० २७।६

६. सुश्रुत चि० २७।७

मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

जैसी कि अनेक बार चर्चा हो चुकी है वैदिक काल में प्राकृतिक चिकित्सा ही जन सामान्य की सामान्य चिकित्सा–विधि रही है। वैदिक ऋषि स्थानीय रूप से सुलभ प्राकृतिक द्रव्यों (वनस्पतियों) का प्रयोग करते थे। अथर्ववेद का ऋषि अथर्वा शर और उसके उत्पादन में हेतुभूत पर्जन्य आदि पञ्चदेवों का मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र की प्रशस्य भेषज के रूप में प्रयोग करता था।[१] स्मरणीय है कि आयुर्वेद के आचार्यों ने भी शर अर्थात् मूंज और उसकी जाति के कास, गुन्द्र, शिव–गुन्द्र, एरक और कुश सभी को मूत्रकृच्छ्र नाशक माना है।[२] अथर्वा उपर्युक्त शर (मूंज) तथा मेघ आदि के द्वारा मूत्रकृच्छ्र निवारण की चर्चा करके अनेक उपमाओं से चार मन्त्रों में मूत्रकृच्छ्र रोग पर सफलता का कथन करता है।[३]

रक्तस्राव, हृदय रोग, कामला, कुष्ठ-चिकित्सा—

शरीर की छोटी या बड़ी सिरा या धमनी के कटने–फटने पर जो भयकारी रक्तस्राव होता है उसे रोकने के लिए अथर्ववेद के ऋषि दो उपाय बताते हैं। उस धमनी या सिराओं को दबाकर या बांध कर रक्तप्रवाह रोकना अथवा सिकता (मिश्री) का प्रयोग करके रक्तप्रवाह रोकना।[४] स्मरणीय है कि आयुर्विज्ञान के आचार्यों ने भी मिश्री को रक्तरोधक माना है।[५] अथर्ववेद में हृदय रोग एवं हरित अर्थात् कामला रोगों की चिकित्सा सूर्य–किरणों के माध्यम से बतायी है, जिसकी चर्चा इसी अध्याय में हुई है। अथर्ववेद में ही कृष्ण वर्ण वाली रामा, कृष्णा और असिक्नी नाम की तीन वनस्पतियाँ बतायी गयी हैं। इनका लेप करने से श्वेत कुष्ठ दूर होता है और पके बाल काले हो जाते हैं। इनके प्रयोग से कुष्ठ, श्वेत कुष्ठ तथा अनेक प्रकार के श्वेत या काले दाग मिट जाते हैं। भले ही ये दाग हड्डी से उत्पन्न हुए हों अथवा शरीर के बाह्य भाग से, चाहे किन्हीं दोषों के कारण उत्पन्न हुए हों।[६] इसी प्रकार आसुरी नामक वनस्पति का प्रयोग करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है और चमड़ा सामान्य रंग का हो जाता है।[७] इसी प्रकार वहाँ वर्णित श्यामा नामक वनस्पति भी कुष्ठ आदि के दागों को मिटाकर त्वचा का रंग सामान्य बना देती है।[८]

---

१. अथर्ववेद १।३।१
२. (क) भावप्रकाश नि० ३।१६० (ख) भावप्रकाश नि० ३।१६२,१६३
   (ग) भावप्रकाश नि० ३।१६४ (घ) भावप्रकाश नि० ३।१६५, १६६
   (ङ) भावप्रकाश नि० ३।१६७, १६८
३. अथर्ववेद १।३।६–९
४. अथर्ववेद १।१७।१–४
५. भावप्रकाश नि० २३।३२–३३
६. अथर्ववेद १।२३।१,४
७. अथर्ववेद १।२४।२
८. अथर्ववेद १।२४।४

विविध ज्वर–

अथर्ववेद में कम्पन उत्पन्न करने वाले शीत युक्त, अन्येद्यु अर्थात् एक दिन छोड़ कर आने वाले, उभयेद्यु दूसरे दिन आने वाले, तृतीयक तीसरे दिन आने वाले, अर्चि अतिशय तापयुक्त, शोचि एवं शोक अर्थात् शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले, तक्मा जीवन को ही दुःखमय बनाने वाले, शाकल्य–इषि अंग–प्रत्यंग में टूटने जैसी अनुभूति कराने वाले तथा अभिशोक शरीर में असह्य पीड़ा करने वाले, ज्वरों की चर्चा करके उन्हें वरुण पुत्र अर्थात् निवास–स्थान के पास जल एकत्र होने से उत्पन्न होने वाला कहकर इनसे बचने के उपाय का प्रकारान्तर से संकेत कर दिया है कि जो लोग इनसे बचना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे घरों के पास कभी जल एकत्र न होने दें।[१]

जङ्गिडमणि–

अथर्ववेद में जृम्भा, क्षय, शोष, भस्मक आदि रोगों से रक्षा कर दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए जंगिड मणि का उल्लेख किया गया है, इस मणि को धारण करने से ही ये सब रोग दूर हो जाते हैं और शरीर सुखमय होकर सुस्थिर बना रहता है।[२] जङ्गिड मणि वन में उत्पन्न होता है, किन्तु इसी के समान गुणकारी शण खेतों में उत्पन्न होता है। ये दोनों ही हिंसा के प्रभाव से रक्षा करते हैं, रोगों को दूर करते हैं तथा आयुष्य की रक्षा करते हैं।[३]

तारका–

अथर्ववेद में अंगिरागोत्रीय भृगु ऋषि भगवती और तारका नाम की औषधियों को खेतों में बोकर सींच कर उत्पन्न करते थे और यव तथा तिल के साथ प्रयोग करके क्षेत्रिय रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा करते थे।[४] यही ऋषि गठिया वात की चिकित्सा दशवृक्ष (दशमूल)[५] नाम से प्रचलित औषध समूह में श्रीफल अर्थात् बेल, सर्वतोभद्रा–गम्भारी अर्थात् पाटला गणकारिका अर्थात् अग्निमन्थ और श्योनाक ये बृहत्पञ्चमूल[६] तथा शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वार्त्ताकी, कण्टकारी और गोखरू ये लघु पञ्चमूल[७] नाम की वनस्पतियाँ हैं, के द्वारा करते थे।[८]

---

१. अथर्ववेद प्रथम काण्ड २५ वां सूक्त सम्पूर्ण

२. अथर्ववेद २।४।१–४

३. अथर्ववेद २।४।५–६

४. अथर्ववेद २।८।१–३

५. भावप्रकाश नि० ३।४८

६. भावप्रकाश नि० ३।२६

७. भावप्रकाश नि० ३।४७

८. अथर्ववेद २।६।१

पृश्निपर्णी—

यह दशमूल एवं लघु पञ्चमूल समूह में गिनी जाने वाली औषधियों में अन्यतम है। चातन नामक ऋषि इस वनस्पति का प्रयोग करके अनेक दुःखदायक रोगों का और उनके मूल रोगबीज का भी नाश करते थे, जिससे वह रोग फिर न पनप सके। इनके अनुसार पृश्निपर्णी के प्रयोग से विविध रोग और उनके बीज उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे पत्थर लगने से पक्षी का शिर नष्ट हो जाता है, और पक्षी भी शेष नहीं रहता। इस औषधि के द्वारा जो रोग दूर होते हैं, उनमें हैं—शरीर को विकृत कर उसकी शोभा को नष्ट करने वाले पक्षाघात आदि वात रोग। शरीर की पुष्टि को नष्ट करने वाले क्षय और शोष रोग, गर्भ को नष्ट करने वाले रोग, रक्त और मांस को नष्ट करने वाले राजयक्ष्मा जैसे रोग तथा प्राणों का हरण करने वाले विविध रोग।[१] आयुर्वेद के आचार्य पृश्निपर्णी को त्रिदोष नाशक वृष्य तथा दाह, ज्वर, तृषा, श्वास, रक्तातिसार और वमन को दूर करने वाला मानते।[२]

वच—

अथर्ववेद के काण्व ऋषि विविध प्रकार की कृमियों और उनसे उत्पन्न रोगों की चिकित्सा वच के द्वारा करते रहे हैं। वे कृमि चाहे आँतों में स्थित हों या सिर में अथवा पसलियों में हों। वे चाहे गतिशील हों चाहे नहीं। वचा से वे उन्हें सदा के लिए दूर कर देते थे।[३] अथर्ववेद के सुबोध भाष्यकार श्रीपाददामोदर सातवलेकर के अनुसार "कृमिनाशक औषधियों में इस (वचा) का महत्त्व सबसे अधिक है। इसका चूर्ण शरीर पर लगाने से कृमि बाधा नहीं होती। वचा का मणि गले में या शरीर पर धारण करने से भी कृमि पीड़ा दूर होती है और जल में घोलकर भी इसका सेवन करने से पेट के अन्दर के कृमि दोष दूर हो जाते हैं। औषधिजन्य उपायों में यह सुलभ और निश्चित उपाय है"।[४]

वारणा—

विष की चिकित्सा भी वैदिक काल में प्राकृतिक उपायों से की जाती थी। अथर्ववेद के ऋषि गरुत्मान् विष का प्रभाव कई उपायों से दूर करते हैं। उनके अनुसार वारणा नामक औषधि का रस विष का प्रभाव दूर कर देता है। वह रस अमृत का स्रोत है।[५] वे शरीर के ऊपरी भाग अथवा निचले भाग के विष को दही का प्रयोग करके भी दूर करते थे। तिल और घृत डाल कर पकाया हुआ अन्न भूख के अनुसार खाने पर विषजन्य मूर्च्छा को रोकता है।[६] वह विष जो रोगी को मूर्च्छित कर देता है वचा का प्रयोग करने से प्रभावहीन हो जाता है। वचा यदि ताजी खनन करके निकाली गयी हो तो मूर्च्छा को रोकने में उसका प्रभाव अधिक होता है।[७]

---

१. अथर्ववेद २।२५।१–४
२. अथर्ववेद २।२५।५
३. अथर्ववेद २।३१।४–५
४. अथर्ववेद सुबोध भाष्य प्रथम भाग पृ० १२१
५. अथर्ववेद ४।७।१
६. अथर्ववेद ४।७।२–३
७. अथर्ववेद ४।७।४–५

अञ्जन पाषाण से अनेक रोग-निवृत्ति—

अञ्जन नामक एक कोमल पत्थर है, जो श्याम और श्वेत दो प्रकार का है। श्याम अञ्जन को स्रोतोञ्जन और श्वेत को सौवीर अञ्जन कहते हैं। स्रोतोञ्जन का एक अन्य प्रकार भी है, जो गेरु के रंग का होता है, गुण इनके एक समान ही हैं। अथर्ववेद के ऋषि भृगु का मानना है कि पर्वत से प्राप्त होने वाला यह अञ्जन सभी जीवों की परिधि के रूप में रक्षा करता है। यह मनुष्य, गौ, घोड़े आदि पशु सबकी ही अमृत की भांति रक्षा करता है।[1] इसका उपयोग करने से शरीर पुष्ट होता है, पाण्डुरोग की तो यह महौषधि है। प्रयोग करने पर यह अंग–अंग में व्याप्त हो जाता है और वहाँ से सभी रोगों को दूर कर देता है। ज्वर, क्षय, कफ–विकार, उदावर्त्त, सर्पविष आदि विविध रोग इसके आन्तर और बाह्य प्रयोग से दूर होते हैं।[2]

आचार्य भावमिश्र ने अञ्जन के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि स्रोतोञ्जन स्वाद में कषाय और मधुर, नेत्रों के लिए हितकारी, कफ–पित्त का नाशक होता है। कषाय होने से यह मोटापा को दूर करता है। यह प्रभाव में स्निग्ध है और मल को बाँधता है, वमन और विष के प्रभाव को दूर करता है।[3] इसके अतिरिक्त अञ्जन, सिध्म अर्थात् वक्षस्थल पर होने वाले कुष्ठ, जिसकी त्वचा सफेद या लाल होती है, खुजलाने से धूल सी उड़ती है और त्वचा का रंग लौकी जैसा हो जाता है।[4] उस कुष्ठ की औषध है। क्षय और रक्त दोष भी इससे दूर होता है। वे इसे निरन्तर सेवनीय मानते हैं। सौवीर अंजन के गुण भी स्रोतोञ्जन के समान ही हैं।[5]

रोहिणी—

अथर्ववेद के एक ऋषि ऋभु सभी प्रकार के व्रणों, अस्थि–भंगों आदि की चिकित्सा के लिए एक प्राकृतिक वनस्पति, जिसे रोहिणी कहते हैं, का प्रयोग किया करते थे। उनका मानना है कि यह हड्डी को बढ़ाने वाली है, टूटी हुई हड्डी को जोड़ती है। यदि हड्डी का कुछ भाग नष्ट हो गया है, तो उसे बढ़ा देती है। घावों को भरती है। शरीर के किसी भाग में चोट लगे या जल जाये, कुचल जाये, पिस जाये, टूट जाये, तो यह जोड़–जोड़ को फिर से जोड़ देती है। हड्डी के अन्दर का द्रव मज्जा नष्ट हो, मांस फट जाये, यह मज्जा को, हड्डी को, मांस को जोड़कर स्वस्थ करती है। व्रण सूखने पर रोएं पहले के समान आ जाते हैं। त्वचा, त्वचा से पूरी तरह मिल जाती है। यदि शरीर का कोई भाग कट कर अलग हो गया है तो भी यह उसे पुनः उसी प्रकार जोड़कर ठीक कर देती है, जैसे रथकार रथ के अंग को पुनः जोड़ देता है।[6]

---

१. अथर्ववेद ४।६।१–२,७

२. अथर्ववेद ४।६।३–४, ८

३. भावप्र० नि० ७।१३८–१३६

४. माधव नि० कुष्ठ १५–१६

५. भाव प्र० नि० ७।१३६–१४०

६. अथर्ववेद ४।१२।१–५

अपामार्ग—

अथर्ववेद के शुक्र नामक ऋषि चिकित्सा के क्रम में अपामार्ग का प्रयोग करने के लिए प्रसिद्ध थे। वे इसे अत्यन्त प्रभावशाली मानते थे। साथ ही और भी अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इसका संस्कार करते थे। यह संस्कार संभवतः भावना देना होगा। उनके अनुसार इसका प्रयोग क्रोध रूप मानसिक रोग को तथा अन्य विविध रोगों को विरेचन करके निकाल देता है। मूढ़ता अर्थात् मूर्च्छा लाने वाला रोग, शोष (सूखा) रोग, नवजात शिशु के प्राण हरने वाले रोग, दुःस्वप्न, जीवन को दुःखदायी बनाने वाला (अपंगता) रोग, कृमिरोग, निस्तेज बनाने वाला (धातुक्षय आदि) रोग, बवासीर, भस्मक, तृषा, इन्द्रिय विशेष की शक्ति लुप्त होना, अनपत्यता आदि अनेक रोगों को यह समूल नष्ट करती है।[1] वे संसर्गज एवं पापरोगों की चिकित्सा के लिए भी अपामार्ग का प्रयोग करते थे। इतना ही नहीं, वे अपामार्ग को सभी औषधियों में श्रेष्ठ अर्थात् अनन्त गुणों वाला मानते रहे हैं और प्रायः सभी रोगों की चिकित्सा में इसका प्रयोग करते थे।[2]

अपामार्ग जिसे लैटिन में **Achyranthis aspera** कहते हैं, दो प्रकार का होता है—सफेद और लाल। इनमें श्वेत अपामार्ग को अधिक गुणकारी माना जाता है। अपामार्ग सर अर्थात् पेट को साफ करने वाला, अग्निवर्धक, पाचक, भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाने वाला है। यह वमन, मोटापा तथा कफ और वात रोगों को दूर करता है। हृदय रोग, अफारा, अर्श, शूल, उदर रोग, अपची भी इसके प्रयोग से दूर होते हैं।[3] इसके अतिरिक्त कास, बिच्छू आदि का विष दूर करने के लिए एवं प्रसव काल में सहज प्रसव के लिए भी इसका प्रयोग होता है। अपामार्ग के बीज दुष्पाच्य होने से क्षुधारोधी, विष्टम्भी अर्थात् कब्जकारी वातल रूक्ष एवं रक्त पित्त को शुद्ध करने वाले होते हैं।[4]

दिव्य वनस्पति—

नेत्रों के दृष्टि दोष को दूर करने एवं देखने की शक्ति में वृद्धि करने के लिए मातृनाभा नामक ऋषि एक दिव्य औषधि का संकेत करते हैं। किन्तु उन्होंने उन औषधियों का नाम नहीं लिया है। उनके प्रभाव का ही वर्णन किया है। ऋषि का कहना है कि उस दिव्य औषधि के प्रभाव से उसका प्रयोग करने वाला सर्वदर्शी हो जाता है।[5]

गुग्गुलु, पीलु, नलदी आदि—

अथर्ववेद के बादरायणि नाम के ऋषि कृमिनाशन के लिए अनेक प्राकृतिक वनस्पतियों की चर्चा करते हैं। साथ ही सूर्य की किरणों का भी उल्लेख करते हैं। इन

---

१. (क) अथर्ववेद ४।१७।१–३,५–६ (ख) अथर्ववेद ७।६५।२–३
२. अथर्ववेद ४।१७।८
३. भावप्रकाश नि० ३।२२०–२२३
४. भावप्र० नि० ३।२२३,२२४
५. अथर्ववेद ४।२०।२ एवं सम्पूर्ण सूक्त द्रष्टव्य

औषधियों में अजशृंगी सबसे मुख्य है। वेदों में इतिहास मानने वाले विद्वानों की मान्यता को स्वीकार करने पर यह कहना उचित होगा कि अथर्वणविद्या (आयुर्विज्ञान) को जानने वाले आचार्य तथा कश्यप, कण्व और अगस्त्य नामक ऋषियों ने कृमि नाश करने के लिए अनेक सफल प्रयोग किये थे। अजशृंगी का प्रयोग उनमें सबसे मुख्य था।[1] उनके अनुसार अजशृंगी औषधि के द्वारा जल में फैलने वाले तथा संगीत सी ध्वनि करने वाले कृमि इसकी गन्ध से ही दूर भाग जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं।[2] जल कृमियों को वे जल की तीव्र धारा प्रवाहित करके भी दूर करते थे।[3] कुछ कृमि गुग्गुलु, पीलु, नलदी अर्थात् वीरण औक्षगन्धी और प्रमोदिनी नामक प्रकृति के उपहार भूत वनस्पतियों से नष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पीपल, बरगद एवं शिखण्डी, अर्जुन, आघाट और कर्करी वृक्ष होते हैं, वहाँ भी हानिकर कृमि नहीं रह पाते, नष्ट हो जाते हैं।[4]

इन मन्त्रों में जिन औषधियों के नाम आये हैं उनमें अजशृंगी प्रथम है। इसे शृंङ्गी, कर्कट शृंङ्गी, कुलीकर, विषाणिका, वका, कर्कट आदि नामों से संस्कृत में जाना जाता है। हिन्दी भाषा में इसे काकडा सिंगी कहते हैं। भावमिश्र के अनुसार यह कफ और वातजन्य विकारों को, क्षय, ज्वर, श्वास, ऊर्ध्ववात, तृषा, खांसी, हिचकी, अरुचि, वमन आदि रोगों को दूर करती है।[5] निघण्टु रत्नाकर के अनुसार यह उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त अतिसार, रक्तदोष, व्रण और कृमिरोगों को नष्ट करती है। बालकों के स्वास्थ्य के लिए भी यह विशेष हितकर है।[6] इनके अतिरिक्त राजनिघण्टु में इसे अर्शशूल, शोथ, हृदय रोग, कुष्ठ और विष के प्रभाव को दूर करने वाला और नेत्रों के लिए हितकारी बताया गया है।[7]

गुग्गुलु भग्नसन्धानकृत् वृष्य, स्वर्य, रसायन, दीपन, पिच्छिल, बलकारक, कफ रोग, वात रोग, व्रण, अपची, मोटापा, प्रमेह, पथरी, क्लेद, कुष्ठ, आमवात, पिण्डिका, ग्रन्थिशोथ, अर्श, गण्डमाला और कृमि रोगों को नष्ट करता है। इतना ही नहीं त्रिदोषनाशक होने से यह सर्वरोगनाशक है।[8]

राजनिघण्टु के अनुसार यह जरा बुढ़ापा, कास, वातोदर और प्लीहा रोगों को नष्ट करता है।[9]

---

१. अथर्ववेद ४।३७।१
२. अथर्ववेद ४।३७।२
३. अथर्ववेद ४।३७।३
४. अथर्ववेद ४।३७।३–४
५. भावप्र० नि० १।१८१–१८२
६. निघण्टुरत्नाकर
७. राजनिघण्टु व० ६
८. भाव प्र० नि० २।३८–४२
९. राजनिघण्टु व० १२

पीलु, जिसे मस्टर्ड ट्री आफ स्क्रिप्चर (Mustard Tree of scripture) कहते हैं, त्रिदोषहर है तथा गुल्म आदि रोगों का नाशक बताया गया है।[1]

ऊपर संकेतित मन्त्रों में से तृतीय मन्त्र में नलदी वनस्पति का नाम आया है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर इसका अर्थ जटामांसी करते हैं। भावमिश्र ने नलद शब्द को उशीर वीरण का पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार उशीर पाचक, स्तम्भक, ज्वर, वमन, मद, हृदयरोग, तृषा, रक्त दोष, विषदोष, विसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र और व्रण आदि रोगों को दूर करता है।[2]

औक्षगन्धि–

औक्षगन्धि का दूसरा नाम ऋषभक है। इसकी गणना दिव्य औषधियों में की जाती है। यह बलकारी, शीतल, कफ और शुक्र की वृद्धि करने वाला तथा पित्तदाह, रक्त दोष, कृशता, वातरोग और क्षय आदि रोगों को दूर करता है।[3]

इस प्रकार अथर्ववेद के पूर्व संकेतित सूक्त में जिन औषधियों का संकेत किया गया है, वे प्रायः सभी दिव्य औषधियाँ हैं, जो जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर भगाती हैं। विस्तार भय से प्रमन्दनी, अश्वत्थ, शिखण्डी, अर्जुन, कर्करी, ब्राह्मी आदि के गुण धर्मों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

अथर्ववेद के अथर्वा नामक ऋषि अरुन्धती वनस्पति के माध्यम से पशु, पक्षी सभी की चिकित्सा करते थे। उनका मानना था कि इसके प्रयोग से पशु में कोई रोग नहीं होते। पूर्व से उत्पन्न रोग दूर हो जाते हैं। दूध देने वाले पशुओं में दूध की वृद्धि होती है। मनुष्य भी इसका प्रयोग करके रोग रहित हो जाते हैं। अरुन्धती के समान जीवला नामक वनस्पति भी पशुओं के आरोग्य के लिए प्रशस्त है।[4]

अथर्ववेद के अथर्वा ऋषि वरण नामक वनस्पति का आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि इसके सम्बन्ध में इन्द्र, मित्र और वरुण भी प्रशंसा कर चुके हैं। इतर देवता भी इसकी अनुशंसा करते हैं।[5] लौकिक संस्कृत में वरण को वरुण नाम से जाना जाता है। हिन्दी में इसे वरना कहते हैं। यह पित्तल, कब्ज को हटाने वाला, कफकारक, अग्निदीपक तथा कृमि, आमवात, गुल्म, वात–रक्त आदि रोगों को दूर करता है ऐसी भावमिश्र की मान्यता है।[6]

---

१. भावप्र० नि० ६।१३२,१३३
२. भावप्र० नि० २।८६–८८
३. भावप्र० नि० १।१२५–१२६
४. अथर्ववेद ६।५६।१–३
५. अथर्ववेद ६।८५।१–२
६. भाव प्र० नि० ५।६२–६३

राजनिघण्टु में इसे रक्तशोधक वात रोग, विद्रधि एवं शिरोवात को दूर करने वाला माना गया है।[1]

भृगु, अंगिरा ऋषि, सोम नामक प्राकृतिक वनस्पति को इसकी रोग निवारक क्षमता के कारण रानी विशेषण से विशेषित करते हैं। उनकी मान्यता है कि इस वनस्पति में सैकड़ों रोगों को दूर करने का सामर्थ्य है। यह कफ प्रधान , मृत्यु देने वाले यम के पाशस्वरूप भयंकर और असाध्य रोगों से और विविध पाप रोगों से भी सबकी रक्षा करती है।[2]

पिप्पली सुविदित दिव्य वनस्पति है। लेटिन में इसे Pipar longum कहते हैं। यह वात–श्लेष्महर रसायन वनस्पति है। यह वृष्य, अग्निदीपक रुचि को बढ़ाने वाली और रेचक है तथा श्वास, कास, उदर रोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीहारोग, शूल, आमवात आदि अनेक रोगों को दूर करती है। इसका प्रयोग यदि मधु के साथ किया जाये तो यह मोटापा, कफ, श्वास, कास और ज्वर को भी दूर करती है, बुद्धि को बढ़ाती है एवं जठराग्नि को प्रदीप्त करती है। गुड़ के साथ पिप्पली का प्रयोग जीर्ण ज्वर, मन्दाग्नि, खाँसी, श्वास, अजीर्ण, अरुचि, हृदय रोग, पाण्डुरोग और कृमि रोगों को दूर करता है।[3] इसके अतिरिक्त पिप्पली का अनेक प्रकार से अकेले अथवा अन्य द्रव्यों के साथ प्रयोग किया जाता है। अथर्ववेद के शौनक ऋषि ने पिप्पली के प्रयोग को वात रोग और उन्माद रोग की श्रेष्ठ औषध माना है। वे इसे विविध महाव्याधियों के निवारण के लिए अकेले ही समर्थ औषध मानते हैं। जिस मनुष्य अथवा प्राणी को जन्म से पिप्पली का प्रयोग कराया जाता है उसे मृत्यु का भय नहीं होता अर्थात् वह सम्पूर्ण आयुष्य का भोग करता है।[4]

अथर्ववेद में ही कफ रोग खांसी आदि, फोड़े फुन्सी, रक्त प्रवाह, विसर्प, मांसार्बुद, सन्धियों, फूलने वाली गिल्टी, कनफेड़ा (मम्स), अण्डवृद्धि आदि रोग, कान और नेत्रों के रोग, हृदय रोग तथा अनेक अज्ञात रोगों की चिकित्सा **चीपुद्रु** नाम की वनस्पति के प्राकृतिक प्रयोग से बतायी गयी है।[5]

वीतहव्य अथर्वा नामक ऋषि भूमि पर नीचे फैलने वाली एक दिव्य वनस्पति की चर्चा करते हैं। यह औषधि सम्भवतः भृङ्गराज होनी चाहिए। इसके द्वारा वे केशों को सुदृढ़ बनाते थे। इसके प्रयोग से गंजापन (केशों का झड़ जाना और फिर न उगना)

---

१. राजनिघण्टु व० ६
२. अथर्ववेद ६।६६।१–३
३. भावप्र० नि० १।५४–५५, ५७–५८
४. अथर्ववेद ६।१०६।२–३
५. अथर्ववेद ६।१२७।१–३

मूल सन्दर्भ

पृष्ठ सं०

२. १. ओम् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।। यजुर्वेद ३६।२४

२. ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।। यजुर्वेद ३।६२

३. शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः।
शन्नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।। यजुर्वेद ३६।१०

४. सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्। अथर्ववेद १७।१।२७

५. यदा बध्नन्दाक्षायणाः हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुष्ट्वाय शतशारदाय।। अथर्ववेद १।३५।१

६. दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्।। अथर्ववेद २।४।१

७. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।। अथर्ववेद ८।२।२४

३. १. अथर्ववेद ६।८।१–२१

२. अथर्ववेद ६।८।२२

३. न वै तत्र म्रियन्ते न यन्त्यधमं तमः। सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः। यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्। अथर्ववेद ८।२।२५

४. (क) उत त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्। अथर्ववेद ८।१।१७

(ख) अथो व अमीवचातनः पूतद्रुर्नाम भेषजम्। अथर्ववेद ८।२।२८

(ग) येऽथर्वाणः, तद् भेषजम्। गोपथ ब्राह्मण १।३।४

५. आथर्वणीराङ्गिरसी दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि।। अथर्ववेद ११।४।१६

४. १. महाभाष्य व्यवहारभानु से उद्धृत।

२. मूल में उदधृत। अथर्ववेद ८।२।५–८

५. १. ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां श्रेष्ठतमम्। चरक सू० २५।८०

२. सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।
शान्तं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्यं रसायनम्।। अष्टांग हृदय उत्तर ३६।१७६

पृष्ठ सं० ३. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्।। अ० हृदय उत्तर ४० ।४

४. शास्त्रानुसारिणी चर्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्त्तिनः।
बुद्धिरस्खलितार्थेषु परिपूर्णं रसायनम्।। अ० हृदय उत्तर ३६ ।१८१

५. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। अथर्ववेद ११ ।५ ।१६

६. रोगस्तु धातुवैषम्यं धातुसाम्यमरोगता। अ० हृदय सू० १ ।२०

६. १. कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया।।
त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमाः नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः।। चरक सू० १६ ।३५–३६

२. याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां स्मृतम्।।
समैस्तु हेतुभिर्यस्मात् धातून् सञ्जनयेत्समान्।
चिकित्सा प्राभृतस्तस्माद् दाता देहसुखायुषाम्।। चरक सू० १६ ।३४,३७

३. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शङ्करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति।।
विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।
तेनाते तन्वे शङ्करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति।
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे०।
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे०।
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे० ।अथर्ववेद १ ।३ ।१–५

४. धारानीरं त्रिदोषघ्नमनिर्देश्यरसं लघु।
सौम्यं रसायनं बल्यं तर्पणं ह्लादि जीवनम्।।
पाचनं मतिकृन्मूर्च्छा तन्द्रा दाहश्रमक्लमान्।
तृष्णां हरति तत्पथ्यं विशेषात्प्रावृषि स्मृतम्।। भाव प्रकाश नि० ११ ।८–६

७. १. अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जरा विमुक्तस्सन्षोडशाब्दवयो भवेत्।। हठयोग प्रदीपिका २ ।४७

२. कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम्।। हठयोग० प्र० २ ।५०

३. श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्।
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।। हठयोग प्र० २ ।५२–५३

पृष्ठ सं०

४. गुल्मप्लीहादिकान् रोगाज्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि।। हठयोग प्र० २।५८

५. वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
विशेषेणैव कर्त्तव्य भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्। हठयोग प्र० २।६५–६७

६. (क) प्राणो वा आयुः। ऐतरेय २।३८

(ख) यो वै प्राणः स आयुः। शतपथ ५।२।४।१०

प्राणाः उ वा वायुः। शतपथ ८।४।१।८

७. अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि। आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२४।१२,२१

८. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।

यजुर्वेद ३६।१२

८. १. (क) सोमो वै राजौषधीनाम्।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।१७।१, कौषीतकी ब्राह्मण ४।१२

(ख) सोम ओँषधीनामधिराजः। गोपथ ब्राह्मण उत्तर १।१७

(ग) औषधो हि सोमो राजा। ऐतरेय ब्राह्मण ३।४०

२. (क) सोमो वा इन्दुः। शतपथ ब्राह्मण २।२।३।२३, ७।५।२।१६,

(ख) सोमो वै चन्द्रमा।

कौषीतकी १६।५ तैत्तिरीय १।४।१०।७, शतपथ १२।१।१।२

(ग) चन्द्रमा उ वै सोमः। शतपथ ६।५।१।१

(घ) सोमो राजा चन्द्रमा। शतपथ १०।४।२।१

(ङ) असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा। कौषीतकी ४।४।७।१०

(च) एतद्वै देव सोम यच्चन्द्रमाः। ऐतरेय ब्रा० ७।११

३. याः ओषधीः सोमराज्ञीः। मन्त्रब्राह्मण २।८।३।४

४. (क) प्रजापतिर्वै चन्द्रमा। शतपथ ६।१।३।१६

(ख) असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः। शतपथ ६।२।२।१६

५. (क) चन्द्रमा वै धाता। षड्विंश ब्राह्मण ४।६

(ख) चन्द्रमा एव धाता च विधाता च। गोपथ उ० १।१०

६. चन्द्रमा वै प्राणः। जैमिनीय ब्राह्मण ४।२२।११

७. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। यजुर्वेद १३।४६

८. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। प्रश्न उपनिषद् १।८

६. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतः शृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। यजुर्वेद ३६।२४

९. १. त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शरीरदोषसमुत्थ, आगन्तुः भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः, मानसःपुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चा निष्टस्योप– जायते। तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्। न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा। तस्मादेतच्चानुष्ठेयं, तद्विधानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्वेक्षणम्। तद्विद्यसेवाविज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः।

चरक सू० ११।४५–४७

२. यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्णाः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि।। अथर्व ८।२।१६

३. उभय्योऽस्मै स्वदिताः पच्यन्तेऽकृष्टपच्याश्च कृष्टपच्याश्च।
ताण्ड्य ब्राह्मण ६।६।६

४. द्वय्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्योऽन्याः फलं गृह्णन्ति, मूलेभ्योऽन्याः।
तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।१७।४

५. यद्वैतासां (औषधीनां) समृद्धं रूपं यत्पुष्पवत्यः पिप्पलाः।
शतपथ ब्राह्मण ६।४।४।१७

६. अपामोषधयः (रसः) ओषधीनां पुष्पाणि रसः, पुष्पाणां फलानि रसः।
शतपथ १४।६।४।१

१०. १. साम्राज्यं वा एतदोषधीनां यन्महाब्रीहयः। सैनान्यं वा एतदोषधीनां यद् यवाः।

ऐतरेय ब्राह्मण ८।११,१६

२. शिवौ ते स्तां ब्रीहियवावबलासावदो मधौ।
एतौ यक्ष्म विबाधेते एतौ मुञ्चन्तो अंहसः।। अथर्ववेद ८।२।१८

३. (क) एतद्वै देवानां परममन्नं यन्नीवाराः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।६।८
(ख) एते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नीवाराः। शतपथ ५।१।४।१४, ५।३।३।५

४. शालयो रक्तशाल्याद्याः ब्रीहयः षष्टिकादयः।–२।
वार्षिकाः कण्डिताः शुक्लाः ब्रीहयश्चिरपाकिनः।
कृष्णो ब्रीहिः पाटलश्च कुक्कुटाण्डक इत्यपि।भावप्रकाश निघण्टु ६।२,१७

५. षष्टिका प्रवरा तेषाम्। भावप्रकाश नि० ६।२५

६. गर्भस्था एव ये पाकं यन्ति ते षष्ठिका मताः।
षष्ठिकः शतपुष्पश्च प्रमोदकमुकुन्दकौ।।
महाषष्टिक इत्याद्याः षष्टिका समुदाहृताः।
एतेऽपि ब्रीहयः प्रोक्ताः ब्रीहि लक्षणदर्शनात्।।

भावप्रकाश निघण्टु ६।२२–२४

७. षष्टिकाः मधुरा शीताः लघवो बद्धवर्चसः।
वातपित्तप्रशमनाः शालिभिः सदृशाः गुणैः।।
षष्टिकाः प्रवरास्तेषां लघ्वी स्निग्धा त्रिदोषजित्।
स्वाद्वी मृद्वी ग्राहिणी च बलदा ज्वरहारिणी।।

भावप्रकाश निघण्टु ६।२४–२६

८. शालयो मधुराः स्निग्धाः बल्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायाः लघवो रुच्याः स्वर्या वृष्याश्च बृंहणाः।
अल्पानिलकफाः शीताः पित्तघ्नाः मूत्रलास्तथा।। भा० प्र० नि० ६।७–८

११. १. यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः।
व्रणेषु तिलवत् पथ्यो रूक्षो मेधाग्निवर्धनः।।
कटुपाकोऽनभिष्यन्दी स्वर्यो बलकरो गुरुः।
बहुवातमलो वर्णस्थैर्यकारी च पिच्छिलः।।
कण्ठत्वगामयश्लेष्मपित्तमेदःप्रणाशनः।
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत्।। भाव प्र० नि० ६।२६–३१

२. यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः।।
यत्पिबामि संपिबामि समुद्र इव संपिब।
प्राणानमुष्य संपाय संपिबामो अमुं वयम्।।
यद् गिरामिः सङ्गिरामिः समुद्र इव सङ्गिरः।
प्राणानमुष्य सङ्गीर्य सङ्गिरामो अमुं वयम्।। अथर्ववेद ६।१३५।१–३

३. यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।।
प्रते भिनद्मि मेहनं वर्घं वेशन्त्या इव। एवाते मूत्रं०
विषितं ते बस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवाते मूत्रं०
यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः। एवाते मूत्रं०। अथर्ववेद १।३।६–६

४. (क) वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्रा–कास–श्रम–श्वास–जृम्भाऽश्रुच्छर्दिरेतसाम्।।

अष्टांग हृदय सू० ३।१

पृष्ठ सं० (ख) न वेगान्धारयेद् धीमान् जातान्मूत्रपुरीषयोः।

न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च।
नोद्गारस्य न जृम्भायाः न वेगान्क्षुत्पिपासयोः।
न वाष्पस्य न निद्रायाः निःश्वासस्य श्रमेण च।। चरक सू० ७।१–२

५. चरक सूत्र स्थान सप्तम अध्याय 'न वेगान्धारणीय अध्याय' सम्पूर्ण।

१२. १. वायुः पित्तं कफो दोषाः धातवश्च मलास्तथा।
शरीरदूषणाद् दोषाः धातवो देहधारणात्।
वातपित्तकफाः ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः। शार्ङ्गधर संहिता पूर्व ५।४१–४२

२. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च।। चरक सू० १।५७

३. (क) धातवस्तन्मला दोषा नाशयन्त्यसमास्तनुम्।
समाः सुखाय विज्ञेयाः बलायोपचयाय च।।शार्ङ्गधर पूर्व ५।६५–६६

(ख) वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च।।अ० हृदय सू० १।६–७

(ग) दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारकाः भवन्ति, विकृतिमापन्नाः खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति।
चरक विमान् १।५

४. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च।
अथर्ववेद १।१२।३

५. रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ। अ० हृ० सू० १।२१

६. तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु। यजुर्वेद ३४।१–६

७. शिवाभिष्टे हृदयं तर्षयाम्यनमीवो मोदिष्ठाः सुवर्चाः। अथर्ववेद २।२६।६

८. आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा। अथर्ववेद ३।३१।८

९. मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्यान् अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः।।
अथर्ववेद ६।४१।३

१०. (क) ऊषो हि पोषः। ऐतरेय ४।२७

(ख) पुष्टिर्वा एषा प्रजननं यदूषाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।१

१३. १. (क) चित्रं देवानामुदगादनीकं ———— सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
यजुर्वेद १३।४६

(ख) सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा। शतपथ ब्राह्मण १४।३।२।६

२. (क) ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते। गोपथ उ० १।१६

(ख) ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते। कौषीतकी ब्राह्मण ५।१

३. भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते। गोपथ ब्राह्मण उ० प्र० १।१६,
कौषीतकी ब्राह्मण ५।१

४. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्।।
यदि क्षितायुर्यदिवा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय।।
ऋग्वेद १०।१६१।१,२, अथर्ववेद ३।११।१–२

५. (क) सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम्।।
ऋग्वेद १०।१६१।३

(ख) सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्।।
अथर्ववेद ३।११।३

६. (क) शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः।।
ऋग्वेद १०।१६१।४

(ख) शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।।
अथर्ववेद ३।११।४

१४. १. आहार्षं त्वा विदं त्वा पुनरागाः पुनर्नव।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्।। ऋग्वेद १०।१६१।५

२. प्रविशतं प्राणापानौ अनड्वाहाविव व्रजम्। वहतं पुनः।।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवे यानाहुरितराञ्छतम्।।
इहैव स्तं प्राणापानौ मापगातमितो युवम्।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे अनड्वाहाविव व्रजम्। वहतं पुनः।।
जरायै त्वा परिददामि जरायै निधुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्।।
अथर्ववेद ३।११।५–७

३. यज्ञो वै आयुः। ताण्ड्य ब्राह्मण ६।४।४

४. लेखासन्धिषु पक्ष्मसु आरोकेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्।।
केशेषु यच्च पापकम् ईक्षिते रुदिते च यत्। तानि ते०।
आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि ते०
ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि ते०
यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम्।।मन्त्र ब्राह्मण १।३।१–२, ४–६

५. शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम्।। मन्त्र ब्राह्मण १।३।३

६. अन्तर्दावे जुहतास्वेतद् यातुधानक्षयणं घृतेन।। अथर्ववेद ६।३२।१

१५. १. आसुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः।।
या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः।
विजाम्नि वा अपचितः स्वयं स्रसः।।
यः कीकसाः प्र शृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः।।
पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च।।
विद्म वैते जायान्यं जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।। अथर्ववेद ७।७६।१–५

२. अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव..................
..................गुरूणां समुपासनैः।।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः।
सत्येनाचारयोगेन माङ्गल्यैरप्यहिंसया।।
वैद्य विप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते।
यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्।। चरक चि० ८।१८४–१८६

३. दैवव्यपाश्रयं तत्तदथर्वोक्तं च पूजितम्।। अ० हृदय चि० ५।८४

४. द्रष्टव्य संस्कारविधि पृ० २१–२२ प्रकाशक–रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़

५. (क) यज्ञो वै प्रजापतिः।......... यं कामयते तं दुग्धे।
ताण्ड्य ब्राह्मण १३।११।१८

(ख) यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।५५

(ग) यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भुवनानि भुनक्ति।
शतपथ ब्राह्मण ६।४।१।११

६. पारस्कर गृह्यसूत्र १।१६।२१

१६. १. अपाऽमीवा सविता साविषत्। ऋग्वेद १०।१००।८

२. उद्यन्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।। अथर्ववेद १७।१।३०

३. (क) ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्.................। मनुस्मृति ४।९२

(ख) ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः।। अ० हृदय सू० २।१

(ग) ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णे निरूपयन्।
रक्षार्थमायुषः स्वस्थो जातवेगः समुत्सृजेत।। अ० संग्रह सू० ३।३

४. पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनः मलं हन्ति दिवाकृतम्।। मनुस्मृति २।१०१,१०२

५. पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परिभंससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम्।।
संते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीननशोऽङ्गभेदमशीशमः।।
अथर्ववेद ६।८।२१–२२

६. शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे।
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्यकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रमयामहे।
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे।
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्। सर्वं शीर्षण्यं०
अंगभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्यकम्। सर्वं शीर्षण्यं०
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः।
अथर्ववेद ६।८।१–५,२२

७. यस्य भीमः प्रतीकाशः उद्वेपयति पूरुषम्।
तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे।।

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रायमहे।।
यदि कामादपकामाद् हृदयाज्जायते परि।
हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निमन्त्रयामहे।।
हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिनिर्मन्त्रयामहे।।
आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणं सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्।।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः।

अथर्ववेद ६।८।६–१०,२२

१७. १. बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्।।
उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि। यक्ष्माणां सर्वेषां०
याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्।।
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्।।
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनु निक्षन्ति पृष्टी। अहिंसन्ती०
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते। अहिंसन्ती०
या गुदा अनुपसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च। अहिंसन्ती०
या मज्जो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च। अहिंसन्ती०
येऽङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्।।
विसल्यस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजे। यक्ष्माणां सर्वेषां.०
उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः।

अथर्ववेद ६।८।११–२०,२२

२. उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।। ऋग्वेद १।५०।११

३. अनुसूर्यमुदयतां हृद् द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि।।
परि त्वा रोहितै वर्णै दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथायमपरया असदथो अहरितो भुवत्।। अथर्ववेद १।२२।१–२

४. उदगादयमादित्यो विश्वेन महसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्।। ऋग्वेद १।५०।१३

५. अपचितः प्रपतत सुपर्णो वसतीरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु।
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन।। अथर्ववेद ६।८३।१–२

१८. १. अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके।। अथर्ववेद ८।१।१

२. उत्क्रामातः पुरुषः मावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः।। अथर्ववेद ८।१।४

३. तुभ्यं वातः पवताम् मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे शन्तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्ठाः।। अथर्ववेद ८।१।५

४. उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वांश्च यातुधान्यः।।
उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा।। ऋग्वेद १।१९१।८,९

५. सविता पश्चात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः।।
ऋग्वेद १०।३६।१४

६. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वहापो विश्वाहोदेति सूर्यः।।
ऋग्वेद १०।३७।२

७. येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद् विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुःष्वप्न्यं सुव।।
ऋग्वेद १०।३७।४

८. तन्नो द्यावापृथिवी तन्न आप इन्द्रः शृण्वन्तु मरुतो हवं वचः।
मा शूने भूम सूर्यस्य सन्दृशि भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि।।
ऋग्वेद १०।३७।६

१९. १. एष वै पिता य एषः (सूर्यः) तपति। शतपथ १४।१।४।१५

२. (क) स यः स धाताऽसौ य आदित्यः। शतपथ ६।५।१।३७

(ख) यः सूर्य स धाता स उ वषट्कारः। ऐतरेय ब्राह्मण ३।४८

३. आदित्यो वाव पुरोहितः। ऐतरेय ब्राह्मण ८।२७

२०. १. मूल में उद्धृत। शार्ङ्गधर संहिता पूर्व ५।४३–४४

२. वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः। सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्त्तको वाचः प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः क्षेप्ता बहिर्मलानां स्थूलाणुस्त्रोतसां भेत्ता कर्त्ता गर्भाकृतीनाम् आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवति अकुपितः।

चरक सू० १२।८

२१. १. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् धारणासु च योग्यता मनसः।।

योगसूत्र २।५२–५३

२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योगसूत्र १।३४

३. परमाणुपरममहत्त्वन्तोऽस्य वशीकारः।। योगसूत्र १।४०

४. वर्त्तमानं भविष्यच्च भूतार्थं चापि वेत्त्यसौ।
यस्य चित्तं सपवनं सुषुम्णां प्रविशेदिह।। दत्तात्रेय योगशास्त्र २१८,२१९

५. एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद् योगी विचक्षणः।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते।।
इत्येवं पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
ब्रह्मणः प्रलये वापि मृत्युस्तस्य न विद्यते।।दत्तात्रेय योगशास्त्र २३९–२४२

६. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् ———— । मनुस्मृति ६।७१–७२

७. प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्।। अथर्ववेद ११।४।१२

२२. १. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।। अथर्ववेद ११।४।१५

२. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूंषि तारिषत्।
ऋग्वेद १०।१८६।१

३. यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे।
ऋग्वेद १०।१८६।३

४. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि।
ऋग्वेद १०।१८६।२

५. मरुतो यस्य हि क्षये पाथो दिवो विमहसः। स सुगोपातमोजनः।
ऋग्वेद १।८६।१

पृष्ठ सं.

६. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजम्।। ऋग्वेद १।८६।४

२३. १. द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः।। ऋग्वेद १०।१३७।२

२. अव मुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राधीय आयुः प्रतरं दधामि।
वातात् ते प्राणमाविदम्............। अथर्ववेद ८।२।२–३

३. एतद्वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद्वायुः। कौषीतकी ब्राह्मण १६।२

४. स एवं वायुः प्रजापतिरस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तें पर्यक्तः।
शतपथ ८।३।४।१५

५. (क) अयं वै पूषा योऽयं (वातः) पवते एष हीदं सर्वं पुष्यति।
शतपथ १४।२।१।६,१४।२।२।३२

(ख) सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। शतपथ १४।४।२।२५

(ग) अयं वायुः पवमानः। शतपथ २।५।१।५

६. तस्माद् यर्थतु वायुः पवते। ताण्ड्य ब्राह्मण १०।६।२

७. प्राणे धाय्या वायुर्धाय्या। जैमिनीय ब्राह्मण ३।४।२–३

८. (क) अयं वै पवित्रं योऽयं (वायुः) पवते। शतपथ १।१।३।२, १।७।१।१२

(ख) पवित्रं वै वायुः। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।५।११

६. प्राणापानौ पवित्रे। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।४।४,३।३।६।७

१०. प्राणोदानौ पवित्रे। शतपथ १।८।१।४४

२४. १ (क) प्रश्न–किंस्विद्धिमस्य भेषजम् भेषजम्।। यजुर्वेद २३।६ एवं ४५

(ख) उत्तर–'अग्नि र्हिमस्य भेषजम। यजुर्वेद २३।१० एवं ४६

२. शीतहृदा हि नो भुवोग्निष्कृणोतु भेषजम्। अथर्ववेद ६।१०६।३

३. संकरप्रस्तरौ नाडीपरिषेकाऽवगाहनम्।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षू कुटी भूकुम्भिकैव च।
कूपोहोलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश।। चरक सू० १४।३६–४०

४. जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविधं हितम्।
प्रयुञ्जीत यथाकालं रोगदेहव्यपेक्षया।
हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तरसंकराः।
उपनाहोवगाहश्च परिषेकस्तथाष्टमः। काश्यपसंहिता सू० २३।२५–२६

५. चतुर्विधः स्वेदः। तद्यथा तापस्वेदः ऊष्मस्वेदः उपनाहस्वेदो द्रवस्वेद इति।
अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः। सुश्रुत चि० ३२।१

६. स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः। अ० हृदय सू० १७।१

७. तापनं तापः ऊष्मा वाष्पः उपनह्यते इत्युपनाहो बन्धनमित्यर्थः। द्रवतीति द्रवः। तत्र तापस्वेदे कन्दुकग्रहणादेव जेन्ताक–कर्षु–कुटी–कूप–होला इत्येताः पञ्चैवान्तर्भवन्ति। ऊष्मस्वेदे सङ्करप्रस्तराश्मघननाडी–कुम्भ–भू–स्वेदाः षडप्यन्त– र्भवन्तीति। द्रवस्वेदे परिषेकावगाहावन्तर्भवतः।

सुश्रुत चि० ३२।१ पर डल्हण टीका

२५. १. शुष्कां निगर्भां तां वर्त्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः।
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां पिबेत् प्रयोगिकीं सुखाम्।
वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युक्तियुक्तैर्नरौषधैः।
वर्त्तिं मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत्।। चरक सू० ५।२४–२६

२. (क) प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः सम्प्रकीर्त्तिताः।
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः कालेष्वेव हि लक्ष्यते।।
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च।
नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्।
तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः।
रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रयस्त्रयः।।

चरक सू० ५।३३–३६

(ख) जत्रूर्ध्वकफवातोत्थविकाराणामजन्मने।
उच्छेदाय च जातानां पिबेद् धूमं सदात्मवान्।
स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे।

अ० हृदय सू० २१।१–२

३. उपर्यरिष्टां बध्नीयात् छिन्द्याद्दंशं दहेत्तथा। चरक चि० २३।२५१

४. तत्राग्निकर्म सर्वर्त्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्याम्। तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्म साध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिम् कृत्वा सर्वव्याधिषु ऋतुषु च पिच्छिलमन्नं भुक्तवतः मूढगर्भाश्मरी भगन्दरोदरार्शोमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत।।

सुश्रुत सूत्र १२।५–६

४. तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके–त्वग्दग्धं मांसदग्धं च। इह तु सिरास्नायु सन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निकर्म। सुश्रुत सू० १२।७

२६. १. त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽत्युग्ररुजि वायावुच्छ्रितकठिनसुप्तमांसे व्रणे ग्रन्थ्यर्शोऽर्बुदभगन्दरापचीश्लीपदचर्मकीलतिलकालकान्त्रवृद्धि सन्धिसिरोच्छेदनादिषु नाडीशोणितातिप्रवृत्तिषु चाग्निकर्म कुर्यात्।।

सुश्रुत सू० १२।१०

२. स्नावस[illegible] शिर[illegible] दहेत्.........। सुश्रुत सू० १२।८

३. दहेद्दंशमथोत्कृत्य यन्त्र बन्धो न जायते। सुश्रुत सू० ५।५

४. तत्र वलयबिन्दुविलेखाप्रतिसारणानि इति इह न विशेषाः।

सुश्रुत सू० १२।११

५. तत्र शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशाखङ्खप्रदेशेषु दहेत्।
वर्त्मरोगेष्वार्द्रवस्त्रप्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोगकृत्यान्।।

सुश्रुत सू० १२।६

६. यथावृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये।। अथर्ववेद ६।८५।३

७. संस्थितं भूमिभागं खानयेद् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा---
---यावानुद्बाहुः पुरुषस्तावदायामम्------ द्विगुल्फं बर्हिराज्यं दधन्यत्र सर्पिरा-
नयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम्। अथैतां दिशमग्नीन् नयन्ति।

आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।१।६-८, १५-१७

२७. १. अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।

ऋग्वेद ६।६६।१६, यजुर्वेद १६।३८, ३५।१६

२. पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने त्वा क्रतूँरनु।
यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा।
पवमानः स अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा।।
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः।।

यजुर्वेद १६।४०-४३

३. अग्ने पवस्य स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद् रयिं मयि पोषम्।

यजुर्वेद ८।३८

४. अग्नि वैं देवानां योनिः। ऐतरेय १।२२,२।३

५. देवरथो वा अग्नयः।। कौषीतकी ब्राह्मण ५।१०

६. (क) अग्निर्वा एष धुर्यः। शतपथ ब्रा० १।१।२।१०

(ख) एष वै धुर्योऽग्निः। तैत्तिरीय ब्रा० ३।२।४३

७. अग्नि वैं धाता। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।१०।२

८. अग्ने शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीव चातन पूतद्रुर्नाम भेषजम्। अथर्ववेद ८।२।२८

९. तेजसो वा वनस्पतिरजायत यदश्वत्थः। ऐतरेय ब्राह्मण ७।३२

१०. पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्म व्रणास्त्रजित्।

गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः।। भावप्रकाश नि० ५।३–४

११. पारिषो दुर्जरः स्निग्धः कृमिशुक्रकफप्रदः।। भावप्रकाश नि० ५।४

१२. नन्दीवृक्षो लघु स्वादुस्तिक्तस्तुवर उष्णकः।
कटु पाकरसो ग्राही विषपित्तकफास्त्रजित्।। भावप्रकाश नि० ५।७–८

१३. बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह।
वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम्।। चरक चि० २६।१५८

२८. १. पानीयं सलिलं तोयं कीलालं हि जलाम्बु च।
आपो वार्वारि कं नीरं पयः पाथस्तथोदकम्।
जीवनं वनमम्भोर्णोऽमृतं घनरसोऽपि च।। भावप्रकाश नि० ११।१–२

२. 'कम्' वारिमूर्धसुखेषु। अव्ययार्थ

३. अमृतोपस्तरणमसि। अमृताऽपिधानमसि। आश्वलायन गृह्यसूत्र १।२४।१२,२१

४. शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।
यजुर्वेद ३६।१२

५. प्रथमो दैव्यो भिषक्। यजुर्वेद १६।५

६. वरुणं भिषजां पतिं स्वाहा। वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजम्।
यजुर्वेद २१।४०

७. वरुणो भिषज्यन्। यजुर्वेद १६।८०

८. अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्। ऋग्वेद १।२३।१६

६. आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे।।
ऋग्वेद १।२३।२१

१०. इदमापः प्रवहत यत्किञ्चिद् दुरितं मयि। ऋग्वेद १।२३।२२

२६. १. पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छा पिपासापहम्।
तन्द्राछर्दिविबन्धहृद्बलकरं निद्राहरं तर्पणम्।
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमनं नित्यं हितं शीतलम्।
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्।। भावप्रकाश नि० ११।३

२. पानीयं मुनिभिः प्रोक्तं दिव्यं भौममिति द्विधा। भावप्र० नि० ११।४

३. दिव्यं चतुर्विधं प्रोक्तं धाराजं करकाभवम्।
तौषारं च तथा हैमं तेषु धारं गुणाधिकम्।। भावप्र० नि० ११।५

४. धाराभिः पतितं तोयं गृहीतं स्फीतवाससा।
शिलायां वसुधायां वा धौतायां पतितं च तत्।।

सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके काचनिर्मिते।
भाजने मृण्मयं वापि स्थापितं धार उच्यते।। भावप्र० नि० ११।६–७

५. धाराजलं त्रिदोषघ्नमनिर्देश्यरसं लघु।
सौम्यं रसायनं बल्यं तर्पणे ह्लादिजीवनम्।।
पाचनं गतिकृन्मूर्च्छातन्द्रादाहश्रमक्लमान्।
तृष्णां हरति तत्पथ्यं विशेषात्प्रावृषि स्मृतम्।। भावप्र० नि० ११।८–६

६. आकाशगङ्गासम्बन्धिजलमादाय दिग्गजाः।
मेघैरन्तरितां वृष्टिं कुर्वन्तीति वचः सताम्।
गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः।
सर्वथा तज्जलं देयं तथैव चरके वचः।
तद्गाङ्ग सर्वदोषघ्नं ज्ञेयम्.............।। भावप्र० नि० ११।१०–१३

७. अनार्तवं प्रमुञ्चन्ति वारि वारिधरास्तु यत्।
तत्त्रिदोषाय सर्वेषां देहिनां परिकीर्त्तितम्।। भावप्र० नि० ११।१७–१८

३०. १ ....चापस्ताः कारक्योऽमृतोपमाः।
करकाजलं...... शीतलं सान्द्रं पित्तहृत्कफवातकृत्।।
भावप्र० नि० ११।१६–२०

२. जाङ्गलं सलिलं रूक्षं लवणं लघु पित्तनुत्।
वह्निकृत्कफकृत्पथ्यं विकारान्हरते बहून्।।
आनूपं वार्यभिष्यन्दि स्वादु स्निग्धं घनं गुरु।
वह्निहृत्कफकृन्नित्यं विकारान्कुरुते बहून्।
साधारणं तु मधुरं दीपनं शीतलं लघु।
तर्पणं रोचनं तृष्णा दाहदोषत्रयप्रणुत्।। भावप्र० नि० ११।२६–३२

३. हिमवत्प्रभवाः पथ्याः नद्योऽश्माहतपाथसः।
गङ्गाशतद्रुसरयूयमुनाद्याः गुणोत्तमाः।
सह्यशैलभवा नद्यो वेणी गोदावरीमुखाः।
कुर्वन्ति प्रायशः कुष्ठमीषद्वातकफावहाः।। भावप्र० नि० ११।३५–३६

३१. १. आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। ऋग्वेद १।२३।२३

२. मूल में उद्धृत। ऋग्वेद १।२३।१७

३२. १. (क) आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीव चातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।। अथर्ववेद ३।७।५

(ख) आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीव चातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीः तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।। ऋग्वेद १०।१३७।६

२. हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योत भेषजम्।
यन्मे अक्ष्यादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत्सर्वं निष्किरन् भिषजां सुभिषक्तमाः।। अथर्ववेद ६।२४।१–२

३. आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृताः वयम्।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुषा।। अथर्ववेद ३।३१।११

४. अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि।। अथर्ववेद १९।२।३

५. शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।। अथर्ववेद १९।२।२

जीवास्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्।। अथर्ववेद १९।६९।१

६. शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः।
शिवा नः सन्तु वार्षिकी।। अथर्ववेद १।६।४

७. (क) शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।।१।।
शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं त खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।।२।।
अनभ्रयः खनमानाः विप्रा गम्भीरे अपसः।
भिषग्भ्यो भिषक्तराः आपो अच्छा वदामसि।।३।।
अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम्।
अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः।।४।। अथर्ववेद १९।२।१–४

(ख) जालाषेणाभिषिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्।। अथर्ववेद ६।५७।१–२

३३. १. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु।। यजुर्वेद ४।५

२. जीवा स्थ जीव्यांस सर्वमायुर्जीव्यासम्।। अथर्ववेद १९।६९।१

३. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।।
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।।
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।
यजुर्वेद ११।५०–५२,३६।१४–१६

४. अमृता ह्यापः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।६।३

५. (क) अमृतं वा एतदस्मिन् लोके यदापः। ऐतरेय ब्राह्मण ८।२०

(ख) अमृतं वा आपः, अमृता ह्यापः। शतपथ ब्राह्मण १।६।३।७, ३।६।४।१६, ४।४।३।१५, गोपथ उत्तर ३।१

(ग) अमृतत्वं वा आपः। कौषीतकी ब्राह्मण १२।१

६. आपो वै देवानां प्रियं धाम। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।४।२

७. (क) आपो वै सर्वाः देवताः। ऐतरेय २।१६, कौषीतकी ११।४ तैत्तिरीय ३।२।४।३, ३।३।४।५, ३।७।३।४, ३।६।७।५

(ख) आपो वै सर्वे देवाः। शतपथ १०।५।४।१५

(ग) देव्यो ह्यापः। शतपथ १।१।३।७

८. वज्रो वा आपः। शतपथ १।१।१।१७, ३।१।२।६, ७।५।२।४१ तैत्तिरीय ३।२।४।२

६. एताभिः (अद्भि) ह्येनम् अहन्। शतपथ १।१।३।८

१०. आपो वै रक्षोघ्नीः। तैत्तिरीय ३।२।३।१२, ३।२।४।२, ३।२।६।१४

११. (क) शान्तिर्वै भेषजमापः। गोपथ उत्तर १।२ कौषीतकी ३।६।६

(ख) शान्तिर्वा आपः। ऐतरेय ७।५

(ग) आपो हि शान्तिः। ताण्ड्य ब्राह्मण ८।७।८

(घ) शान्तिरापः। शतपथ १।२।२।११, ३।३।१।७, २।६।२।१८

(ङ) आपो वै सर्वस्य शान्तिः प्रतिष्ठा।, षड्विंश ब्राह्मण ३।१

३४. १. अद्भिर्विना ग्लायमानानां प्राणानामेव प्राणित्वम्। महाभाष्य २।४।१।६

२. आपो वै प्राणाः। शतपथ ३।८।२।४

प्राणा वा आपः तैत्तिरीय ३।२।५।२, ताण्ड्य ६।६।४

प्राणो ह्यापः। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।१०।६

३. (क) वीर्यं वा आपः। शतपथ ५।३।४।१

(ख) रेतो वा आपः। ऐतरेय १।३

(ग) आपो वै रेतः। शपतथ ३।८।४।११, ३।८।५।१

४. वरुण एवायुः। शतपथ ४।१।४।१०

पृष्ठ सं.

५. (क) आपो वै सर्वे कामाः। शतपथ १० ।५ ।४ ।१५

(ख) आभि र्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किचेति ।तस्मादापोऽभवंस्तदपाम। आप्त्वम्। आप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते।

गोपथ पू० १ ।२

६. सीता प्राप्तप्रसववेदनम् आत्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव दारकद्वयं प्रसूता भगवतीभ्यां पृथिवीभागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना। उत्तररामचरितम् पृ० १५६ श्लोक २ ।३ के मध्य तमसा वचन (तमसामुरलासंवाद)

३५. १. प्रतारयेत्प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्।
सरश्च विमलं शीतस्थिरतोयं पुनः पुनः।
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।। चरक चि० २७ ।५६–६०

२. ननु जलप्रतरणं कथमस्य श्लेष्मक्षयकरं भवति? यस्माज्जलसम्बधमात्रेणं श्लेष्म– वृद्धिरेव प्राप्ता? उच्यते–जलेन बहिर्निर्गच्छदूष्मणो निरुद्धस्यान्तः प्रवेशाच्छ्लेष्मसङ्घातभेदनं भवति। तथा प्रतरण क्रियया श्लेष्मा विच्छिद्यते समाभिमता क्रियाऽप्यत्र योग्यत्वात् क्रियत एव।

चरक चि० २७। ५६–६० पर चक्रपाणि टीका

३. भवेत् कदाचित्कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया।। चरक चि० ३० ।३२२

४. जलैश्च वासाऽर्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः। स्विन्नो मृदूष्णैः रवितप्ततोयैः स्नातश्च——। चरक चि० १२ ।६७

५. आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं स चन्दनं साभयपद्मकञ्च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनञ्च।।चरक चि० १२ ।६६

६. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पृथिवीं मातरं महीम्। तैत्तिरीय २ ।४ ।६ ।८

३६. १. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समुजग्रभम्।।१।।
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा।।२।।
रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः।।३।। अथर्ववेद ६ ।२१ ।१–३

२. नीचैः खनन्त्यसुराः अरु स्राणमिदं महत्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्।। अथर्ववेद २ ।३ ।३

३. उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधिभेषजम्।
तद्धास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्।। अथर्ववेद २ ।३ ।४

४. अरुःस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्धृतम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्।। अथर्ववेद २ ।३ ।५

५. पाययेदगदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः।
तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वाल्मीकमृत्तिका।। सुश्रुत कल्प ५।१७

६. वाल्मीकमृत्तिकामूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्।
इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम्।। चरक चि० २७।४६

७. मूलैर्वाप्यश्वगन्धायाः मूलैरर्कस्य वा भिषक्।
पिचमर्दस्य वा मूलैरथावा देवदारुणः।।
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैः भिषक्।
गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे.................। चरक चि० २७।५०–५१

३७. १. (क) इयं वै पृथिवी पूषा। इयं (पृथिवी) वै पूषा। शतपथ ब्राह्मण
२।५।४।७, ३।२।४।१६, ६।३।२।८ इत्यादि तैत्तिरीय १।७।२।५
(ख) पूषा सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। शतपथ १४।४।२।२५

२. त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वाभूतानी यथायमरपा असत्।। अथर्ववेद ४।१३।४

३. आत्वागमं शन्तातिभिरथों अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते।। अथर्ववेद ४।१३।५

४. मूल में उद्धृत। अथर्ववेद ४।१३।६

३८ १. हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि।। अथर्ववेद ४।१३।७

२. यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणों विषहामहे।
शङ्खेनामीवाममर्तिं शङ्खेनोत सदान्वाः।
शङ्खो न विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः।।
.... शङ्खः आयुष्प्रतरणो मणिः।।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
अथर्ववेद ४।१०।२–४,७

३. कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफश्वासविषघ्नश्च।
राजनिघण्टु व० १६

४. शङ्खो नेत्र्यो हिमः शीतो लघुः पित्तकफास्रजित्।
भावप्रकाश नि० ८।१५८

५. इहैव भव मा नु गा मा पूर्वान नु गाः पितृनसुं बध्नामि ते दृढम्।। २।।
............प्रत्यक् सेवस्य भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा।।५।।
ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्।।१०।। अथर्ववेद ५।३०।२,५,१०

६. मा ते प्राण उप दसन् मो अपानोऽपि धायि ते।

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः।। अथर्ववेद ५।३०।१५

७. (क) उपप्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे।। अथर्ववेद ७।३२।१

(ख) सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे।।
अथर्ववेद ७।३३।१

३६. १. .... ओदनेनाति तराणि मृत्युम्।। अथर्ववेद ४।३५।१–६

२. भक्तं वह्निकरं पथ्यं तर्पणं रोचनं लघु।। भावप्रकाश नि० २१।६

३. .... अल्पस्नेहं घृतवन्तमोदनमश्नीयात्।......... मासे मासे च प्रयोगे वर्षेशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। सुश्रुत चि० २७।७

४. ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु में श्रद्दधानस्य देवाः। अथर्ववेद ४।३५।७

५. शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक्पीतं स्थापयेद्वयः।। सुश्रुत चि० २७।६

६. तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधूकमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेत् एवमहरहर्मासं तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा मधु द्राक्षा क्वाथयुक्तं वो मध्वामलकरसाभ्यां वा गुडूचीक्वाथेन वां। एवमेते पञ्च प्रयोगाः भवन्तिं जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात् एते खल्वर्शांसि क्षपयन्ति कृमीनुपघ्नन्ति ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्तिं मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिः भवति। सुश्रुत चि० २७।७

४०. १. विद्मा ते शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।.......... पृथिव्यां ते निषेचनम्।
अथर्ववेद १।३।१

२. (क) मुञ्जद्वयं तु मधुर.......... दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगजित्।
भावप्रकाश नि० ३।१६०

(ख) कासः स्यान्मधुरः मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षतपित्ताक्षिरोगजित्।
भावप्रकाश नि० ३।१६२,१६३

(ग) गुन्द्रः कषायो..........स्तन्यः शुक्ररजोमूत्रशोधनोमूत्रकृच्छ्रहृत्।
भावप्रकाश नि० ३।१६४

(घ) एरका शिशिरा.......... मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहपित्तशोणितनाशिनी।
भावप्रकाश नि० ३।१६५,१६६

(ड.) दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्।

मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्त्रजित्।।

भावप्रकाश नि० ३।१६७,१६८

३. यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।।६।।
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा ते मूत्रं मुच्यता........।
विषितं ते बस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा ते मूत्रं मुच्यता........।
यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः। एवा ते मूत्रं मुच्यता........।

अथर्ववेद १।३।६–६

४. अमू र्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः।।१।।
तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनिर्मही।।२।।
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत।।३।।
परि वः सिकतावती धनू बृहत्यक्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम्।।४।।

अथर्ववेद १।१७।१–४

५. सितोपला सरा------ छर्द्यतीसारतृड्दाहरक्तहृत्------।

भावप्रकाश नि० २३।३२–३३

६. नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रंजय किलासं पलितं च यत्।।
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि।
दूष्या कृतस्य लक्ष्म श्वेतमनीनशम्।।

अथर्ववेद १।२३।१,४

७. आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम्।।

अथर्ववेद १।२४।२

८. श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमूषु प्रसाधय पुना रूपाणि कल्पय।।

अथर्ववेद १।२४।४

४१. १. अथर्ववेद प्रथम काण्ड पचीसवां सूक्त सम्पूर्ण।

२. दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्।।
जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्त्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः।।
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः।

अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः।
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे।। अथर्ववेद २।४।१–४

३. शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः।।
कृत्या दूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्रण आयूंषि तारिषत्।। अथर्ववेद २।४।५–६

४. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्।।
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु।। अथर्ववेद २।८।१–३

५. उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्।। भावप्रकाश नि० ३।४८

६. श्रीफलः सर्वतोभद्रा पटला गणकारिका।
श्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्मतम्।। भावप्रकाश नि० ३।२६

७. शालपर्णी पृश्निपर्णी वार्ताकी कण्टकारिका।
गोक्षुरः पञ्चभिश्चैतैः कनिष्ठं पञ्चमूलमकम्।। भावप्रकाश नि० ३।४७

८. दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय।। अथर्ववेद २।६।१

४२. १. शन्नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्।।
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरोवृश्चाभि शकुनेरिव।।
अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च।।
गिरिमेनाँ आवेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
ताँस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि।। अथर्ववेद २।२५।१–४

२. पराच एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम्।। अथर्ववेद २।२५।५

३. अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्ण्यं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि।।
ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिमा क्रिमीणाम्।।
अथर्ववेद २।३१।४–५

४. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य प्रथम भाग पृ० १२१

५. वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेन ते वारये विषम्।। अथर्ववेद ४।७।१

६. अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्।
अथेदमधाराच्यं करम्भेण वि कल्पते।।
करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम्।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुषः। अथर्ववेद ४।७।२–३

७. वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि।।
परिग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभिखाते न रूरुषः।। अथर्ववेद ४।७।४–५

४३. १. एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम्।।
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे।।
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष।। अथर्ववेद ४।६।१,२–७

२. उतासि परिपाणं यातु जम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्।।
यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधसे उग्रो मध्यमशीरिव।।
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः। अथर्ववेद ४।६।३–४,८

३. स्रोतोञ्जनं स्मृतं स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत्।
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहिच्छर्दिविषापहम्।।भावप्रकाश नि० ७।१३८–१३६

४. श्वेतताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति।
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम्।।माधवनिदान कुष्ठ नि० १५–१६

५. सिध्मक्षयास्रहृच्छीतं सेवनीयं सदा बुधैः।
स्रोताञ्जनगुणाः सर्वे सौवीरेऽपि मता बुधै।।भावप्रकाश नि० ७।१३६–१४०

६. रोहिण्यसि रोहण्यस्थ्नश्चिछन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति।।
यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद् भद्रया पुनः सन्दधत्परुषा परुः।।
सं ते मज्जा मज्जा भवतु समु ते परुषा परुः।

सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु।।

मज्जा मज्ज्ञा संधीयतां चर्मण चर्म रोहतु।
असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु।।
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा संकल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सन्धेह्यौषधे।। अथर्ववेद ४।१२।१–५

४४. १. (क) ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आरभामहे।
चक्रे सहस्रवीर्यां सर्वस्मा ओषधे त्वा।।१।।
सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति।।२।।
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा।।३।।
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वाः दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि।।५।।
क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।।६।। अथर्ववेद ४।१७।१–३,५–६

(ख) यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गापमृज्महे।।२।।
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।।३।। अथर्ववेद ७।६५,२–३,

२. अपामार्ग औषधीनां सर्वासामेक इद्वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर।। अथर्ववेद ४।१७।८

३. अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः।
पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः।।
निहन्ति हृद्रुजाध्मानार्शः शूलोदरापची।
अपामार्गोऽरुणो वात विष्टम्भी कफहृद्धिमः।।
रूक्षः पूर्णगुणैर्न्यूनः कथितो गुणवेदिभिः।।

भावप्रकाश नि० ३।२२०–२२३

४. अपामार्ग फलं स्वादु रसे पाके च दुर्जरम्।
विष्टम्भि वातलं रूक्षं रक्तपित्तप्रसादनम्।। भावप्रकाश नि० ३।२२३–२२४

५. त्वयाहं सर्वभूतानि पश्यानि देव्योषधे।
अथर्ववेद ४।२०।२ एवं सम्पूर्ण सूक्त द्रष्टव्य

४५. १. त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः।। अथर्ववेद ४।३७।१

२. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजश्रृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय।। अथर्ववेद ४।३७।२

३. नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्।। अथर्ववेद ४।३७।३

४. गुग्गुलुः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।।३।।
यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।।४।। अथर्ववेद ४।३७।३–४

५. श्रृङ्गी कर्कटश्रृङ्गी च स्यात्कुलीरविषाणिका।
अजश्रृङ्गी च वक्रा च कर्कटाख्या च कीर्त्तिता।।
श्रृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्।
श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्काऽरुचिर्वमीर्हरेत्।।भावप्रकाश नि० १।१८१–१८२

६. कर्कटश्रृङ्गिका तिक्ता चोष्णा च तुवरा गुरुः।
वातहिक्कातिसारघ्नी बालानां च हितावहा।।
कासं श्वासं रक्तदोषं पित्तं जूर्त्तिं कफक्षयम्।
वान्तिं हिध्मां चोर्ध्ववातं कृमितृष्णाक्षतक्षयान्।।
अरुचिं नाशयत्येव ऋषिभिः परिकीर्तिता।। निघण्टु रत्नाकर

७. अजश्रृङ्गी कटुः तिक्ता कफार्शः शूलशोथघ्नी चक्षुष्याश्वासहृद्रोगविषकास कुष्ठघ्नी च एतत्फलं च तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीप्तिकृत् हृद्यं रुच्यं लवणरसमम्लरसं च।। राजनि० व० ६

८. गुग्गुलुविशदस्तिक्तो........मग्नसन्धानकृद्वृष्यः सूक्ष्मस्वर्यो रसायनः।
दीपनः पिच्छिलो बल्यः कफवातव्रणापचीः।
मेदो मेहाश्मवातश्च क्लेदकुष्ठाममारुतान्।
पिण्डिकाग्रन्थिशोफार्शो गण्डमालां कृमीञ्जयेत्।।
माधुर्याच्छमयेद् वातं कषायत्वाच्च पित्तहा।
तिक्तत्वात्कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा।। भावप्रकाश नि० २।३८–४२

९. जराव्याधिहरत्वाद् रसायनः। कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः।
कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शघ्नः। राजनि० व० १२

४६. १. पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत्।
स्वादु तिक्तं च यत्पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषहृत्।।
भावप्रकाश नि० ६।१३२–१३३

२. वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदं च तत्।
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम्।
मधुरं ज्वरहृद् वान्ति मदनुत्कफपित्तनुत्।
तृष्णास्त्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम्।। भावप्रकाश नि० २।८६–८८

३. जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।
मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ।। भावप्र० नि० १।१२५–१२६

४. अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धती।
अधेनवे यसे शर्म यच्छ चतुष्पदे।।
शर्म यच्छ त्वोषधि सहदेवीररुन्धती।
करत्पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत् पूरुषान्।।
विश्वरूपां सुभगामच्छा वदामि जीवलाम्।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः।। अथर्ववेद ६।५६।१–३

५. वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्।।
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे।। अथर्ववेद ६।८५।१–२

६. वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्रामममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातास्र कृमींश्चोष्णोग्निदीपनः।। भावप्र० नि० ५।६२–६३

४७. १. कटुरुष्णो रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्ध आग्नेयः विद्रधिवातघ्नश्च।।
राजनिघण्टु व० ६

२. या ओषधयः सोमराज्ञीः बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः।।१।।
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देव किल्बिषात्।।२।।
यच्चक्षुषां मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु।। अथर्ववेद ६।६६।१–३

३. पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी।
अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः।।
पिप्पली रेचनी हन्ति श्वासकासोदरज्वरान्।
कुष्ठप्रमेहगुल्मार्श : प्लीहश्लेष्माममारुतान्।।
पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी।
श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेध्याग्निवर्धनी।।
जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च प्रशस्ता गुडपिप्पली।
कासाजीर्णरुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्।। भावप्र० नि० १।५४–५५,५७–५८

४. पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः।।
वाती कृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्।। अथर्ववेद ६।१०९।२–३

५. विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्यकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं च न।।
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावुपाश्रितौ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्।।
यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्यकः।
वि बृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि।। अथर्ववेद ६।१२७।१–३

४८. १. देवी देव्यामधिजाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि।
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसंस्कृधि।
यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभिषिञ्चामि वीरुधा।। अथर्ववेद ६।१३६।१–३

२. यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम्।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः।।
अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडा इव वर्धन्ताः शीर्ष्णस्ते असिताः परि।
दृंहमूलमाग्रं यच्छ विमध्यं यामयौषधे।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि।। अथर्ववेद ६।१३७।१–३

३. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलने सवर्णा विध्यामि ता अहम्।।
विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्यामासामाच्छिनद्मि स्तुकामिव।। अथर्ववेद ७।७४।१–२

४. मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता श्रावणी च तपोधना।
श्रमणाह्वा मुण्डतिका तथा श्रमणशीर्षिका।।
महाश्रमणिका त्वन्या सा स्मृताभूकदम्बिका।
.... अव्यथाऽतितपस्विनी।। भावप्र० नि० ३।२१४–२१६

५. मुण्डी तिक्ता............................मेध्यागण्डापचीकुष्ठकृमियोन्यार्तिपाण्डुनुत्।
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्तिहृत्।। भावप्र० नि० ३।२१६–२१७

६. अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि।। अथर्ववेद ७।८८।१

७. दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्पं लोष्ठमेव वा।
उपर्यरिष्टां बध्नीयाद् दंशं छिन्द्याद्दहेत्तथा।। चरक चि० २३।२५१

४६. १. दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः पुरुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम्।।
अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्।
अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्।।
उदहप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्।। अथर्ववेद १० ।४ ।२–४

२. पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुता सितम्।
पैद्वोरथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः।
पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनुत्वा वयमेमसि।
अहीन् व्यस्याततत्पथो येन स्मा वयमेमसि।। अथर्ववेद १० ।४ ।५–६

३. इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम्।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम्।। अथर्ववेद १० ।४ ।१७

४. अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः।। अथर्ववेद १० ।४ ।२०

५. (क) ककुभः (अर्जुनः) शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। भावप्र० नि०५ ।२७

(ख) (कुमारी) मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत्।।
भावप्र० नि० ३ ।२३३

६. तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।
अधस्पदेन ते पदमाददे विषदूषणम्।।
अङ्गादङ्गात्प्रच्यावय हृदयं परिवर्जय।
अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते।। अथर्ववेद १० ।४ ।२४,२५

दशम अध्याय

प्राकृतिक चिकित्सा एवं प्राकृतिक द्रव्यों के उपयोग में प्राचीन आचार्यों की दृष्टि

प्राकृतिक चिकित्सा में प्राकृतिक द्रव्यों के प्रयोग का सिद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सा में अर्थात् शरीर को प्रकृतिस्थ करने के प्रसङ्ग में प्राकृतिक पदार्थों के प्रयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि जिन पांच महाभूतों से शरीर का निर्माण हुआ है, उन्हीं पांच महाभूतों से इन पदार्थों का भी निर्माण हुआ है। जिस प्रकार इन महाभूतों का प्रत्येक शरीर में अनुपात भेद होता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में भी इन महाभूतों का अनुपात भिन्न–भिन्न होता है। जब कभी आहार–विहार की अव्यवस्था से अथवा प्राकृतिक वातावरण के साथ समुचित सामंजस्य न रह पाने के कारण शरीर अपनी प्रकृति में नहीं रह पाता अर्थात् अस्वस्थ हो जाता है, उस समय वैद्य अर्थात् शरीर एवं प्राकृतिक पदार्थों की प्रकृति को जानने पहचानने वाला व्यक्ति, शरीर में वात पित्त और श्लेष्मा अर्थात् वायु अग्नि और जल में से किसकी वृद्धि या ह्रास हुआ है.अथवा उसमें किस प्रकार का और कितना विकार हुआ है, इसकी जानकारी भली प्रकार परीक्षा पूर्वक करके विकार के कारणों को और पर्याप्त अंशों में विकार को भी दूर करता है। उसके अनन्तर शरीर के विकृत (कुपित) तत्त्व के शमन के लिए शामक प्राकृतिक पदार्थों में से बढ़े हुए अथवा क्षय को प्राप्त तत्त्व को क्षीण करने अथवा बढ़ाने के लिए उपयुक्त पदार्थों का प्रयोग करता है। आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने कौन सा प्राकृतिक द्रव्य किस दोष (वात पित्त या कफ) की वृद्धि, क्षय अथवा शमन करता है, इसका विस्तार से वर्णन किया है। इस विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करके वे आचार्य सहज ही शरीर को प्रकृतिस्थ कर दिया करते थे। प्राचीन वाङ्मय की आयुर्वेद शाखा में भावप्रकाश निघण्टु, राजनिघण्टु आदि ग्रन्थों में विविध प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है।

उदाहरणार्थ उरद (उड़द) के गुणों का वर्णन करते हुए महर्षि चरक कहते हैं यह स्निग्ध, उष्ण, मधुर, गरिष्ठ और वातघ्न है।[१] यही मत भावमिश्र का है । वे इसे मेद, कफ और पित्त को बढ़ाने वाला भी बताते हैं।[२] महर्षि चरक के अनुसार राजमाष (राजमा या लोबिया) कफ एवम् अम्लपित्त–नाशक एवं वातवर्धक होता है।[३] कुलत्थ कफ और वातनाशक है।[४] मूंग कफ और पित्त को हरता है और अल्प मात्रा में वायुकारक है।[५] मोठ वातवर्धक और कफ, पित्त को हरने वाला होता है[६] इत्यादि।

---

१. चरक सू० २७।२४
२. भावप्रकाश नि० ६।१४२–१४४
३. चरक सू० २७।२५
४. चरक सू० २७।२६
५. भावप्रकाश नि० ६।३६–४०
६. भावप्रकाश नि० ६।५०

शरीर को प्रकृतिस्थ करने के लिए अर्थात् शरीर के रोगों को दूर करके स्वस्थ करने के लिए किन्हीं प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग तब तक ही प्राकृतिक होगा, जब तक उसका प्रयोग सहज रूप से स्वरस चूर्ण अवलेह क्वाथ आदि के रूप में किया जा रहा है और वह द्रव्य उसी क्षेत्र में उत्पन्न होता हो और सहज ही सुलभ हो। यदि किसी द्रव्य का विदेशों से अथवा सुदूर देश से आयात करना पड़ रहा है अथवा किन्हीं औद्योगिक संगठनों या संस्थाओं से उनको प्राप्त करना पड़ रहा हो तो उनका प्रयोग प्राकृतिक चिकित्सा की श्रेणी में नहीं आना चाहिए। स्थानीय रूप से सुलभ द्रव्यों का प्रयोग एकल रूप से अथवा संयुक्त करके करना दोनों को ही तब तक प्राकृतिक चिकित्सा की श्रेणी में रखा जाना चाहिए, जब तक वह प्रयोग–विधि सहज हो तथा उनका प्रयोग भी विशेषज्ञता के बिना सर्व सामान्य व्यक्ति कर सके। इस कार्य में जहाँ विशेषज्ञता अनिवार्य होगी, वहीं यह औषध द्रव्यों का प्रयोग प्राकृतिक चिकित्सा की सीमा से बाहर हो जायेगा।

वर्तमान काल में सुप्रचलित प्राकृतिक चिकित्सा में उसके विशेषज्ञों द्वारा मधु, नींबू, तुलसी पत्र, निम्बपत्र, चौराई, पालक और बथुआ के पत्तों के रस का प्रयोग भिन्न रोगों में किया भी जा रहा है। कैंसर रोग को दूर करने के लिए सदाबहार के पुष्प अथवा पत्तों के रस का, वात रोगों में .रिजात (हरशृंगार) के पत्तों का काढ़ा प्रायः प्रयोग किया जा रहा है। बैंगलूर स्थित' इंस्टीट्यूट आफ नेचरक्योर एण्ड यौगिक साइंसिज़' के प्रधान चिकित्सक डा० एस० आर० जिन्दल लसुन (लहसुन Garlic) का अनेक रोगों में प्रयोग कराते भी हैं।[1] वे रोगों की एक लम्बी सूची देते हैं, जिनकी चिकित्सा लसुन के द्वारा होती है। उसका प्रयोग वे प्लेग आदि महामारियों से बचाव के लिए भी करने का परामर्श देते हैं[2] और इसके प्रयोग को वे प्राकृतिक चिकित्सा ही कहते हैं। इस सन्दर्भ में किसी प्रकार का मतभेद होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि लसुन का यह प्रयोग प्रकृति के दिये हुए सुलभ द्रव्य का प्रयोग है। किन्तु जब वे इसके कैप्सूल खाने का परामर्श देते हैं।[3] उस स्थिति में इसे प्राकृतिक चिकित्सा से बाहर माना जाना चाहिए क्योंकि कैप्सूल के प्रयोग के समय हम उद्योगशाला या रसायनशाला पर आश्रित होते हैं।

जीवनदायी द्रव्य

आयुर्वेद के आचार्यों ने प्राकृतिक चिकित्सा के इस रूप का ही अधिकतर प्रयोग किया है। यह अलग बात है कि राजा धनिक आदि सुकुमार अथवा इन्द्रियों के वश में रहने वाले रोगियों के लिए आस्वाद्य औषधि–योगों का निर्देश भी यथावसर अथवा साथ–साथ कर दिया है। यही कारण है कि वे अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय, सन्धानीय, दीपनीय, बल्य, वर्ण्य, कण्ठय, हृद्य आदि पचास महाकषायों का अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, कृमिघ्न, विषघ्न आदि पांच सौ से अधिक

---

१. Nature Cure A Way of Life, S.R. Jindal Page 26
२. Nature Cure A Way of Life, S.R. Jindal Page 27
३. Nature Cure A Way of Life, S.R. Jindal Page 28

कषायों का वर्णन करते हैं। उनका मानना है कि जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा,

काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी ये दश औषधियाँ जीवन शक्ति प्रदान करने वाली हैं।[1] विविध रोगों से ग्रस्त होकर क्षीण होते हुए मृत्यु की ओर बढ़ रहे रोगियों के शरीर का शोधन करके इन वनस्पतियों में एक या अधिक जो जहाँ सुलभ हों का प्रयोग कराना चाहिए। इससे रोगी को जीने की शक्ति प्राप्त होती है और वह जीवन शक्ति से सम्पन्न होकर रोग पर, उसके कारण निकट आ रही मृत्यु पर, विजय प्राप्त कर सकता है। इस वर्ग में गिनायी गयी दसों वनस्पतियाँ देश के भिन्न–भिन्न भाग में उत्पन्न होने वाली प्रकृति से उपहार के रूप में प्राप्त द्रव्य हैं। इनका प्रयोग प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में ही भारतवर्ष में हजारों लाखों वर्षों से होता आया है।

बृंहण द्रव्य–

इसी प्रकार कुछ लोगों का शरीर किन्हीं ज्ञात अथवा अज्ञात कारणों से निरन्तर क्षीण, अतिशय दुबला, पतला और निर्बल बना रहता है। वर्तमान सुप्रचलित एलोपैथिक चिकित्सा–विधि में ऐसे लोगों के लिए अनेक प्रकार के विटामिन्स और ड्यूरेबलिन जैसी औषधियों का प्रयोग कराया जाता है, जिसके लिए रोगी और चिकित्सक को रसायनशालाओं अथवा उद्योगशालाओं पर आश्रित रहना पड़ता है। प्राचीन आचार्यों ने ऐसे लोगों के लिए क्षीरिणी (क्षीरविदारी) राजक्षवक (दुग्धिका), बला (खरेंटी), काकोली, क्षीरकाकोली, वाट्यायनी (श्वेतबला), भद्रौदनी (पीतबला), भारद्वाजी (वन–कपास), पयस्या (विदारीकन्द), ऋष्यगन्धा (विधारा) ये दस बृंहणीय महौषधियाँ बतायी हैं। इनमें एक या अनेक जो सहज रूप से सुलभ हों का प्रयोग करने से शरीर का बृंहण होता है। वह बढ़ता है और उसकी क्षीणता दूर होती है।[2]

लेखन (मोटापाहारी) द्रव्य–

शरीर में मेदस् की वृद्धि होने से मोटापा बढ़ता है। यह बहुत कष्टदायी रोग है। इसे दूर करने के लिए शरीर में वात एवं पित्त की वृद्धि करनी आवश्यक होती है। वात, पित्त की वृद्धि करके मोटापा को दूर करने वाली औषधियों को लेखनीय औषधि कहा जाता है।[3] लेखनीय द्रव्यों में मुख्य नागरमोथा, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, बालवच, अतीस, कटुरोहिणी (कुटकी), चित्रक, चिरबिल्व (करंज़), हेमवती (सफेद वच) ये दस वनस्पतियां हैं। इनका अलग– अलग अथवा जो भी उपलब्ध हों, उनका संयुक्त प्रयोग करने से मोटापा दूर होकर शरीर हलका, बलशाली और स्वस्थ हो जाता है।[4]

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (१) (ख) अ० संग्रह सू० १५।६
२. (क) चरक सू० ४।६ (२) (ख) अ० संग्रह सू० १५।७
३. सुश्रुत सू० ४१।६
४. (क) चरक सू० ४।६ (३) (ख) अ० संग्रह सू० १५।८

कब्जहारी द्रव्य–

कोष्ठगत मल को गुदा मार्ग से बाहर निकालने को अनुलोमन, संसन, भेदन या रेचन कहते हैं, ये रेचक भेदन करने वाले द्रव्य पेट में पहुँचकर पाचन जिनका हुआ है, अथवा नहीं हुआ है–दोनों ही प्रकार के मल आदि को तरल बनाकर बाहर निकालते हैं।[१] सामान्यतः सभी रेचक द्रव्य उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकासी गुणों से युक्त होते हैं।[२] इन द्रव्यों में पार्थिव और जलीय अंश की अधिकता होती है, गुरुता के कारण इनकी अधोगामिनी प्रवृत्ति होती है।[३] इस प्रकार की भेदनीय औषधियों में प्रधान त्रिवृत्त (सुवहा), मन्दार, एरण्ड, लाङ्गली (कलिहारी), चित्रा (दन्ती), चित्रक, चिरबिल्व, (करञ्ज), शंखिनी (यवतिक्ता), शकुलादनी (कटुकी) और स्वर्णक्षीरी ये दस हैं। इनमें यथा सुलभ एक अथवा एकाधिक का प्रयोग करने से विरेचन हो जाता है।[४] इसी प्रकार सुख विरेचन के लिए त्रिवृत् का, मृदुविरेचन के लिए चतुरङ्गुल (अमलतास) तथा तीक्ष्ण विरेचन के लिए सेहुण्ड (थूहर) के दूध का प्रयोग किया जाता है।[५]

सन्धानीय (व्रणहर) द्रव्य–

शरीर में किसी प्रकार की चोट लगने पर, कटने पर, मांस, अस्थि अथवा चर्म को प्रकृतिस्थ करने के लिए भारत के प्राचीन ऋषि मुनि मुलेठी, मधुपर्णी, पृश्निपर्णी (पिठवन), अम्बष्ठकी (पाठा), सम ङ्गा (मजीठ या लज्जालु) मोचरस, धातकी, लोध्र, प्रियंङ्गु, कायफल इन दस औषधियों में जो स्थानीय रूप से सुलभ हो उनका उपयोग करते थे, इन औषधियों को सन्धानीय कहते हैं।[६]

दीपनीय–

शरीर की पुष्टि और आरोग्य के लिए पाचन–संस्थान का महत्त्व सर्वविदित है। पाचन–संस्थान के अङ्गों अथवा कार्यकारी साधनों में जठराग्नि सर्वप्रमुख है। जठराग्नि के मन्द होने पर ग्रहण किये गये आहार का भली प्रकार पाचन नहीं होता। रस, रक्त, आदि का अपेक्षित मात्रा में निर्माण नहीं हो पाता, फलतः शरीर क्रमशः निर्बल होकर अनेक रोगों का आवास बन जाता है। इसलिए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अग्नि को प्रदीप्त रखना आवश्यक है। भारत के प्राचीन ऋषि मुनि जठराग्नि को प्रदीप्त

---

१. शार्ङ्गधर पूर्व ४।६,७
२. चरक कल्प १।५
३. सुश्रुत सू० ४१।६
४. (क) चरक सू० ४।६ (४) (ख) अ० संग्रह सू० १५।६
५. चरक सू० २५।४०
६.(क) चरक सू० ४।६ (५) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१०

करने के लिए पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, नागर सोंठ या अदरख, अम्लवेतस, कालीमिर्च, अजमोद, भल्लातकास्थि (भिलावा की गुठली), हिंगु निर्यास (शुद्ध हींग) इन दस प्राकृतिक पदार्थों का सामूहिक अथवा एक या अधिक जो सुलभ हो, का उपयोग करते थे। जठराग्नि का दीपन करने के गुण के कारण इन औषधियों को दीपनीय कहा जाता है।[१]

बल, वीर्यवर्धक द्रव्य—

प्राचीन ऋषि मुनि शरीर के बल की वृद्धि के लिए ऐन्द्री (गोरक्षकर्कटी, इन्द्रायण की जड़) ऋषभी, (किवांच के बीज), अतिरसा (शतावरी), ऋष्यप्रोक्ता (माषपर्णी), पयस्या (विदारीकन्द या क्षीरकाकोली), अश्वगन्धा, स्थिरा (शालपर्णी) रोहिणी (जटामांसी), बला और अतिबला इन दस औषधियों का अथवा इनमें जो जहाँ स्थानीय रूप से प्रकृति के उपहार के रूप में प्राप्त हों, उनका उपयोग करते थे।[२]

सौन्दर्यवर्धक—

सौन्दर्य सभी को प्रिय है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए और उसे चिरस्थायी बनाये रखने के लिए सदा से प्रयत्नशील रहा है। सौन्दर्य में वर्ण का महत्त्व सर्वाधिक है। सुवर्ण के प्रति सभी का आकर्षण और उसकी महर्घता उसके सुवर्ण होने अर्थात् सुन्दर वर्णवाला होने से है। अपने वर्ण को आकर्षक बनाने और उसे स्थिर बनाये रखने के लिए प्राचीन काल में वैदिक ऋषि चन्दन, तुंग, (नागकेसर—पुन्नाग), पद्मक (पद्माक्ष) उशीर (खश), मुलेठी, मजीठ, अनन्तमूल, पयस्या (विदारीकन्द या क्षीरकाकोली), सिता (सफेद दूब), लता (काली दूब) इन वर्ण प्रसादक दस औषधियों का प्रयोग करते कराते थे।[३]

स्वर्य—

अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने के लिए मनुष्य भाषा का प्रयोग करता है। भाषा का प्रयोग ध्वनियों और उसके चित्र वर्णमाला के माध्यम से होता है। ध्वनियों की अभिव्यक्ति में कण्ठ का प्रमुख स्थान है। यहाँ स्वर यन्त्र की स्थिति है, जहाँ सम्पर्क पाकर वायु ध्वनि के रूप में परिवर्तित होती है। स्वर यन्त्र अथवा कण्ठ के अन्य अवयवों के स्वस्थ रहने पर ही मनुष्य सुस्पष्ट ध्वनियों का निर्बाध उच्चारण कर पाता है। इसलिए सुस्पष्ट उच्चारण के लिए दूसरे शब्दों में अपने विचारों को बिना बाधा के

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।११
२. (क) चरक सू० ४।६ (७) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१२
३. (क) चरक सू० ४।६ (८) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१३

सुस्पष्टता पूर्वक पहुँचाने के लिए कण्ठ का और उसके प्रत्येक अङ्गों और उपाङ्गों का

स्वस्थ रहना आवश्यक है। इसके लिए प्राचीन काल में सारिवा (अनन्तमूल), इक्षुमूल (ईख की जड़), मुलेठी, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), विदारीकन्द, कायफल, हंसपदी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी इन दस औषधियों का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता था।[1]

हृद्य (हृदयरोगहर) द्रव्य–

हृदय शरीर का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। सम्पूर्ण शरीर में रक्त का प्रवाह और रक्त के द्वारा ओषजन (प्राण शक्ति) की आपूर्त्ति हृदय के निरन्तर क्रियाशील रहने से ही हो पाती है। हृदय की गति बन्द होते ही हमारी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। अतः हृदय का स्वस्थ और बलशाली रहना सबसे अधिक आवश्यक है। हृदय को स्वस्थ और सबल बनाये रखने के लिए आहार में रुचि का महत्त्व है। इसलिए आहार में रुचि उत्पन्न करने वाली औषधियाँ हृद्य कहलाती हैं। हृद्य औषधियों में निम्नलिखित दस सर्वप्रमुख हैं–आम, आम्रातक (आमड़ा), लिकुच (बड़हर), करमर्द, (करौंदा), वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, कुवल (बड़ावेर), बदर (बेर), दाडिम (अनार), मातुलु ङ्ग (बिजौरा नीबू)।[2]

अरुचिहर–

कभी–कभी कफजन्य विकार के कारण मनुष्य में भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। आहार ग्रहण किये बिना भी भोजन लेने की इच्छा नहीं होती। मेरा पेट भरा हुआ है, ऐसी ही अनुभूति रोगी को होती है। इस रोग को अरोचक, भक्त द्वेष अथवा तृप्ति नाम दिया जाता है। क्षुधा को उत्पन्न करके इस रोग को दूर करने के लिए प्राचीन आचार्य नागर (सोंठ), चित्रक, चव्य, वायविडंग, मूर्वा, गिलोय, वच, नागरमोथा, पिप्पली और परवल इन दस औषधियों का सुलभता के अनुसार प्रयोग करते थे।[3]

अर्शहर द्रव्य–

अर्श एक सुविदित और कष्टकारक रोग है। इसके मूल में कब्ज रहता है अतः यह रोग कष्टसाध्य माना जाता है। महर्षि चरक ने इस रोग से छुटकारा पाने के लिए कुटज (कुरैया) बेल, चित्रक, सोंठ, अतीस, हरीतकी, धन्वयास (घमासा), दारुहल्दी, वचा और चव्य इन दस औषधियों को सर्वाधिक उपयोगी बतलाया है। इनके नियमित प्रयोग से अर्श निर्मूल हो जाता है।[4]

कुष्ठहर द्रव्य–

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१४
२. (क) चरक सू० ४।६ (१०) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१५
३. (क) चरक सू० ४।६ (११) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१६
४. (क) चरक सू० ४।६ (१२) (ख) अ० संग्रह सू० १५।१७

चर्म सम्पूर्ण शरीर का आवरण है। इसे त्वचा के नाम से प्रायः शास्त्रों में स्मरण किया गया है। त्वचा की सात परतें शरीर पर हैं, इसलिए सात त्वचाएँ मानी गयी हैं। इनमें उत्पन्न रोग चर्म रोग या कुष्ठ कहलाते हैं। बाहरी त्वचा में उत्पन्न विकारों की अपेक्षा अन्दर की दूसरी, तीसरी, चौथी अर्थात् उत्तरोत्तर अन्दर की त्वचा के विकार (रोग) कष्टसाध्य होते हैं। इन त्वचा के कष्टकारी कठिन रोगों का सामूहिक नाम कुष्ठ है। इसके अनेक भेद हैं। सभी प्रकार के कुष्ठ कष्टसाध्य होते हैं। पुराने होकर वे असाध्य भी हो सकते हैं। साध्य कुष्ठ रोगों के निवारण के लिए प्राचीन आचार्य शोधन के अनन्तर[1] निम्नलिखित दस औषधियों में प्रकृति के उपहार भूत एक अथवा प्राप्त होने पर अनेक वनस्पतियों का प्रयोग करते रहे हैं। खदिर (खैर की लकड़ी), अभया (हरीतकी) आंवला, हल्दी, अरुष्कर, (भिलावा), सप्तपर्ण, आरग्वध (अमलतास), कन्नेर, वायविडंग, जाती (चमेली की पत्तियाँ) इन्हें कुष्ठघ्न कहा गया है।[2] कण्डु अर्थात् खुजली भी त्वचा का रोग है। जो मुख्य रूप से बाह्य त्वचा में होता है और सुसाध्य भी है। प्राचीन आचार्य कण्डु रोग को दूर करने के लिए सफेद चन्दन, जटामांसी (बालछड़), कृतमाल (अमलतास), नक्तमाल (लताकरंज), नीम, कुटज, सरसों, मुलेठी, दारुहल्दी और नागरमोथा, इन दस औषधियों को प्रयोग करने का निर्देश करते हैं।[3]

कृमिहर द्रव्य–

आयुर्विज्ञान के प्राचीन ग्रन्थों में बीस प्रकार के कृमियों का वर्णन किया गया है। ये कृमि विविध प्रकार की व्यथाओं (रोगों) को उत्पन्न करते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से इनका विभाजन दो वर्गों में किया जाता है। कृमि रोग में औषधि की अपेक्षा पथ्य का महत्त्व बहुत अधिक है। अन्तः कृमि के रोगी के लिए जिन वस्तुओं को अपथ्य कहा गया है, बहुधा पूर्णरूपेण उनका त्याग नहीं हो पाता है। इसलिए जीवन भर कृमियों की परम्परा बनी रहती है। महर्षि चरक ने जिन बीस प्रकार की कृमियों का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं– 'बीस प्रकार की कृमियों में यूका (जूं, लीख) और पिपीलिका ये दो बाहरी मल से पैदा होती हैं। केशाद (मोटे बालों की जड़ों को खाने वाली) लोमाद=(रोमों को खाने वाली) लोमद्वीप=(रोमों की जड़ में रहने वाली), सौरस, औदुम्बर और जन्तु–माता ये छह कृमियाँ रक्तवाहिनी सिराओं में उत्पन्न होती हैं।[4]

---

१. (क) सुश्रुत चि० ६ ।६ (ख) अष्टांग हृदय चि० १६ ।१ (ग) चरक चि० ७ ।३६
२. (क) चरक सू० ४ ।६ (१३) (ख) अ० संग्रह सू० १५ ।१८
३. (क) चरक सू० ४ ।६ (१४) (ख) अ० संग्रह सू० १५ ।१६
४. चरक सू० १६ ।४ (६)

अन्त्राद (इनके कारण आँतों में घाव हो जाते हैं) उदरावेष्ट, हृदयाद (हृदय को जाने वाली), चुरु, दर्भपुष्प= (कुश के फूल की सी आकृतिवाली), सौगन्धिक (नासिका या शिर में रहने वाली कृमि), महागुद (महागुदा अर्थात बड़ी आँत के निम्न भाग में रहने वाली) ये सात कृमि कफ से उत्पन्न होते हैं। ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौसुराद ये पांच प्रकार के कृमि पुरीष में उत्पन्न होते हैं।[१] उपर्युक्त सभी प्रकार के कृमियों के नष्ट करने के लिए प्राचीन आचार्य अक्षीव (सहजन), काली मिर्च, गण्डीर (स्नुही), केबुक (केऊ) वायविडङ्ग, निर्गुण्डी (सम्हालू), अपामार्ग, गोखरू, वृषपर्णी, आखुपर्णी इन दस वनस्पतियों में अन्यतम अथवा यथालाभ समष्टि के उपयोग करने का निर्देश देते हैं।[२]

विषहर–

शरीर में किसी माध्यम से प्रविष्ट हुए विष को दूर करने के लिए हल्दी, मजीठ, सुवहा (निशोथ, रास्ना अथवा हाफर (माली), छोटी इलायची, पालिन्दी (श्याम लता), चन्दन, कतक (निर्मली), शिरीष, सिन्धुवार (सम्भालू), श्लेष्मातक (लिसोड़ा) इन दस औषधियों में जो भी एक या अधिक प्राप्त हों उनका प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है।[३]

स्तन्य द्रव्य–

जन्म से लेकर कुछ मास तक सम्पूर्ण रूप से और उसके बाद आंशिक रूप से शिशु का आहार मातृ स्तन्य (माता का दूध) ही रहता है। कभी–कभी मां के स्तनों में दूध की मात्रा बहुत कम होती है। इतनी कम कि शिशु की आहार की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो पाती। इस स्थिति में दूध की मात्रा में वृद्धि के लिए प्रकृति की उपहार भूत जिन औषधियों (वनस्पतियों) का प्रयोग किया जाता है उनमें वीरण (खश), शालि, षष्ठिक (साठी के चावल), इक्षुवालिका (खागलिका), दर्भ, कुश, काश गुन्द्रा, (जलज दर्भ अथवा गुलुच), इत्कट (शरकण्डा) और कत्तृण इन सबकी जड़ें प्रधान हैं। इनमें प्रत्येक अकेले अथवा उपलब्धि के अनुसार इनकी समष्टि का प्रयोग किया जाता है।[४] कभी–कभी माता का या धात्री (धाय–आया) का दूध दोष पूर्ण होता है। जिसे पीकर शिशु रोगी हो जाता है। उस दोष को दूर करने के लिए अर्थात् स्तन्य के शोधन के लिए जिन विविध औषधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें निम्नलिखित दस मुख्य हैं– पाठा (पाढल), सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, वत्सक फल (इन्द्रजौ),

---

१. चरक सू० १६।४ (६)

२. (क) चरक सू० १६।४ (१५) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२०

३. (क) चरक सू० १६।४ (१६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२१

४. (क) चरक सू० १६।४ (१७) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२२

किराततिक्त (चिरायता), कटुरोहिणी (कुटकी), सारिवा (अनन्तमूल)।[1] आचार्य धन्वन्तरि पाठा, सोंठ, मूर्वा, गिलोय, चिरायता और सारिवा के स्थान पर वचा, अतीस, अभया, बड़ी हरड़, नागकेशर, पृश्निपर्णी, (कलशी) और मुलहठी को स्तन्य शोधन औषधियों में अधिक महत्त्व देते हैं।[2]

शुक्रवर्धक द्रव्य–

शरीरगत धातुओं में शुक्र (वीर्य) श्रेष्ठतम धातु है। सन्तानोत्पादन हेतु सम्भोग क्रिया के लिए भी शुक्र ही आधार है। शुक्र का क्षय होने से उत्पन्न शुक्राल्पता से शरीर क्रमशः क्षीण हो जाता है। नपुंसकता आदि कुछ रोग के पीछे शुक्र की अल्पता प्रधान कारण होती है। इस स्थिति में शुक्र वृद्धि के लिए उपाय करने की आवश्यकता होती है। प्रकृति ने शुक्र की वृद्धि करने वाली अनेक वनस्पतियाँ और खनिज मनुष्य को उपहार स्वरूप दिये हैं। खनिजों का उपयोग तो शोधन, जारण, मारण आदि अनेक रासायनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के उपरान्त ही हो सकता है। अतः उनका उपयोग प्राकृतिक चिकित्सा की सीमा से परे होगा। अतः प्रकृति के प्रेमी प्राचीन ऋषि मुनि वनस्पतियों का प्रयोग करना ही उचित मानते हैं। उन्होंने द्रव्य गुण विज्ञान के विवरण में शुक्रजनक अनेक औषधियों और वनस्पतियों का अथवा वनस्पति से भिन्न द्रव्यों का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार उन विविध शुक्र जनक या शुक्रवर्धक द्रव्यों में जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, वृद्धरुहा (शतावरी), जटिला (जटामांसी) अथवा उच्चटा कुलिंगा ये दस औषधियाँ प्रधान हैं।[3]

शुक्रशोधक द्रव्य–

शुक्र में किसी प्रकार का विकार आने पर भारत के प्राचीन ऋषि मुनि प्राकृतिक सम्पदा के अवयव भूत कूठ, एलवालुक, कट्फल (कायफल या कायफल का छिलका) समुद्रफेन, कदम्ब का निर्यास (कदम्ब वृक्ष का गोंद), ईख, इक्षुकाण्ड, इक्षुरक (कोकिलाक्ष, तालमखाना), वसुक (वसुहट्टक), उशीर (खश) इन दस द्रव्यों का मुख्य रूप से उपयोग करते थे।[4]

रूक्षताहर द्रव्य–

शरीर में वात, पित्त, कफ रूप में विद्यमान वायु, अग्नि जल के अनुपात में गड़बड़ी

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (१८) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२३

२. सुश्रुत सू० ३८। २६–२८

३. (क) चरक सू० ४।६ (१६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२४

४. (क) चरक सू० ४।६ (२०) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२५

होने पर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। रूक्षता भी उनमें एक है। उसे दूर करने के लिए

तथा शरीर शोधन के पूर्व कर्म के रूप में अपेक्षित स्नेहन के लिए प्राचीन काल से ऋषि मुनि मुनक्का, मुलेठी, मधुपर्णी, मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती एवं शालिपर्णी इन दस औषधियों का व्यवहार करते रहे हैं।[१] इनका प्रयोग करने से बहुत शीघ्र स्नेहन हो जाता है एवं रूक्षता दूर हो जाती है।

स्वेदकर–

इसी प्रकार शोभाञ्जन (सहजन), एरण्ड, अर्क (मदार), वृश्चीर पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा जौ, तिल, कुलत्थ (कुलथी) माष (उड़द) और वेर ये औषधियाँ अकेले या समूह के रूप में प्रयुक्त होकर स्वेदन में सहायक होती हैं।[२]

वमनकर द्रव्य–

विविध रोगों की चिकित्सा के क्रम में शरीर के शोधन के लिए वमन, विरेचन और दो प्रकार की वस्ति क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। इन क्रियाओं में वमन के लिए मधु, मुलेठी, कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (सफेद कचनार), नीप (कदम्ब), विरल (हिज्जल, समुद्र फल अथवा जलवेतस) विम्बी (कुन्दरू), शणपुष्पी, सदापुष्पी (मदार), प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग) का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है।[३]

विरेचनकर द्रव्य–

विरेचन के लिए प्राचीन ऋषि मुनि द्राक्षा, काश्मरी (गम्भारी), परूषक (फालसा), हरीतकी, आंवला, बहेड़ा, कुवल, बदर (बेर), कर्कन्धु (झड़बेर) एवं पीलु इन दस वनस्पतियों का प्रधान रूप से उपयोग करते रहे हैं।[४]

वस्ति-क्रिया में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य–

वस्ति क्रिया दो प्रकार की होती है। आस्थापन या निरूह और अनुवासन। आस्थापन को शोधन वस्ति और अनुवासन को स्नेहवस्ति के रूप में भी जाना जाता है। दोनों प्रकार की वस्तियों में कुछ औषधियों के क्वाथ का प्रयोग करने से ही इनका पूर्ण प्रयोजन सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (२१) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२६
२. (क) चरक सू० ४।६ (२२) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२७
३. चरक सू० ४।६ (२३)
४. चरक सू० ४।६ (२४)

प्राचीन स्वास्थ्य विज्ञान के आचार्य आस्थापन वस्ति के लिए त्रिवृत (निशोथ), बेल, पिप्पली, कूठ, सरसों, वचा, इन्द्रजौ, शतपुष्पा (सोया), मधूक (महुआ) और मैनफल इन दस वनस्पतियों का[1] एवं अनुवासन वस्ति में रास्ना, देवदारु, बेल, मैनफल, शतपुष्पा, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), पुनर्नवा (लाल पुनर्नवा), गोखरू, अग्निमन्थ (अरणी) श्योनाक (सोनापाठा) इन दस वनस्पतियों का प्रयोग करते हैं।[2]

शिरोविरेचनीय—

इसी प्रकार शिरोविरेचन हेतु प्राचीन आचार्य मालकांगनी, क्षवक (नकछिकनी), काली मिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, सहिजन के बीज, सरसों, अपामार्ग के चावल (बीज), श्वेता (अपराजिता, श्वेत विष्णुकान्ता), महाश्वेता (अपराजिता का एक भेद) इन दस औषधियों का प्रयोग करने का परामर्श देते हैं।[3]

छर्दिहर द्रव्य—

चिकित्सा के प्रसङ्ग में जहाँ शोधन कार्य के लिए कफ प्रधान रोगों में वमन कराया जाता है, वहीं वमन स्वयं में एक कष्टकारक रोग है। वमन को छर्दि भी कहते हैं। इसके निवारण के लिए जामुन, आम के कोमल पत्ते, बिजौरा नीबू, खट्टे बेर, दाडिम (अनार), जौ, साठी के चावल, खश, मिट्टी, लाजा (खील—धान के लावा) इन दस द्रव्यों का औषधि के रूप में प्रयोग प्राचीन काल के आचार्य करते रहे हैं।[4]

तृष्णाहर द्रव्य—

वात और पित्त की वृद्धि एवं श्लेष्मा का क्षय होने से तृष्णा की अनुभूति होती है। यह तृष्णा शरीर की आवश्यकता भी हो सकती है और रोग भी। तृष्णा रोग के शमन के लिए प्राचीन आचार्य नागर (सोंठ), धन्वयवासक (जवासा), मोथा, पित्तपापड़ा, चन्दन, चिरायता, गुडूची (गुरुच), ह्रीवेर (सुगन्धबाला), धान्यक (धनिया) और पटोल (परवल) इन दस वनस्पतियों का प्रयोग करते रहे हैं।[5]

हिक्काहर—

हिक्का अर्थात् हिचकी उदान वायु के कुपित होने के कारण उत्पन्न होती है, उसके शमन हेतु प्राचीन आचार्य शटी (कचूर) पुष्करमूल (पोहकरमूल) बदरबीज (बेर की गुठली), कण्टकारी (छोटी कटेली), बृहती (बड़ी कटेली), वृक्षरुहा (बन्दाक), अभया (हरड़), पिप्पली, दुरालभा (जवासा), कुलीर—शृङ्गी (काकड़ा सिंगी) इन दस प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग करते थे।[6]

---

१. चरक सू० ४।६ (२५)
२. चरक सू० ४।६ (२६)
३. चरक सू० ४।६ (२७)
४. (क) चरक सू० ४।६ (२८) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२८
५. (क) चरक सू० ४।६ (२६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।२६
६. (क) चरक सू० ४।६ (३०) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३०

अतिसारहर–

अतिसार आदि विकारों में पुरीष (मल) पतला पड़ जाता है, अतः गुदवलियां उसको रोकने में अक्षम हो जाती हैं। इस स्थिति में अपान वायु के निस्सरण के साथ मल भी बाहर निकल जाता है। ऐसी स्थिति में मल–संग्रहण आवश्यक हो जाता है। प्राचीन काल के ऋषि मुनि मल–संग्रहण के लिए प्रियङ्गु, अनन्ता (दुरालभा), आम की गुठली, कट्वङ्ग (सोनापाठा), लोध्र, मोचरस (सेमर का गोंद), समङ्ग (मंजिष्ठा या लज्जालु) धाय के फूल, पद्मा (भारङ्गी) और कमल केसर इन दस द्रव्यों का प्रयोग करते रहे हैं।[१]

पित्तविकारहर–

शरीर में रञ्जक पित्त में विकार उत्पन्न होने पर पुरीष विविध रङ्ग सहित होता है और शरीर में अनेक प्रकार के विकार होने लगते हैं। प्राचीन आचार्य रंजक पित्त के इस विकार को दूर करने के लिए जामुन, शल्लकी की छाल, कच्छुरा (किवाच), मधूक, सेमल, श्रीवेष्टक (गन्ध विरोजा), भृष्टमृत् (भुनी हुई मिट्टी), पयस्या (क्षीरिणी या विदारीकन्द), नीलकमल, तिल के बीज इन दस द्रव्यों का प्रयोग बताते हैं।[२]

प्रमेहहर द्रव्य–

प्रमेह आदि अनेक रोगों में मूत्र की अधिक प्रवृत्ति होती है। बहुमूत्र नामक एक प्रमेह का प्रकार भी है। जिसमें मूत्र की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। जिन औषधियों के प्रयोग से मूत्र की संख्या और मात्रा दोनों में कमी होती है। उन औषधियों को मूत्र–संग्रहणीय औषधियाँ कहा जाता है। जामुन, आम, प्लक्ष (पाकड़), वट (वरगद), कपीतन (आम्रातक), गूलर, पीपल, भिलावा, अश्मन्तक, सोमवल्क ये दस औषधियाँ मूत्र संग्रहणीय औषधियों में प्रमुख मानी जाती हैं।[३]

बहुमूत्रहर–

हारिद्रमेह (प्रमेंह का एक भेद) अथवा अन्य अनेक रोगों की स्थिति में मूत्र का वर्ण पीला, लाल, काला हो जाता है। मूत्र के ये विकृत वर्ण शरीरान्तर्गत विकार की सूचना देते हैं। प्राचीन ऋषि मुनि उन रोगों को समूल नष्ट करके शुद्ध स्वाभाविक मूत्र लाने वाली विविध वनस्पतियों का प्रयोग करते थे। उनमें प्रमुख दस निम्नलिखित हैं–पद्म (सफेद कमल), उत्पल (नील कमल), नलिन (लाल कमल), कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, मधूक (महुआ), प्रियंगु, धाय के फूल।[४]

मूत्रल द्रव्य–

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (३१) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३१
२. (क) चरक सू० ४।६ (३२) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३२
३. (क) चरक सू० ४।६ (३३) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३३
४. (क) चरक सू० ४।६ (३४) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३४

मूत्र का अवरोध अथवा मूत्र का कम आना, अश्मरी, मूत्र कृच्छ आदि रोगों का चिह्न है। उच्च रक्तचाप जैसे कुछ रोगों में मूत्र–विरेचन चिकित्सा के अंग के रूप में आवश्यक होता है। मूत्रविरेचन के लिए आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य विविध प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग करते रहे हैं। वृक्षादनी (वन्दाक) गोखरू, वसुक (वसु), वशिर (सूर्यमुखी), पाषाण भेद, दर्भमूल, कुश की जड़, काश की जड़, गुन्द्र की जड़, इत्कट (शरमूल) मूत्र विरेचनीय द्रव्यों में प्रधान हैं।[1]

कास–श्वासहर द्रव्य–

श्वास और कास अतिशय कष्टदायी रोग हैं। इनमें यद्यपि तीव्र पीड़ा नहीं होती, किन्तु रोगी खांसी अथवा श्वास प्रश्वास की अस्वाभाविक गति के कारण सदा बेचैन रहता है और क्रमशः क्षीण होता जाता है। इनके निवारण के लिए प्राचीन आचार्यों ने जहाँ अनेक आसव, अरिष्ट, अवलेह, रस, चूर्ण एवं गुटिका आदि का विधान किया है, वहाँ अनेक वनस्पतियों का परिचय भी कराया है और इनमें से किसी एक का अथवा जो भी उपलब्ध हो सके उनकी समष्टि का प्रयोग करने का निर्देश किया है। उन विविध वनस्पतियों में द्राक्षा (मुनक्का), हरीतकी, आंवला, पिप्पली, दुरालभा (जवासा या हिंगुआ), शृंगी (काकड़ासींगी), कण्टकारी (छोटी कटेली), वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), पुनर्नवा (लाल पुनर्नवा), तामलकी (भूमि आंवला) ये दस द्रव्य कास को दूर करने के लिए[2] तथा कचूर, पुष्करमूल (पोहकरमूल), अम्लवेतस, छोटी इलायची, हींग, अगर, सुरसा (तुलसी), तामलकी (भूमि आंवला), जीवन्ती, चण्डा (चोर पुष्पी) ये दस औषधियाँ श्वास को दूर करने के लिए प्रधान हैं।[3]

शोथहर द्रव्य–

दूषित वायु विविध कारणों से दूषित रक्त, पित्त एवं कफ को बाहरी सिराओं में ले जाकर और वहाँ रुक कर त्वचा तथा मांस में कठोर ऊँचाई पैदा कर देता है। इन तीनों दोषों की समष्टि से उत्पन्न हुए उपर्युक्त शारीरिक विकार को शोथ या शोफ कहा जाता है। कारण और लक्षण भेद से शोथ नौ प्रकार का माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने यद्यपि शोथ को दूर करने के अनेक उपाय बतलाये हैं तथापि वे वनस्पति–प्रधान प्राकृतिक उपायों में निम्नलिखित दस वनस्पति द्रव्यों में से एक अथवा सुलभता के अनुसार एक से अधिक की समष्टि को प्रयोग करने का विधान प्रधानतया करते हैं–पाढल, अरणी, बेल, अरलू, गम्भारी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, सरिवन, पिठवन और

---

१. (क) चरक सू० ४ ।६ (३५) (ख) अ० संग्रह सू० १५ ।३५
२. (क) चरक सू० ४ ।६ (३६) (ख) अ० संग्रह सू० १५ ।३६
३. (क) चरक सू० ४ ।६ (३७) (ख) अ० संग्रह सू० १५ ।३७

गोखरू[1] उपर्युक्त दस वनस्पतियों में प्रथम पांच को बृहत्पञ्चमूल[2] एवं बाद की पांच वनस्पतियों को लघुपञ्चमूल[3] के नाम से स्मरण किया जाता है। लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल दोनों को मिलाकर दशमूल के नाम से प्राचीन आचार्यों ने स्मरण किया है तथा इसे त्रिदोषनाशक श्वास, कास, शिरा रोग तथा शोथ ज्वर, आनाह, पार्श्व पीड़ा तथा अरुचि को दूर करने वाला माना है।[4]

ज्वरहर द्रव्य–

ज्वर सुविदित रोग है। इसके अनेक प्रकार हैं और इसकी चिकित्सा के लिए आज विविध औषधियों का प्रयोग हो रहा है। भारत के प्राचीन ऋषि मुनियों ने ज्वर की चिकित्सा के लिए शोधन के अनन्तर अनेक एकल अथवा समष्टि निर्मित औषधियों की व्यवस्था करते हुए प्र कृति पर आश्रित रहने का निर्देश दिया था। उनके अनुसार सारिवा (अनन्त मूल), शर्करा, पाठा, मजीठ, मुनक्का, पीलु, फालसा, हरीतकी, आंवला और बहेड़ा में एक या एकाधिक जो स्थानीय रूप से सुलभ हों का ज्वर निवारण के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।[5] कुछ आचार्य उपर्युक्त द्रव्यों में शर्करा के स्थान पर अमृता अर्थात् गिलोय का परिगणन करते हैं।[6]

श्रमहर द्रव्य–

थकावट यद्यपि कोई रोग नहीं है, किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक कार्य करने पर जो शक्ति का व्यय होता है वह जब शरीर या मन की शक्ति की सामान्य सीमा का स्पर्श करता है, अथवा उससे अधिक होता है, तो उस शक्ति–हानि की सूचना थकावट से मिलती है। इस थकावट की निवृत्ति विश्राम करने से प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार शक्ति का पुनः संचय होने पर हो जाती है अथवा अविलम्ब शक्ति प्रदान करने वाले द्रव्यों का उपयोग करने से शक्ति का स्तर पूर्ववत आ जाने पर हो जाती है। प्रकृति के नियमानुसार विश्राम करने अर्थात् शक्ति का व्यय रोक देने पर अपेक्षित स्तर तक शक्ति को बढ़ने में पर्याप्त समय लगता है, अतएव शक्ति के स्तर को अपेक्षित मात्रा में लाने के लिए स्वास्थ्य–विज्ञान के प्राचीन आचार्यों ने कुछ प्राकृतिक उपादानों

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (३८) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४४
२. भाव प्र० नि० ३।४७
३. भाव प्र० नि० ३।२६
४. भाव प्र० नि० ३।४६।५०
५. चरक सू० ४।६ (३६)
६. अ० संग्रह सू० १५।३८

का अनुसन्धान किया था। उन द्रव्यों को श्रमहर द्रव्य कहते हैं। उन आचार्यों ने श्रमहर

द्रव्यों में निम्नलिखित दस को सुलभ और प्रधान माना है—मुनक्का, खजूर, पियाल, वेर, अनार, अंजीर, फालसा, ईख, जौ और साठी के चावल।[1]

दाहहर द्रव्य—

अधिक श्रम करने पर पित्त की अतिशय वृद्धि होने पर अथवा ज्वर का प्रारम्भ होने पर शरीर में दाह उत्पन्न होता है। इसके शमन के लिए प्राचीन आचार्य लाजा (धान की खील), सफेद चन्दन, गम्भारी का फल, महुआ, खांड, नील कमल, खश, अनन्तमूल, गिलोय, ह्रीबेर इन दस द्रव्यों में जो सुलभ हो, उनका व्यवहार करते हैं।[2]

शीतहर द्रव्य—

ज्वर—काल में अथवा शीतकाल में, सर्दी लगने वाली परिस्थिति में देर तक पड़ जाने पर जब अस्वाभाविक शीत या अतिशीत का अनुभव होता है, तो उसे और उसके कारण उत्पन्न दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए प्राचीन काल के स्वास्थ्य विज्ञानी तगर, अगरु, धनिया, सोंठ या अदरख, अजवाइन, बालवच, छोटी कटेली, अरणी, श्योनक और पिप्पली इन दस द्रव्यों में जहाँ जो भी सुलभ हों उनका प्रधान रूप से प्रयोग करने का निर्देश करते हैं।[3]

उदर्दहर द्रव्य—

शीतल वायु लगने से कफ और वायु कुपित होकर संचित पित्त के साथ मिलकर त्वचा और रुधिर आदि में फैल जाते हैं जिसके फलस्वरूप शरीर पर लाल—लाल चकत्ते उभर आते हैं। इन का मध्यभाग नीचा होता है। इनमें खुजली, सुई कोचने की सी पीड़ा, वमन, ज्वर और दाह होता है। इसे उदर्द कहते हैं।[4] इस कष्टकारक रोग की निवृत्ति के लिए प्राचीन आचार्य तिन्दुक, प्रियाल के बीज (चिरौंजी), बेर, खदिर, कदर (सफेद खदिर), सप्तपर्ण, अश्वकर्ण, अर्जुन, असन, (विजयसार) और अरिमेद का आन्तरिक एवं बाह्य प्रयोग करते रहे हैं।[5]

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (४०) (ख) अ० संग्रह सू० १५।३६
२. (क) चरक सू० ४।६ (४१) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४०
३. (क) चरक सू० ४।६ (४२) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४१
४. माधव निदान ५०।१,३—४
५. (क) चरक सू० ४।६ (४३) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४२

अङ्गमर्दहर–

लघु और रूक्ष द्रव्यों का सेवन करने, थोड़ा भोजन करने, भूखा रहने, अत्यन्त शीत पदार्थों का सेवन करने, अधिक परिश्रम, कामवासना, शोक, भय, चिन्ता, रात्रि–जागरण करने, चोट लगने, देर तक पानी में रहने, धातुओं के क्षीण होने आदि कारणों से वायु के कुपित होने से मांसपेशियों में अकड़न और दर्द प्रारम्भ हो जाता है, इसे अङ्गमर्द कहते हैं। इसकी निवृत्ति के लिए भारत के प्राचीन मनीषी विदारीगन्धा (सरिवन), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेली), कण्टकारी (छोटी कटेली), एरण्ड, काकोली, सफेद चन्दन, खश, छोटी इलायची, एवं मधुक (मुलेठी) इन दस द्रव्यों में जो भी एक या अधिक प्राप्त हों उनका प्रयोग प्रधान रूप से करने का निर्देश देते हैं।[१]

अजीर्णहर द्रव्य–

अजीर्ण आदि विविध कारणों से वायु कुपित होने से मुख्य रूप से उदर में, सामान्य रूप से शिर आदि किसी अंग में शूल उत्पन्न हो जाता है। स्वास्थ्य–विज्ञान के प्राचीन आचार्य ऐसे शूल के निवारण के लिए पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक, नागर (सोंठ), काली मिर्च, अजमोदा, अजगन्धा, अजाजी (जीरा) और गण्डीर इन दस वनस्पतियों में जो भी सुलभ हों उनका प्रयोग करने का निर्देश देते हैं।[२]

रक्तस्राव हर द्रव्य–

रक्तस्राव चाहे शस्त्रों के आघात के कारण हो रहा है, चाहे आकस्मिक चोट के कारण और चाहे किसी आन्तरिक रोग के कारण, वह अवरूद्ध न होने पर प्राणहर बन जाता है। भारत के प्राचीन आचार्य रक्तस्राव को रोकने के लिए मधु (मुलेठी), कुंकुम, केसर, मोचरस, मृत्कपाल, लोध्र, गेरू, प्रियंगु, शर्करा और लाजा इन दस द्रव्यों का आन्तरिक और बाह्य प्रयोग मुख्य रूप से करते रहे हैं।[३]

पीड़ाहर द्रव्य–

पीड़ा चाहे जिस प्रकार की हो प्रत्येक व्यक्ति उससे मुक्ति चाहता है। अधिकांश कोमल स्वभाव के रोगी रोग की अपेक्षा पीड़ा से मुक्ति के उपाय पहले खोजते हैं। इसी कारण आज अनेक पीड़ाहर औषधियाँ बाजार में उपलब्ध हैं। प्राचीन ऋषि मुनि पीड़ा से रोगी को मुक्त करने के लिए अथवा पीड़ा को कम करने के लिए शाल कट्‌फल, कदम्ब, पद्‌मक पद्माक्ष तुम्ब (तेजबल), तिमुर, मोचरस, सिरस, वञ्जुल, (जलवेतस्) एलवालुका और अशोक इन दस वनस्पतियों में जब जो भी सुलभ हो उनका उपयोग करते थे।[४]

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (४४) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४३
२. (क) चरक सू० ४।६ (४५) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४४
३. (क) चरक सू० ४।६ (४६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४५
४. (क) चरक सू० ४।६ (४७) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४६

अचेतनताहर द्रव्य–

आघात आदि अनेक कारणों से मनुष्य बहुधा चेतना शून्य अर्थात् बेहोश हो जाता है। अधिक काल तक चेतना शून्यता मृत्यु का कारण भी बन सकती है। अतः चिकित्सक और परिचारक पारिवारिक जन यथाशीघ्र रोगी को चेतनायुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन ऋषि मुनि इसके लिए हिंगु कैटर्य (पर्वत निम्ब), अरिमेद (विट्खदिर), वच, चोरक (चोरपुष्पी), वयस्था (ब्राह्मी), गोलोमी (भूतकेशी), जटिला (जटामांसी), पलङ्कषा(गुग्गुलु), अशोक, रोहिणी (कुटकी) इन दस द्रव्यों का एकल अथवा यथालाभ संयुक्त प्रयोग करते थे।[1]

सन्ततिकर द्रव्य–

सन्तान की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी की एक महत्त्वपूर्ण अभिलाषा होती है तथा प्रजनन स्त्री के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है। पुरुष के शुक्र दोष के कारण अथवा स्त्रियों के गर्भाशय सम्बन्धी विकार के कारण अनेक बार जब किसी दम्पति को सन्तान की प्राप्ति नहीं होती तो वह अपने जीवन को भी असम्पूर्ण मानने लगता है। धर्मशास्त्र के अनुसार भी सन्तान को जन्म देकर और उसे प्रशस्त शिक्षादीक्षा से सम्पन्न करके मनुष्य मातृऋण और पितृऋण से उर्ऋण होता है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने अनपत्यता को रोग माना है और उसकी चिकित्सा का विधान किया है। अथर्ववेद में अपामार्ग को अनपत्यता को दूर करने वाला माना गया है।[2] महर्षि चरक एवं वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या, सहस्रवीर्या, अमोघा (पाटला), अव्यथा (हरीतकी), शिवा (हरिद्रा), अरिष्टा (कुटनी), वाट्यपुष्पी (महाबला), विष्वक्सेन–कान्ता (प्रियङ्गु) इन दस वनस्पतियों को प्रजास्थापक बताया है।[3]

वयःस्थापक द्रव्य–

इसी प्रकार वयःस्थापन अर्थात् वृद्धावस्था के प्रभाव से रक्षा करते हुए दीर्घायुष्य के लिए प्राचीन ऋषि मुनियों ने अनेक प्राकृतिक उपायों का अनुसन्धान करके उसका सर्वसाधारण में प्रचार किया हुआ था। जरा–मरण से सुरक्षा को वयःस्थापन नाम से स्मरण किया जाता रहा है। इसके लिए महर्षि चरक और वाग्भट आदि आचार्य अमृता, अभया, धात्री, युक्ता (रास्ना), श्वेता (अपराजिता), जीवन्ती, अतिरसा (शतावरी), मण्डूकपर्णी, स्थिरा (शालपर्णी) और पुनर्नवा इन दस औषधियों का प्रयोग प्रधान रूप से करते थे।[4]

---

१. (क) चरक सू० ४।६ (४८) (क) अ० संग्रह सू० १५।४७

२. अथर्ववेद ४।१७।६

३. (क) चरक सू० ४।६ (४६) (ख) अ० संग्रह सू० १५।४८

४. (क) अ० संग्रह सू० १५।४६(ख) चरक सू० ४।६ (५०)

आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य द्वय द्वारा समान रूप से दस दश औषधियों के नाम ग्रहण के साथ वर्णित उपर्युक्त औषधि वर्गों में पांच सौ कषायों का पचास रोगों के निवारण के इस निर्देश में यह आकस्मिकता नहीं है कि प्रत्येक समूह में दस–दस द्रव्यों का वर्णन है और प्रत्येक समूह सम्मिलित रूप से एक योग है। इस प्रकार के समान संख्या में अनेक समूहों का वर्णन तभी होता है जब परिगणनीय अधिसंख्य (संख्या में बहुत) होते हैं और मुख्य–मुख्य को ग्रहण करना होता है। अतः यहाँ यह मानना आवश्यक हो जाता है कि भारत के प्राचीन काल के स्वास्थ्य विज्ञानवेत्ता प्रायः सभी रोगों का निवारण करके शरीर और मन को प्रकृतिस्थ करने के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध वनस्पतियों का प्रयोग करते रहे हैं। चरक, वाग्भट आदि आचार्यों ने उन औषधियों में से चुनकर प्रायः सभी अथवा भारत के अधिकांश भागों में सुलभ उन मुख्य–मुख्य औषधियों का परिगणन कर दिया है, जिनका प्रयोग करना सहज रहा है तथा जिनके प्रयोग के समय में बहुत कठोर नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं था, न ही उन्होंने किसी विशेषज्ञ की देखभाल आवश्यक समझी है।

चिकित्सा के प्रसंग में सामान्यतः सामान्य जन भी प्रकृति पर आश्रित रहा है। केवल विषेष परिस्थिति में ही वह विशेषज्ञ का निर्देशन आवश्यक मानते थे। यही कारण है कि भारत में घरेलू चिकित्सा का अत्यधिक प्रचलन बीस पचीस वर्ष पूर्व तक बहुत था। ग्रामीण अंचलों में वह आज भी प्रचलित है यह बात दूसरी है कि उसका कोई नामकरण नहीं किया गया था। आयुर्विज्ञान वेत्ताओं के लिए प्रयुक्त होने वाले चिकित्सक और वैद्य शब्द भी उनकी विशेषज्ञता को ही सूचित करते हैं : पेशे को नहीं। स्मरणीय है कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार चिकित्सक शब्द **'किती संज्ञाने'** धातु से और वैद्य शब्द **विद् ज्ञाने** धातु से निष्पन्न होते हैं। जिनका तात्पर्य है–'जानने की इच्छा वाला' और 'जानने वाला'। संस्कृत भाषा में सुप्रचलित यह वचन भी भिषक् की विशेषज्ञता को संकेतित करता है–

'..............................भिषजां सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः।।'

अर्थात त्रिदोषज रोगों में ही चिकित्सक के बुद्धि–वैशद्य का बोध होता है; अन्यथा सामान्य रोगों के निवारण के प्रसंग में तो सभी लोग सक्षम होते हैं।

आहार–विहार में संयम के अभाव में शरीर में विकार की मात्रा बहुत अधिक होने पर ही विशेषज्ञ की अथवा विशेष संस्कारित औषध की आवश्यकता होती है, जिसे प्राकृतिक प्रयोग से बाहर कहा जा सकता है। उस समय अर्थात् रोग की भीषणता की स्थिति में संस्कारित औषधियों की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि संस्कार के क्रम में जल अग्नि के सम्पर्क के कारण संशोधन, मन्थन, देशकाल के कारण चिरकाल

तक रखे रहने के कारण और भावना आदि के कारण पात्र विशेष में रखने से प्रत्येक द्रव्य में गुणान्तर अथवा गुण प्रकर्ष आ जाता है। फलतः शरीर को प्रकृतिस्थ करने में सुविधा होती है।[१] स्मरणीय है कि इन विशिष्ट परिस्थितियों में भी प्राचीन चिकित्सा विधि में वमन, विरेचन, द्विविध वस्ति शिरोविरेचन तथा पूर्व कर्म के रूप में स्नेहन, स्वेदन अनिवार्य रूप से कराना स्वीकृत है, जिसे आज प्राकृतिक चिकित्सा के नाम से मुख्य रूप से जाना जा रहा है।

वयःस्थापक एवं दीर्घायुष्यकर द्रव्य (धन्वन्तरि)–

वयःस्थापन अथवा दीर्घ जीवन के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अनेक प्राकृतिक उपायों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन उपायों को प्रारम्भ करने से पूर्व स्नेहन, स्वेदन करके वमन विरेचन और वस्ति के द्वारा शरीर का संशोधन किया जाता है। तदनन्तर ये उपाय किये जाते हैं।[२] इन उपायों में अन्यतम (किसी एक) का भी एक मास संयम पूर्वक प्रयोग करने से एक सौ वर्ष की आयुष्य में वृद्धि हो जाती है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार नीचे अंकित इस उपाय की दस बार तक आवृत्ति करके मनुष्य एक हजार वर्ष तक जीवित रह सकता है।[३]

१. शीतल जल, दूध, मधु और घृत इनमें से किसी एक को, किन्ही दो, किन्हीं तीन अथवा चारों को मिलाकर भोजन से पूर्व प्रातःकाल पीने से वयः स्थिर रहता है, अर्थात् मनुष्य जरा और मृत्यु से सुरक्षित रहता है।[४]

२. वाराही कन्द का मूल एक तुला अर्थात् सौ पल लेकर चूर्ण कर ले। अपनी (प्रयोगकर्त्ता) रोगी की शक्ति के अनुसार मात्रा का निर्धारण करके मधु के साथ दूध में घोल कर पिये अर्थात् रोगी को पिलाये, जब औषध का पाचन हो जाये तब अर्थात् इस औषध को लेने के तीन घण्टे बाद दूध घृत और चावल (भात) का भोजन करे। प्रयोग काल में नमक, मिर्च, खटाई का प्रयोग नहीं करें। इसका प्रयोग करने से प्रयोग करने वाला सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है। इसके प्रयोग से बल वीर्य में अतिशय वृद्धि होती है, संभोग शक्ति भी बढ़ती है। इस वाराहीकन्द को ही दूध में मिलाकर पकाये और जमाकर मथ कर घृत निकाले। इस घृत को दोनों समय या एक समय मधु के साथ प्रयोग करे। पचने पर दूध घृत के साथ भात खाये। एक मास तक इसका प्रयोग करने से सौ वर्ष तक जीवित रहता है। इस अवधि में नमक का सेवन निषिद्ध है।[५]

---

१. चरक वि० १।२२ (२)
२. सुश्रुत चि० २७।३–४
३. सुश्रुत चि० २७।६
४. सुश्रुत चि० २७।११ (१)
५. सुश्रुत चि० २७।११ (२)

वयःस्थापन के लिए आचार्य सुश्रुत ने एक अन्य अत्यन्त सरल प्राकृतिक उपाय लिखा है। उसके अनुसार शण के फल को दूध में पकाकर खाने से वयःस्थापन होता है। इस प्रयोग में उन्होंने समय निर्देश नहीं किया है। इसका तात्पर्य है आयु का उत्तरार्ध प्रारम्भ होने पर प्रायः प्रतिदिन शण के फल का उपयोग करना वे आवश्यक मानते हैं।[१]

दीर्घायुष्य के लिए प्राचीन आचार्य वायविडङ्ग की पिप्पली (छिलके सहित सुखाया हुआ गूदा), मुलेठी का चूर्ण और मधु मिलाकर अथवा भिलावे का चूर्ण और मधु मिलाकर अथवा मधु युक्त भिलावे के क्वाथ के साथ, अथवा मधु युक्त मुनक्का के क्वाथ के साथ अथवा मधु और आंवले के रस के साथ अथवा गिलोय के क्वाथ के साथ पीने का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार औषध पच जाने पर अर्थात् लेने के तीन–चार घण्टे के बाद बिना नमक के मूंग और आंवले के सूप के साथ घृत युक्त भात खाना चाहिए। इसका एक मास तक प्रयोग करने से मनुष्य शतायु होता है। एक–एक मास के इस प्रयोग की अनेक बार आवृत्ति की जा सकती है। प्रत्येक आवृत्ति से एक सौ वर्ष की आयुष्य में वृद्धि होती है। इस प्रयोग से शतायुष्य की वृद्धि के साथ ही अर्श और कृमि रोगों की निवृत्ति भी होती है। ग्रहण और धारण शक्ति अर्थात् स्मरण एवं चिन्तन की शक्ति में भी अपूर्व वृद्धि होती है।[२]

वयःस्थापक दीर्घायुष्यकर द्रव्य (अग्निपुराण)–

अग्निपुराण के अनुसार शर्करा सिन्धु और सोंठ के साथ अथवा काली मिर्च मधु अथवा मधु के अभाव में गुड़ के साथ प्रतिदिन दो–दो हरीतकी खाने वाला व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ रह कर सौ वर्ष जीवित रहता है।[३] अग्निपुराण में ही प्राप्त निर्देश के अनुसार हरीतकी नमक और काली मिर्च समान भाग आधा तोला से एक तोला की मात्रा में लेने से सामान्य विरेचन होकर सभी रोग दूर हो जाते हैं।[४]

दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए अग्निपुराण में अनेक अतिशय सरल प्राकृतिक उपाय प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः मधु घृत और सोंठ का चूर्ण खाकर ऊपर से खाण्ड मिला दूध पीता है वह मृत्युञ्जयी हो जाता है।[५] मण्डूकपर्णी का चूर्ण खाकर दूध पीने से शरीर में वृद्धावस्था के चिह्न झुर्रियाँ पड़ना एवं बाल पकना आदि कभी नहीं होते और मनुष्य शतायु होता है।[६] इसी प्रकार उच्चटा (गुञ्जा) का चूर्ण एक वर्ष मधु के साथ लेकर दूध पीने वाला मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है।[७] जो मनुष्य पलाश का तेल एक कर्ष की मात्रा में मधु के साथ पीकर दूध का ही छह मास तक आहार करता है, वह पांच सौ वर्ष जीता है। जो ज्योतिष्मती के पत्तों का रस और त्रिफला मधु के साथ छह मास तक चाटता है एवं दूध को ही मुख्य आहार के रूप में लेता है उसको एक हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है।[८]

---

१. सुश्रुत चि० २७।१३
२. सुश्रुत चि० २७।७
३. अग्निपुराण २८५।६२–६३
४. अग्निपुराण २८५।७६–७७
५. अग्निपुराण २८६।४–५
६. अग्निपुराण २८६।५
७. अग्निपुराण २८६।६
८. अग्निपुराण २८६।७–८

इसी प्रकार शतावरी का चूर्ण एक पल प्रतिदिन दूध घृत एवं मधु के साथ पीने से मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[१] निर्गुण्डी का चूर्ण मधु घृत एवं दूध के साथ पीने से मनुष्य रोगों और मृत्यु को जीत लेता है।[२] इसी प्रकार नीम का पञ्चाङ्ग अर्थात पत्ते फूल फल जड़ और छाल के चूर्ण में खदिर के क्वाथ की भावना देकर एक कर्ष की मात्रा में भृङ्गराज के रस के साथ पीने से मनुष्य निरोग होकर बहुत दिन तक जीवित रहता है अथवा रुदन्तिका का चूर्ण मधु और घृत के साथ खाने और दूध का आहार करने से मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है।[३]

हरीतकी चूर्ण में भृङ्गराज के रस की सात भावना दें। इस चूर्ण को एक कर्ष की मात्रा में घृत और मधु के साथ सेवन करने से तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है।[४] एक कर्ष बहेड़ा का चूर्ण प्रतिदिन मधु घृत के साथ खाकर दूध पीने से मनुष्य शतायु होता है। अभया अर्थात् हरीतकी का चूर्ण गुड़ और घृत के साथ खाकर दूध पीने से मनुष्य पांच सौ वर्ष जीता है और जीवन भर उसके बाल काले बने रहते हैं।[५] कूष्माण्ड का चूर्ण प्रतिदिन एक मास तक मधु घृत और दूध के साथ लेने से और इस अवधि में केवल दूध का आहार ग्रहण करने से मनुष्य एक हजार वर्ष रोग रहित होकर जीता है।[६] कड़वी लौकी के बीज के तेल का एक कर्ष की मात्रा में प्रतिदिन नस्य लेने से दौ सौ वर्ष का जीवन प्राप्त होता है। त्रिफला, पिप्पली और सोंठ का चूर्ण समान भाग मधु घृत के साथ सेवन करने से तीन सौ वर्षों की आयु प्राप्त होती है।[७] तिल का तेल और मधु का प्रतिदिन नस्य लेने से सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है, बाल सदा काले बने रहते हैं।[८]

अग्निपुराण में उपलब्ध उपर्युक्त सन्दर्भ आरोग्य और वयः स्थापन से सम्बन्धित हैं तथा इनके निर्माण अथवा प्रयोग के लिए विशेषज्ञता की अपेक्षा किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। इन सभी प्रयोगों में प्रकृति से प्राप्त वनस्पति रूप उपहारों के सहज प्रयोग का विधान है। अतः इन्हें प्राकृतिक चिकित्सा ही माना जायेगा, जिसका प्रचलन पूर्व समय के पुराण काल में होता रहा है।

---

१. अग्नि पुराण २८६।८
२. अग्नि पुराण २८६।६
३. अग्नि पुराण २८६।६–१०
४. अग्नि पुराण २८६।११
५. अग्नि पुराण २८६।१६–१७
६. अग्नि पुराण २८६।१८
७. अग्नि पुराण २८६।१६–२०
८. अग्नि पुराण २८६।१६

अन्य विविध रोगों के चिकित्सा के प्रसङ्ग में भी पुराण काल में प्राकृतिक चिकित्सा का व्यवहार होता रहा है। अग्निपुराण में सभी रोगों की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ को मूल मानते हुए उनकी चिकित्सा के लिए स्नेहन, स्वेदन पूर्वक वस्ति विरेचन और वमन को सर्वाधिक प्रभावकारी उपाय माना है; साथ ही वात रोगियों को तिल के तेल का, पित्तज रोगों में घृत का एवं श्लेष्मज रोगों में मधु का परमौषध के रूप में प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है।[१] स्नेहन स्वेदन के प्रसंग में पुराणकार का कहना है कि –स्नेह पान अथवा वस्ति के लिए घृत और तेल प्रशस्त हैं तथा स्वेदन के लिए अग्नि का उपयोग सर्वोत्तम होता है। इसी प्रकार स्तम्भन के लिए शीतल जल, विरेचन के लिए त्रिवृत् और वमन के लिए मदन फल सर्वश्रेष्ठ होता है।[२]

अग्नि पुराण में संशोधन के अनन्तर प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार ही प्रायः सभी रोगों की चिकित्सा के लिए भिन्न क्षेत्रों में स्थानीय रूप से उपलब्ध प्रकृति की उपहार भूत वनस्पतियों का उपयोग करने का निर्देश किया है। इनमें निदर्शन के रूप में कुछ निर्देश निम्नांकित हैं–

अग्निपुराण में ज्वर की प्राकृतिक चिकित्सा–

ज्वर रोग की चिकित्सा के लिए रोगी को सर्वप्रथम उसके शारीरिक बल को ध्यान में रखते हुए लंघन कराना चाहिए उसके बाद भोजन देने का निर्णय करने पर लाजामण्ड में सोंठ का चूर्ण मिलाकर पथ्य के रूप में देना चाहिए तथा जब तक ज्वर सम्पूर्णतया चला न जाये प्यास लगने पर उबाला हुआ पानी ही पीने के लिए देना चाहिए। इस प्रकार पांच दिन में ज्वर दूर न हो तो नागर मोथा, पर्पटक (पित्तपापडा), खश, चन्दन, उदीच्य और सोंठ से बनाया हुआ तिक्तक (तिक्त पेय) पिलाये। इससे ज्वर अवश्य शान्त हो जायेगा। तदनन्तर स्नेहन करके विरेचन कराये। इससे पुनः ज्वर विकार की सम्भावना न रहेगी। उसके बाद पुराने साठी के चावल, नीवार, लाल चावल अथवा जौ की रोटी आदि दें।[३]

उपर्युक्त सिद्ध चावल या रोटी के साथ मूंग, मसूर, चना, अरहर या कुलथी की दाल में जो सुलभ हो तथा परवल के पत्ते और फल का तथा नीम या पित्तपापडा का शाक तथा फलों में अनार देना हितकर रहता है।[४]

---

१. अग्नि पुराण २७६।६३
२. अग्नि पुराण २७६।६१–६२
३. अग्नि पुराण २७६।३–६
४. अग्नि पुराण २७६।६–७

अग्निपुराण में अतिसार की प्राकृतिक चिकित्सा—

अतिसार जैसे रोगों में जहाँ मल आदि गुदामार्ग से प्रवाहित हो रहा है, वमन कारक औषधियाँ देनी चाहिए एवं वमन आदि रोगों की चिकित्सा में विरेचन देना ठीक रहता है। इसी प्रकार रक्त पित्त के रोग की षडूषण में से सोंठ को छोड़कर शेष पांच अर्थात् पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं मरिच इन पांच द्रव्यों का प्रयोग करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए। इस रोग में भी पथ्य के रूप में सत्तू, लाजा (खील), गेहूँ, जौ, शालि (चावल), मसूर, कूठ सहित चना और मूंग का प्रयोग करना चाहिए।[१]

अग्नि पुराणकार के अनुसार शोथ रोग के निवारण के लिए गुड़ और पथ्या हरीतकी अथवा गुड़ और सोंठ का प्रयोग किया जाता है।[२] ग्रहणी रोग में तक्र और चित्रक का चूर्ण लेना हितकर होता है।[३] इसी प्रकार वात रोगियों को मधु, घृत, दूध, नीम, पित्तपापडा और वृष का उपयोग करना चाहिए। निर्मित औषधियों में वे तक्रारिष्ट का प्रयोग करना उचित होने का निर्देश वात रोगियों के लिए करते हैं।[४] हृदय रोगियों के लिए वे केवल विरेचन का विधान करते हैं। हिचकी के लिए पिप्पली के प्रयोग को पर्याप्त मानते हैं।[५] उरःक्षत के रोगी को मधु दूध के साथ लाक्षा (लाख) का प्रयोग करना आवश्यक मानते हैं।[६]

अर्श की प्राकृतिक चिकित्सा—

अर्श रोग प्रायः दुर्जेय माना जाता है। अग्निपुराणकार के अनुसार इसे दूर करने के लिए पथ्या हरीतकी और मुस्ता (मोथ) का बारबार प्रयोग करना चाहिए। पीने के लिए तक्र और मण्ड का प्रयोग पानी के साथ करना चाहिए। रोग के स्थान पर चित्रक और हरिद्रा का लेप करना हितकर रहता है। अर्श रोगियों को आहार में जौ की रोटी, दलिया या सत्तू आदि का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शालि का चावल, बथुआ और सुवर्चल, हुरहुर का शाक लेना भी हितकर होता है।[७] वे मूत्र कृच्छ् रोग में बड़हर, ककड़ी, गेहूँ, दूध, इक्षु के प्रयोग को औषध मानते हैं। उनके अनुसार इस रोग में मण्ड और सुरा का पान भी लाभकर होता है।[८]

---

१. अग्नि पु० २७६ ।८–९
२. अग्नि पु० २७६ ।२४
३. अग्नि पु० २७६ ।२४
४. अग्नि पु० २७६ ।२६
५. अग्नि पु० २७६ ।२७
६. अग्नि पु० २७६ ।२८
७. अग्नि पु० २७६ ।३०–३१
८. अग्नि पु० २७६ ।३२

नागरमोथा और गुड़ को मिलाकर बनायी हुई वटी तृषा (प्यास) रोग को दूर करती है। शालि अन्न तथा कच्चा, गरम अथवा गरम करके ठण्डा किया हुआ जल और दूध भी तृषा नाशक है।[1] अग्निपुराण के अनुसार उरुस्तम्भ रोग को जौ के बने हुए खाद्य पदार्थ पुए, सूखी मूली, पटोलपत्र और वेत की कोपल का शाक दूर करता है। उनके अनुसार उरुस्तम्भ रोगी को पथ्य के रूप में पुराने गेहूँ, जव, शालि के बने हुए पदार्थ, मूंग, अरहर, मसूर की तिल डाल कर बनी दाल अथवा सेन्धा नमक घृत द्राक्षा, सुण्ठी, आंवला और वेर में जो सुलभ हों उनके जूस सूप के साथ लेने चाहिए।[2]

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगचिकित्सा–

अग्निपुराणकार ने सम्पूर्ण स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने एवं सामान्यतः सभी रोगों की निवृत्ति के लिए भृङ्गराज के रस में सिद्ध तेल अथवा आंवले के रस में सिद्ध तेल, तिल के तेल का नस्य, (तेल नेति) करने का निर्देश दिया है। उनका विश्वास है कि इससे शरीर के सभी रोग मुख्यतः शिर (मूर्धा) से सम्बन्धित रोग नष्ट हो जाते हैं। नासिका गत रोगों की निवृत्ति के लिए वे दूब घास द्वारा सिद्ध घृत के प्रयोग करने का निर्देश देते हैं। दांतों के स्वास्थ्य के लिए, उन्हें दृढ़ बनाये रखने के लिए वे शीतल (अर्थात् जो गरम नहीं है ऐसा) आहार, पानी, दूध और भोजन लेने की व्यवस्था देते हैं तथा तिल तेल का गण्डूष धारण करने और तिल चबाने का निर्देश देते हैं।[3] वे शिरोरोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए स्निग्ध और उष्ण भोजन का विधान करते हैं। साथ ही आंवला और घृत के लेपन करने का विधान भी करते हैं।[4]

कर्णशूल–चिकित्सा–

अग्निपुराणकार कर्णशूल की चिकित्सा के लिए बकरे का मूत्र बहुत हितकर मानते हैं। उसके न मिलने पर किसी भी खट्टे पदार्थ का प्रयोग हितकर बताते हैं।[5] उनके अनुसार कृमि रोग में गौमूत्र के साथ विडङ्ग (वायविडङ्ग) का प्रयोग करने से कृमि सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।[6] व्योष अर्थात् समभाग में सोंठ, पीपली और काली मिर्च एवं त्रिफला अर्थात् आंवला, हरड़, बहेड़ा तथा तुच्छक जल के साथ प्रयोग करने से नेत्र रोग दूर हो जाते हैं।[7]

---

१. अग्नि पु० २७६।३४
२. अग्नि पु० २७६।३५–३७
३. अग्नि पु० २७६।४०–४२
४. अग्नि पु० २७६।४३
५. अग्नि पु० २७६।४४
६. अग्नि पु० २७६।४२
७. अग्नि पु० २७६।४६

सर्पविष चिकित्सा–

सर्पविष दूर करने के लिए नीम के पत्ते खाने चाहिए। बिच्छू काटने पर काली मिर्च, शिवा, हरड़ और मदनफल को पीस कर लगाने से विष दूर हो जाता है। मदार का दूध, तिल का तेल पलल अर्थात मांस रस और गुड़ समान भाग मिला कर पीने से भयंकर पागल कुत्ते का विष भी दूर हो जाता है।[१]

स्वास्थ्यरक्षा के कुछ नियम–

अग्निपुराणकार पूर्ण स्वस्थ बने रहने के लिए भी स्वास्थ्य के कुछ सामान्य सिद्धान्त बतलाते हैं और कहते हैं कि इन सिद्धान्तों को जानकर उनको ध्यान में रखकर जीवन–चर्या करने से मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बना रहता है। उसके अनुसार जीवन के आयु की दृष्टि से तीन भाग किये जायें तो प्रथम भाग अर्थात् शैशव में कफ, मध्य भाग अर्थात् यौवन में पित्त और अन्तिम भाग अर्थात् वृद्धावस्था में वात कुपित होता है। इसी प्रकार दिन एवं रात्रि के भी प्रथम भाग में कफ, द्वितीय भाग में पित्त और अन्तिम भाग में वायु कुपित होता है। इस कोपकाल के पूर्व इनका संचय तथा पश्चात् इनका शमन होता है।[२] अधिक भोजन करने से तथा अधिक उपवास करने (भोजन न करने) से मल के वेगों को रोकने अथवा बलपूर्वक वेगों की प्रवृत्ति के लिए प्रयास करने से शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।[३] इसलिए भोजन के द्वारा कुक्षि(पेट) के केवल दो भाग ही भरना चाहिए, एक भाग पेय पदार्थों से भरना चाहिए तथा चतुर्थ भाग वायु आदि के लिए खाली रखना चाहिए।[४]

अग्निपुराणकार रोगों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में आयुर्वेद के आचार्यों के सदृश विचार ही रखते है और मानते हैं कि वात, पित्त और कफ के कुपित होने से शरीर में विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा इनका प्रकोप आहार–विहार की गड़बड़ी से होता है। जैसे कि कदन्न अर्थात् ज्वार, बाजरा, कोदों आदि सूखे पदार्थ खाने से और शोक करने से वायु कुपित होता है। विदाही अन्न खाने, क्रोध और भय करने उष्ण अन्न खाने और तेज ध्वनि के बीच रहने से पित्त कुपित होता है। इसी प्रकार बहुत अधिक जल पीने, गरिष्ठ भोजन करने के बाद सोने से तथा आलस्य पूर्ण जीवन जीने से श्लेष्मा कुपित होता है।[५] इसी क्रम में पुराणकार ने इनके शमन का उपाय भी बतलाया है। उनका कहना है कि नित्य स्निग्ध और उष्ण भोजन करना, अभ्यङ्ग करना तथा तैल पान

---

१. अग्नि पु० २७६ ।५६–५७,५६
२. अग्नि पु० २८० ।२६–३१
३. अग्नि पु० २८० ।३१–३२
४. अग्नि पु० २८० ।३२–३३
५. अग्नि पु० २८० ।४१–४३

करना वात–रोग नाशक होता है। घृत, तेल, शक्कर और चन्द्रमा की चांदनी पित्त नाशक होती है एवं मधु त्रिफला तेल तथा व्यायाम आदि कफ नाशक हैं। उनके अनुसार रोग शान्ति का सबसे समर्थ और अमोघ उपाय भगवान् विष्णु का पूजन और उनका ध्यान करना है।[१]

रोगों से मुक्ति के कुछ सामान्य सिद्धान्त एवं पथ्य–

वैदिक वाङ्मय के एक अंग आयुर्वेद में चिकित्सा प्रकरण एक मुख्य अंश है। उसके मुख्य आचार्य चरक, सुश्रुत, वाग्भट और भावमिश्र हैं। रोग–निवृत्ति के लिए प्रायः इन सभी आचार्यों ने शोधन, लंघन के उपरान्त प्रकृति की उपहार भूत अनेक एकल, युग्म अथवा दो से अधिक किन्तु अत्यन्त सहज वनस्पतियों के प्रयोग का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ ज्वर रोग की चिकित्सा के लिए उनका मानना है कि क्षय, वात, भय, क्रोध, काम, शोक और श्रम की अधिकता के कारण उत्पन्न ज्वरों को छोड़ कर शेष सभी ज्वरों में सर्वप्रथम लंघन ही कराना चाहिए।[२] आचार्य वाग्भट का तर्क पूर्वक कथन है कि जिस प्रकार राख से ढंकी हुई अग्नि से पाचन कार्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार आमदोष से जठराग्नि दब जाती है और पाचन कार्य मन्द होने से ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अतः आम दोष के पाचन के बिना ज्वर की चिकित्सा उचित नहीं है। इसके लिए ज्वर–पीड़ित व्यक्ति को सर्वप्रथम उपवास कराना चाहिए।[३] महर्षि चरक का स्पष्ट मानना है कि नवीन ज्वर में लंघन, स्वेदन आदि के द्वारा न पचे हुए वात आदि दोषों का पाचन स्वतः हो जाता है।[४] इस समय में वातज और कफज ज्वरों में उष्ण जल पर्याप्त मात्रा में पिलाना चाहिए।

पित्तज्वर में चिरायता आदि तिक्त पदार्थों में से अन्यतम जो भी सुलभ हों, जल में पकाकर जल को शीतल कर लें, उसके बाद वह शीत जल ही यथेष्ट मात्रा में रोगी को पिलाना चाहिए। यथेष्ट मात्रा में जल पिलाने से अग्नि प्रदीप्त होती है, ज्वर का पाचन हो जाता है और उससे ज्वर दूर हो जाता है। जल पीने से स्रोतों का शोधन, बल की वृद्धि और अरुचि दूर हो जाती है, शरीर से स्वेद भी पर्याप्त मात्रा में निकलता है।[५]

---

१. अग्नि पु० २८० ।४७–४८
२. अग्नि पु० ३ ।१३६–१४०
३. अ० हृदय चि० १ ।१०
४. चरक चि० ३ ।१४२–१४३
५. चरक चि० ३ ।१४३–१४४

यदि कई दिन ज्वर रह चुका है और रोगी निर्बल है तो उस स्थिति में अल्प मात्रा में अन्न को जल में पका कर एवं उसमें घर में अतिसुलभ काली मिर्च, अदरक आदि प्राकृतिक द्रव्य का प्रयोग करके वह आहार रोगी को देना चाहिए। ऐसा विधान चरक आदि प्राचीन आचार्यों ने किया है। उनके अनुसार लंघन पाचन के उपरान्त भूख उत्पन्न होने पर लाजा पेया पिलानी चाहिए। लाजा (खील=जो धान को भून कर बनायी जाती है) को चौदह गुने पानी में डाल कर[१] उसमें पिप्पली और सोंठ डालकर पकायें, इसे लाजा पेया कहते हैं। इससे बलवृद्धि होती है, साथ ही इसके पीने से ज्वर दूर होता है।[२] यदि ज्वर का रोगी खट्टे पदार्थ खाने की इच्छा करे तो इसी पेया में अनार का रस और सोंठ का चूर्ण मिला कर दें। ज्वर के साथ अतिसार हो, अथवा पित्तजज्वर हो तो पेया को ठण्डी करके उसमें मधु मिलाकर देना चाहिए।[३]

ज्वर के साथ पार्श्वशूल (पसलियों में दर्द) बस्ति में अथवा शिर में पीड़ा रहने पर गोखरू और कण्टकारी (भटकटैया) के क्वाथ में लाल चावल को पका कर पेया तैयार करे और उसे ज्वर रोगी को पीने को दें। इससे बल वृद्धि के साथ ज्वर एवं पार्श्व पीड़ा आदि कष्ट दूर हो जाते हैं।[४] यदि ज्वर काल में कब्ज होकर मल की गांठें बन गयी हों तो जौ और लाल चावल के साथ आँवले और पिप्पली डालकर पेया बनाएँ और पर्याप्त घृत मिलाकर रोगी को पिलायें।[५] इसके अतिरिक्त ज्वर–काल में कब्ज के निवारण के लिए मुनक्का, आँवला, सोंठ, चव्य और पिपरामूल (पिप्पली मूल) को डाल कर जव की पेया का भी प्रयोग किया जा सकता है।[६] यदि पसीना बिल्कुल न निकलता हो, अनिद्रा के साथ प्यास हो, तो सोंठ और आँवले के क्वाथ मिलाकर बनायी हुई पेया को शकर मिलाकर और घृत की छौंक लगाकर पिलाना चाहिए, ऐसा उनका मत है।[७]

यदि लंघन अथवा पेया के आहार से ज्वर से मुक्ति न मिले तो प्राचीन आचार्यों ने प्राकृतिक उपहार के रूप में सर्वत्र सुलभ कुछ वनस्पतियों को लेकर क्वाथ बनाकर उनके प्रयोग की चर्चा की है, इनमें इन्द्रजौ, परवल की पत्ती, कुटकी; अथवा परवल की पत्ती, सारिवा, नागरमोथा, पाठा और कुटकी अथवा नीम की छाल, परवल की पत्ती, त्रिफला, मुनक्का, नागरमोथा और इन्द्रजौ अथवा चिरायता, गिलोय, लाल चन्दन और

---

१. शार्ङ्गधर मध्य ३।१८७
२. चरक चि० ३।१७६–१८०
३. चरक चि० ३।१८०–१८१
४. चरक चि० ३।१८१–१८२
५. चरक चि० ३।१८४–१८५
६. चरक चि० ३।१८५–१८६
७. चरक चि० ३।१८७–१८८

सोंठ अथवा गिलोय, आँवला, नागरमोथा। इनके क्वाथ को पीने से क्रमशः सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क (एक दिन बाद आने वाला) तृतीयक और चतुर्थक ज्वर दूर हो जाते हैं।[१] महर्षि चरक ज्वर की चिकित्सा में घृत (औषधसिद्ध घृत) को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि यदि विविध कषायों के प्रयोग तथा वमन लंघन एवं पेया आदि लघु भोजन से ज्वर शान्त नहीं होता तो उसकी चिकित्सा घृत के द्वारा की जानी चाहिए। इसके लिए उपर्युक्त अथवा इसी प्रकार के अन्य औषध चूर्णों को लेकर घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करना चाहिए।[२] आचार्य शार्ङ्गधर दूध को सभी प्रकार के ज्वरों की औषध मानते हैं।[३] औषधि सिद्ध दूध में पञ्चमूली घृत अर्थात् पञ्चमूल के (छोटी और बड़ी कटेली, शालपर्णी, पृश्निपर्णी तथा गोखरू के) क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत के साथ दूध कास, श्वास, शिरःशूल, पार्श्वशूल और जीर्ण ज्वर रोगों का समूल नाश करता है।[४] औषध सिद्ध दूध बनाने के लिए औषधि के मान से आठ गुना दूध और दूध से चार गुणा पानी डाल कर उसमें औषधि को पकाना चाहिए। जब सब पानी जल जाए अर्थात् केवल दूध शेष रह जाये तब दूध को सिद्ध समझना चाहिए।[५] एरण्ड (रेंडी) की जड़ अथवा कच्चे बेल की गूदी के द्वारा सिद्ध किया गया दूध परिकर्त्तिका (गुद प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा) से युक्त ज्वर को शान्त (दूर) कर देता है।[६] गोखरू, बरियारा की जड़, भटकटैया की जड़, सोंठ और गुड़ के साथ सिद्ध दूध, मल और मूत्र की रुकावट शोफ तथा ज्वर को दूर करता है।[७] सोंठ, मुनक्का और खजूर समभाग डाल कर सिद्ध किया गया दूध शकर और मधु मिला कर अधिक प्यास से युक्त ज्वर को दूर करता है।[८] चार गुने शुद्ध जल में सिद्ध किया हुआ दूध एवं धारोष्ण दूध वात–पित्त ज्वर को दूर करता है।[९]

ज्वर के अतिशय तेज रहने पर अर्थात् शरीर में ताप की अधिकता की स्थिति में चरक के व्याख्याकार श्री जयदेव के अनुसार मधु(मद्य), काञ्जी, दूध, दही, घृत एवं जल के द्वारा पट्टी सेक (ऊपर से जल डालकर) शीतली करण या स्नान तथा अवगाहन अर्थात् उपर्युक्त द्रवों में यथोचित समय तक बैठा लेना इत्यादि प्रयोग दाहज्वर अर्थात् बुखार का तत्काल शमन करते हैं।[१०]

---

१. चरक चि० ३।२००–२०३
२. चरक चि० ३।२१६–२१७
३. (क) चरक चि० ३।२३६ (ख) शार्ङ्गधर मध्य० २।१६२
४. (क) चरक चि० ३।२३४ (ख) शार्ङ्गधर म० २।१६३
५. शार्ङ्गधर म० २।१६१
६. चरक चि० ३।२३५
७. चरक चि० ३।२३६
८. चरक चि० ३।२३७
९. चरक चि० ३।२३८
१०. चरक चि० ३।२५६

यहाँ ज्वर उतारने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा–विधि में वर्तमान काल में प्रचलित जल की पट्टी एवं स्नान का परिगणन तो है ही, साथ ही अतिसम्पन्न व्यक्तियों की दृष्टि से मधु दूध घृत आदि के द्वारा सेक आदि का भी उल्लेख हुआ है। वस्तुतः सेक आदि के क्रम में जल एवं दुग्ध मधु आदि में लाभ में बहुत अन्तर भले ही न हो, किन्तु सम्पन्न जनों को बिना मूल्य अथवा अल्प मूल्य की वस्तु के प्रति तुच्छ होने का जो भाव होता है, उसके फल स्वरूप वे स्वीकार करने में भी संकोच करते हैं। इस मनोविज्ञान को केन्द्र में रखकर उपर्युक्त वस्तुओं का परिगणन करना आवश्यक समझा गया है। इनके अतिरिक्त सुखद एवं शीतल रक्त कमलों पद्मों अर्थात् क्षुद्र कमलों एवं नील, कमलों के पत्तों पर, केलों के सुकोमल पत्तों पर निर्मल क्षौम वस्त्रों पर चन्दन द्वारा शीतल किये गये धारागृहों में (फुहारे वाले स्थानों में) या बर्फीले पानी के छिड़काव युक्त घर में दाह ज्वर युक्त व्यक्ति को रखना दाह ज्वर का शमन करता है[१] अथवा चन्दन के घोल से शीतल किये गये बिस्तर पर सोना, शंख, प्रवाल (मूंगा) एवं मणि, मोतियों के स्पर्श (जब तक वे पदार्थ उष्ण न होने लगें तब तक स्पर्श) दाह ज्वर को शान्त करता है।[२] इसी प्रकार सुगन्धित फूलों की मालाओं, नील कमलों, लाल कमलों के स्पर्श से तथा अनेक प्रकार के शीतल वायु को देने वाले पंखों आदि यन्त्रों की सहायता से तथा चन्दन के जल से युक्त पंखों की हवा से दाह ज्वर का शमन होता है।[३] इसी प्रकार निर्मल जल से युक्त नदियां तालाब या सरोवर पद्मिनी अर्थात् कमलों वाली झील हृदो में अवगाहन भी दाह ज्वर को दूर करता है।[४] इनके अतिरिक्त मणि मोती आदि से जटित आभूषणों से सुशोभित चन्दनोदक अथवा चन्दनक्षोद से लिप्त चन्दन के इत्र या तेल लगाने से सुगन्धित शरीर वाली प्रेमयुक्त नवयौवनाओं द्वारा उत्कृष्ट कामनाएँ प्रकट करते हुए सान्त्वना देने से भी दाहज्वर की शान्ति होती है। इसी प्रकार अन्य शीत उपचार, अन्नपान, शीत उपवन में विहार, शीतल चन्द्र की किरणें दाह ज्वर की शान्ति के उपाय हैं।[५]

इस प्रकार सामान्य अथवा विशिष्ट तथा सन्निपातज सभी प्रकार के ज्वर रोग में चरक आदि प्राचीन आचार्य शोधन द्वारा, प्रकृति द्वारा उपहार के रूप में प्रदत्त स्थानीय वनस्पतियों का प्रयोग करके, घृत और दूध के विशिष्ट प्रयोग तथा जल के समुचित उपयोग द्वारा चिकित्सा करते रहे हैं। जो प्राकृतिक चिकित्सा के ही विविध और उत्कृष्ट रूप हैं।

---

१. चरक चि० ३।२६०–२६१

२. चरक चि० ३।२६२

३. चरक चि० ३।२६३

४. चरक चि० ३।२६४

५. चरक चि० ३।२६५–२६६

रक्तपित्त की प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा–

अधिक उष्ण, तीक्ष्ण आहार–विहार और खट्टे, कडुए, नमकीन रसों का अधिक सेवन करने से तेज धूप और विदाही अन्नों का अधिक सेवन करने से पित्त कुपित होकर रक्त को दूषित कर देता है। फलतः रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति हो जाती है।[1] इस रोग के उपचार के लिए स्नेहन, स्वेदन पूर्वक पञ्चकर्म मुख्यतः वमन, विरेचन और द्विविध वस्तियों के प्रयोग की चर्चा पूर्व अध्याय में की गयी है। शोधन चिकित्सा के अतिरिक्त प्राचीन आचार्य विविध विशिष्ट औषधियों के द्वारा भी चिकित्सा करते थे। साथ ही सक्तु, पेया आदि आहार प्रयोग तथा घर एवं पास–पड़ोस में उत्पन्न होने वाले प्रकृति के उपहार भूत कुछ द्रव्यों के प्रयोग भी रोग निवृत्ति के लिए वे यथावसर करते थे।

इस रोग में क्योंकि पित्त का प्रकोप मुख्य कारण होता है अतः पित्त स्वरूप अग्नि के शमन के लिए जल, विशेषतः सुगन्धबाला, लालचन्दन, खश, नागरमोथा एवं पित्तपापड़ा आदि वनस्पतियों में जो स्थानीय रूप से सुलभ हों उनके साथ सिद्ध किया हुआ जल पीने के लिए रोगी को देना चाहिए। यह रोग को दूर करने अथवा उसके उपद्रवों को शान्त करने का प्रशस्त उपाय है।[2] इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने काल सात्म्य दोषों के अनुबन्ध एवं रोगी की प्रकृति का विचार करते हुए ऊर्ध्वग अर्थात् वमन से रक्त निर्गम की स्थिति में तृप्तिदायक पदार्थों को पीने के लिए रोगी को देकर तर्पण करके और अधोमार्ग से रक्त के प्रवृत्त होने पर पेया देकर चिकित्सा का विधान किया है।[3] तर्पण हेतु पेया बनाने के लिए खजूर, मुनक्का, महुआ, फालसा का क्वाथ बना कर शीतल करके शर्करा मिलाकर पीने को दिया जाता है। धान की खील (लावा) के चूर्ण में गाय का घृत और शहद मिलाकर भी तर्पण सम्पन्न होता है। मन्दाग्नि की स्थिति में उपर्युक्त दोनों में जिसका भी प्रयोग करा रहे हैं उसको अम्ल बनाने के लिए अनार का रस अथवा अनारदाना का चूर्ण मिला कर देना चाहिए।[4]

प्राकृतिक चिकित्सा के क्रम में आहार का सर्वाधिक महत्त्व है। आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्यों ने इसे प्रारम्भ से ही अपनाया था और उन्होंने आहार के माध्यम से ही चिकित्सा के सूत्र भी दिये थे। रक्तपित्त रोग की चिकित्सा के क्रम में उन्होंने शालि, साठी, नीवार, कोदों, प्रशान्तिका (टांगुन), साँवा, कंगुनी के चावलों का भात, मूंग, मसूर, चना, मोठ, अरहर की दाल का यूष, परवल, नीम की पत्ती, वेंत के अग्रभाग और पत्तियाँ,

---

१. चरक चि० ४।५–६

२. चरक चि० ४।२६, ३१

३. चरक चि० ४।३२

४. चरक चि० ४।३३–३५

पांकड़, चिरायता की पत्ती, गण्डीर ([illegible] का शाक), करेला, लाल पुनर्नवा, कचनार के फूल, गम्भार की पत्ती, सेमर की पत्ती और फूल के भोजन का विधान किया है। उनके अनुसार शाकों के बनाने की दो विधियाँ हैं। प्रथम तो शाक उबाल कर दाल की भाँति पका कर बनाएँ अथवा उबाल कर पानी निकाल कर घृत में तल कर व्यवहार करें।[1]

रक्तपित्त रोग की चिकित्सा के क्रम में प्राचीन ग्रन्थों में यवागू कल्प का विधान मिलता है। इसके लिए (यवागू निर्माण के लिए) अनेक विकल्प विधियाँ उन्होंने बतायी हैं। उसके अनुसार चन्दनादि यवागू, लाल चन्दन, खश, पठानी लोध और सोंठ इनका सोलह गुने जल में क्वाथ करके छानकर रस ले लें एवं धान्य से छह गुणा रस डाल कर यवागू सिद्ध करें एवं रक्तपित्त के रोगी को दें। द्वितीय विकल्प में चिरायता, खश और नागरमोथा डालें। तृतीय में धव के फूल, जवासा, सुगन्धबाला और बेल की गूदी, चतुर्थ में मसूर की दाल और पिठवन (पृश्निपर्णी) पंचम विकल्प में स्थिरा (सरिवन) और मूंग की दाल, षष्ठ में हरेणु का क्वाथ एवम् सप्तम में बला (बरियारा) क्वाथ।[2]

इसी क्रम में आचार्य चरक ने पद्म (लाल कमल), उत्पल (नील कमल) के केसर, पृश्निपर्णी एवं प्रियंगु का क्वाथ करके एक पेया का भी विधान किया है, जो रक्तपित्त के रोगी को आरोग्य प्रदान करती है।[3] स्मरणीय है कि पेया में अन्न की अपेक्षा चौदह गुणा जल डाला जाता है और यवागू में छह गुणा तथा कृशरा गाढ़ी होती है। इसके निर्माण में विशेष निर्देश न होने की स्थिति में शालि या साठी आदि के चावल, मूंग, उरद की दाल और तिल का प्रयोग होता है।[4]

इस भयंकर रक्तपित्त रोग की चिकित्सा के क्रम में औषधि का निर्देश करते हुए भी आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्य चरक चौबीस द्रव्यों का विकल्प व्यवस्था के साथ परिगणन करते हैं और कहते हैं कि इनमें किसी भी द्रव्य के चूर्ण को लेकर उसके साथ लाल चन्दन का चूर्ण मिलाकर सेवन कराएँ। यहाँ परिगणित द्रव्य निम्नलिखित हैं– किरात तिक्त (चिरायता), क्रमुक (सुपारी भद्रमुस्त, कपास के फल, पट्टिका, लोध अथवा देवदारु) नागरमोथा, पुण्डरिया काष्ठ, लाल कमल, नील कमल, सुगन्धबाला की जड़ गूलर की छाल, वेतस की छाल, बरगद की छाल, परवल की पत्ती, घमासा, पित्तपापड़ा, मृणाल, अर्जुन की छाल, शालेय (मधुरिका, बालमूलक या मिश्रेया) की छाल, जवासा की छाल, वंशलोचन, लता, वेतस, चौराई, अनन्त मूल, मोचरस और मजीठ।[5]

---

१. चरक चि० ४।३६–४०

२. चरक चि० ४।४३,४५–४८

३. चरक चि० ४।४४

४. (क) शार्ङ्गधर म० २।१६७–१६८ (ख) शार्ङ्गधर म० २।१६५–१६६

५. चरक चि० ४।७४–७६

यहाँ चौबीस वनस्पतियों का एक साथ परिगणन प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त अन्तर्मन में (चित्त के केन्द्र में) रहने के कारण ही हुआ है कि जिस देश, काल में जो वनस्पति सहज रूप प्राप्त हो उसका प्रयोग करके शरीर को प्रकृतिस्थ किया जाए। इनके प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्य स्वयं कहते हैं कि इन सभी औषध द्रव्यों के चूर्ण का समूह के रूप में (सभी द्रव्यों को अथवा जो प्राप्त हो उन द्रव्यों को लेकर समूह के रूप में) अथवा अलग–अलग द्रव्यों के रूप में शीत कषाय स्वरस, कल्क अथवा क्वाथ बनाकर सेवन करने से रक्त पित्त का शमन होता है।[१]

रक्तपित्त रोग बहुत बढ़ा हुआ होने पर कुछ सर्वसुलभ द्रव्यों के सामूहिक प्रयोग को भी उन्होंने आवश्यक माना है। इस प्रकार के प्रयोगों में एक प्रयोग निम्नांकित है। मूंग की दाल, धान का लावा, जौ, पिप्पली, खश और नागरमोथा के चूर्ण को बला (बरियारा) के क्वाथ में सायंकाल भिगो दें एवं प्रातःकाल छान कर पियें, इससे बढ़ा हुआ रक्तपित्त का रोग ठीक हो जाता है।[२]

महर्षि चरक ने रक्तपित्त की चिकित्सा के प्रसंग में पकी हुई मिट्टी को जल में औषध द्रव्यों के साथ तथा औषध द्रव्यों के बिना भी भिगोकर कुछ घण्टे (सामान्यतः दस बारह घण्टे) बाद छान कर पिलाने की व्यवस्था दी है और इसे श्रेष्ठ एवम् अतिश्रेष्ठ औषध बतलाया है।[३]

उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार ही घरेलू चिकित्सा जैसे पांच प्रयोग और निर्दिष्ट किये हैं। उनके अनुसार मुनक्का के साथ साधित घृत, सोंठ के कल्क के साथ पकाया हुआ गाय का दूध, गाय के दूधं में ही बला अर्थात् बरियारा अथवा गोखरू पका कर जीवक ऋषभक के कल्क के साथ साधित गौ के घृत के साथ गाय का दूध शर्करा मिला कर लेने से रक्तपित्त रोग की निवृत्ति हो जाती है।[४]

रक्तपित्त रोग में कभी–कभी मूत्र मार्ग से और कभी गुदा से रक्त निकलने लगता है। यह उपद्रव रोग के बढ़ने पर उत्पन्न होता है। इन पर विजय पाने के लिए भी चरक ने प्राकृतिक उपाय ही सुझाया है। उनके अनुसार मूत्र–मार्ग से रक्त निकलने पर शतावर तथा गोखरू पकाकर अथवा चारों पर्णियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी और मुद्गपर्णी) को पकाकर उसमें गौ का दूध सिद्ध करें। इस दूध का प्रयोग करने से मूत्र–मार्ग से पीड़ा के साथ प्रवाहित होने वाला रक्त प्रवाह रूक जाता है। इसी प्रकार

---

१. चरक चि० ४।७७
२. चरक चि० ४।७८
३. चरक चि० ४।८०–८१
४. चरक चि० ४।८४

मोचरस, बरगद की जटा या बरगद के शुंग अथवा हीबेर (सुगन्धवाला) नील कमल और सोंठ के साथ सिद्ध गौ का दूध गुदा–मार्ग से प्रयोग करने से रक्त प्रवाह युक्त रक्तपित्त निर्मूल हो जाता है।[1] वासा (अडूसा) उत्तर भारत के मैदानी और तराई क्षेत्रों में प्राप्त होने वाली अतिसुलभ वनस्पति है। रक्तपित्त को दूर करने के लिए प्राचीन आचार्य इस प्राकृतिक उपहार का खूब प्रयोग करते रहे हैं। प्रयोग के लिए इसके पत्ते जड़ और डण्ठल का सोलह गुने जल में क्वाथ करके उसे छान कर क्वाथ ले लिया जाता है और उसमें वासा के पुष्प और घृत डाल कर घृत सिद्ध करते हैं। इस सिद्ध घृत में मधु मिला कर इसका प्रयोग किया जाता है।[2] वासा के समान ही पलाश और त्रायमाणा (इन्द्रजौ) की जड़ छाल, पत्ते और पुष्पों से साधित घृत भी रक्तपित्त को शान्त करने का प्राकृतिक उपाय है। इसी प्रकार समंगा (मजीठ) नील कमल और पठानी लोध इनके कल्क से सिद्ध घृत अथवा गूलर और परवल के पत्तों से सिद्ध घृत का प्रयोग भी रक्तपित्त रोग को दूर करता है।[3]

रक्तपित्त रोग की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य नस्य का भी प्रयोग करते थे। इसका प्रयोग दूषित रक्त नाक से निकल जाने के बाद किया जाता है। प्रारम्भ में नस्य लेने से दूषित रक्त रूक कर दुष्ट प्रतिश्याय, शिरोरोग, नासिका से पूय युक्त रक्त का निकलना, नासिका से सड़े हुए मुर्दे की सी दुर्गन्ध, गन्ध के ज्ञान का लोप एवं नासिका में कृमि आदि उपद्रव हो जाते हैं।[4] अतएव वे आचार्य दूषित रक्त के निकल जाने के बाद शुद्ध रक्त को रोकने के लिए निम्नलिखित अवपीड नस्यों का प्रयोग करते रहे हैं–

१. नील कमल का फूल, गेरू, शंख भस्म और चन्दन के चूर्ण को शर्करा के शर्बत में पीस और छान कर नस्य करना अर्थात् कुछ बूंद नाक में डालना।
२. आम की गुठली को पूर्वोक्त प्रकार से शर्करा के शर्बत में पीस कर नस्य करना।
३. समङ्गा (मजीठ) के रस का नस्य लेना।
४. धाय के फूल के रस का नस्य लेना।
५. मोचरस को शक्कर के घोल में पीसकर उसका नस्य लेना।
६. लोध (पठानी लोध) को शक्कर के घोल में पीसकर उसका नस्य लेना।

यदि ये द्रव्य ताजे न मिलें सूखे हों तो शर्करा के शर्बत में इन्हें पीस कर और छान कर नस्य लेना। इनके अतिरिक्त अंगूर का रस, ईख का रस, गौ का दूध, दूब का स्वरस, जवासा के मूल का स्वरस, प्याज का स्वरस, अनार के फूल का स्वरस भी नस्य

---

१. चरक चि० ४।८५–८६
२. चरक चि० ४।८८
३. चरक चि० ४।८६–६०
४. चरक चि० ४।६८

के लिए वे प्रयोग में लाते थे। उपर्युक्त द्रव्यों के सुलभ न होने पर वे मुलेठी का कल्क गाय के दूध में पीस कर उसे अथवा चिरौंजी के तेल को, भैंस अथवा बकरी के दूध को, सारिवा (अनन्तमूल) या लाल कमल अथवा नील कमल को गाय, भैंस या बकरी के दूध में पीस और छान कर नस्य का प्रयोग करते थे। आम की गुठली को दूध में पीस कर नस्य देने से भी विशेष लाभ होता है।[१]

रक्तपित्त की प्राकृतिक चिकित्सा के पूर्वोक्त उपायों के अतिरिक्त प्रदेह अर्थात् लेप लगाना, परिषेचन अर्थात् शरीर पर जल की धारा डालना, अवगाहन अर्थात् जल से भरे हुए बड़े टब आदि पात्रों में बैठना आदि उपाय भी बहुत लाभप्रद एवं कभी–कभी अत्यन्त आवश्यक होते हैं। प्रदेह, परिषेक और अवगाहन हेतु वे भद्रश्री (सफेद चन्दन), लाल चन्दन, पुण्डरिया काठ (प्रपौण्डरीक) लाल कमल, नील कमल, खश, वानीर, (जल वेतस), सुगन्धबाला, कमलनाल, दूब, मुलेठी, पयस्या (विदारी कन्द) शालि धान की जड़, ईख की जड़, जवासा की जड़, गुन्द्रा की जड़, नरकट की जड़, कुश की जड़, काश की जड़, कुचन्दन (बकम काष्ठ), सेवार, अनन्त मूल, कालानुसार्या (तगर), गन्धतृण, ऋद्धि कमलों की जड़, सभी प्रकार के कमलों के फूल, कमल वाले तालाब की मिट्टी तथा गूलर, पीपल, महुआ, लोध्र, पठानी लोध एवं कषाय रस प्रधान सभी वृक्षों की पञ्चाङ्ग का अलग–अलग अकेले अथवा जो भी स्थानीय रूप से सुलभ हों उनका समष्टि रूप से उपयोग किया करते थे।[२]

इन उपर्युक्त विविध उपायों के साथ ही प्राचीन आचार्य रक्तपित्त में दाह की शान्ति के लिए धारागृह (फुहारे वाल कक्ष) सुशीतल भूमिगृह (तहखाने–भूमिगत गुफाएं) शीतल जल एवं वायु युक्त रमणीय वन में निवास एवं वैदूर्य मुक्तामणि तथा शीतल पात्रों का एवं शीतल जल से ठण्डे किये गये पदार्थों का स्पर्श भी लाभकारी मानते हैं।[३]

गुल्म रोग की प्राकृतिक चिकित्सा–

पुरीष, कफ और पित्त के अधिक मात्रा में निकल जाने से अथवा उनके मात्रा से अधिक बढ़ जाने के कारण अथवा शरीर को अधिक पीड़ित करने से मल–मूत्र और अपान वायु के नीचे की ओर प्रवृत्त वेग को रोकने से, किसी प्रकार के बाहरी आघात लगने से, किसी प्रकार का दबाव पड़ने से, सूखे आहार का अधिक मात्रा में सेवन करने से, शोक से, चिकित्सा–विधियों का दुरुपयोग करने से अथवा शारीरिक चेष्टाओं का अधिक प्रयोग करने से, कोष्ठ में वायु कुपित होकर कफ और पित्त को उभाड़ कर तथा उन्हें अपने–अपने स्थान से विचलित करके उनके मार्गों को अवरुद्ध कर देती है। तब

---

१. चरक चि० ४।६६–१०१

२. चरक चि० ४।१०२–१०५

३. चरक चि० ४।१०६

वह वायु हृदय, नाभि, (पार्श्व), पसलियों, उदर और वस्ति में शूल पैदा कर देती है एवं मार्ग रुके होने के कारण नीचे की ओर जाती है। वह वायु पक्वाशय, पित्ताशय अथवा कफाशय में पिण्ड के रूप में एकत्रित हुई दोषों के अनुसार गुल्म के नाम से जानी जाती है। ये गुल्म नाभि, दोनों ओर की पसलियों, उदर वस्ति और हृदय इन पांच स्थानों में होते हैं। सभी गुल्मों में वायु दोष प्रधान रहता है। वायु के साथ कफ, पित्त के भी संसृष्ट होने पर इनके वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज ये पांच भेद हो जाते हैं।[१]

गुल्म की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्यों ने मुख्य रूप से लंघन, स्नेहन, निरूह और अनुवासन वस्तियों का ही आश्रय लिया है जिसकी चर्चा इससे पूर्व के संशोधन चिकित्सा नामक अध्याय में की गयी है, किन्तु संशोधन के साथ रोग के मूल वात आदि दोषों को प्रकृतिस्थ करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति प्रदत्त उपहारों का प्राकृतिक अर्थात् सहज रूप से उपयोग करने का निर्देश भी किया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं– १. वात गुल्म में कफजन्य विकार होने पर रोगी को एरण्ड का तेल, मदिरा की प्रसन्ना (मदिरा के ऊपर स्वच्छ भाग) के साथ पिलायें, यदि पित्त दोष वात के साथ संश्लिष्ट हो तो वही एरण्ड तेल दूध के साथ दें?[२] लशुन का भी प्रयोग प्राचीन आचार्य गुल्म के निवारण के लिए करते रहे हैं। प्रयोग के लिए चार पल छिला हुआ लशुन दूध में आठ गुना पानी डालकर पकायें, जब सब पानी जल कर केवल दूध शेष रह जाये तो उस दूध को पियें, लशुन का यह प्रयोग उदावर्त, गृध्रसी, सायटिका, विषम–ज्वर, हृदय रोग विद्रधि और शोथ रोग में भी अतिशय लाभकारी होता है।[३] इसके अतिरिक्त वे प्रसन्ना (मद्य) का ऊपरी स्वच्छ भाग, गोमूत्र, काञ्जी तथा यवक्षार (जौ के टूसों को जलाकर बनाया गया क्षार) के साथ भी एरण्ड के तेल का प्रयोग गुल्म रोग में कराते रहे हैं। प्रसन्ना आदि के साथ एरण्ड तेल का प्रयोग गुल्म के अतिरिक्त उदर रोग और आनाह को भी दूर करता है।[४]

भुने हुए जौ के आटे में घी डाल कर बनायी गयी रोटी जिसे वाट्य कहते हैं, को पिप्पली सहित मूंग की दाल के पानी के साथ अथवा मूली के स्वरस के साथ लेने से वात गुल्म और उदावर्त्त रोग दूर होते हैं।[५] आँवले का रस और गन्ने का रस समान भाग लेकर उसमें चतुर्थांश घी डालकर पकायें। इस सिद्ध घृत के प्रयोग से पित्त दोष

---

१. चरक चि० ५।४–८

२. चरक चि० ५।६२–६३

३. चरक चि० ५।६४–६५

४. चरक चि० ५।६६

५. चरक चि० ५।६८

युक्त वात गुल्म दूर होता है। घृत सिद्ध करते समय घृत का चतुर्थांश हरीतकी चूर्ण मिला देने से घृत विशेष लाभकर हो जाता है।[1] इसी प्रकार वासा जड़ सहित आठ गुना जल में पकायें। अष्टमांश शेष रहने पर उसके फूल और घृत डाल कर घृत सिद्ध करे। इस घृत के प्रयोग से भी पित्त दोष युक्त गुल्म समूल नष्ट हो जाता है।[2] गुल्म के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों का मानना है कि मन्दाग्नि की स्थिति में गुल्म रोग बढ़ता है, अतः गुल्म रोगी को न तो गरिष्ठ भोजन करना चाहिए और न अति लंघन अर्थात् उपवास आदि।[3] इसके विपरीत सदा सुपाच्य भोजन सामान्य मात्रा में करना चाहिए।

प्रमेह की प्राचीन आचार्यों द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा

सुखपूर्वक सुखद आसनों पर बैठे रहना, सुखदायक मुलायम गद्दों से युक्त बिस्तर पर सोना, दही का अधिक सेवन, जल के निकट अधिक रहना, मछली मद्गु (जल मुर्गी) आदि के तथा ग्राम्य पशुओं के मांस का सेवन, दूध और दूध से बनी मिठाइयों का अधिक सेवन, नये अन्न का सेवन, वर्षा के नये जल का सेवन, गुड़, राब, चीनी, खांड आदि का अधिक सेवन करने से तथा मिठाई आदि कफ–कारक आहार अधिक मात्रा में ग्रहण करने से, दिन में सोने से, व्यायाम न करने से, आलस्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने से, शीत स्निग्ध एवं चर्बी बनाने वाले आहार लेने से मनुष्य को प्रमेह रोग ग्रस लेता है।[4] उपर्युक्त आलस्य पूर्ण आहार–विहार के कारण बढ़ा हुआ कफ दोष मेद, मांस तथा मूत्राशय में स्थित बस्तिगत क्लेद को दूषित कर कफज प्रमेह को, उष्ण स्पर्श वाले तथा उष्ण वीर्य पदार्थों का सेवन करने से बढ़ा हुआ पित्त उन्हीं मेदस् आदि को, दूषित करके पित्तज प्रमेह को , वात की अपेक्षा कफ और पित्त के क्षीण रहने पर बढ़ा हुआ वात् दोष वसा मज्जा ओज और लसीका को मूत्राशय में खींच कर वातज प्रमेह को उत्पन्न करता है।[5] यह प्रमेह बीस प्रकार का होता है। इनमें दस प्रकार के कफज छह प्रकार के पित्तज और चार प्रकार के वातज भेद होते हैं। इनमें कफज समक्रिय होने से साध्य, पित्तज विषमक्रिय होने से याप्य एवं वातज महात्यय होने से असाध्य माने गये हैं।[6] ये सभी भेद निम्नांकित हैं। कफज प्रमेह (समक्रिय साध्य) १. उदक मेह २. इक्षुमेह ३. सान्द्रमेह ४. सान्द्रप्रसाद मेह ५. शुक्लमेह ६., शुक्रमेह ७. शीत मेह ८. शनैर्मेह ९. सिकता मेह १०. लाला मेह। पित्तज प्रमेह (विषमक्रिय) होने से याप्य १. क्षार मेह २.

---

१. चरक चि० ५।१२२
२. चरक चि० ५।१२७
३. चरक चि० ५।११२
४. (क) चरक चि० ६।४, (ख) सुश्रुत नि० ६।३
५. चरक चि० ६।५–६
६. चरक चि० ६।७

कालमेह ३. नील मेह ४. हारिद्रमेह ५. माञ्जिष्ठ मेह ६. रक्त मेह। वातज प्रमेह (महात्यय होने से असाध्य) १. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह और ओजोमेह।[१]

प्रमेह रोग का बीज उत्पन्न के उपरान्त रोग के प्रकट होने से पूर्व शरीर में अधिक पसीना आना, शरीर में विशेष गन्ध प्रकट होना, अंगों में शिथिलता, शय्या सुख में स्वप्न सुख और आसन सुख में आसक्ति, हृदय, नेत्र, जीभ तथा कानों में मल का भरा रहना तथा भारीपन, शरीर के अङ्गों में मोटापन, केश और नखों का बहुत बढ़ना, शीतल पदार्थों से अधिक प्रेम, कण्ठ और तालु का बार–बार सूखना, मुख में मिठास का निरन्तर बना रहना, हाथ पैरों में जलन और मूत्र में चींटियों का लगना ये लक्षण प्रकट होते हैं।[२] यदि इन लक्षणों के प्रकट होने पर मनुष्य सचेत होकर अपने आहार–विहार को सुधार नहीं लेता तो प्रमेह रोग अवश्य हो जाता है। इन प्रमेहों में वातज प्रमेह असाध्य होता है। यह ऊपर कहा गया है। वातज प्रमेह से ही हृद्ग्रह अर्थात् हृदय की गति में रुकावट आने लगती है और हृत्स्तम्भ (हार्ट अटैक) की सम्भावना हो जाती है। वातज प्रमेहों में भी मधुमेह, जिसे ओजोमेह भी कहते हैं, अतिशय भयानक है, यह प्रमेहों की अन्तिम अवस्था है। असावधानी और आहार–विहार के असंयम से सभी प्रमेह अन्त में मधुमेह में बदल जाते हैं।[३]

प्रमेह रोग की चिकित्सा भी प्राचीन आचार्य संशोधन, वमन, विरेचन, वस्ति, उल्लेखन और लंघन से ही करते हैं।[४] जिसकी विस्तारपूर्वक चर्चा पूर्व अध्याय में की गयी है। प्रमेह रोग को प्रायः बहुत बढ़ने और पुराना होने पर ही रोगी जान पाते हैं अथवा उसकी ओर ध्यान देते हैं। वर्तमान काल में बहुप्रचलित चिकित्सा–विधि में तो प्रमेह की अन्तिम अवस्था मधुमेह होने पर ही परीक्षा पूर्वक रोग होने का निर्णय हो पाता है। अतः दृढ़ता से बद्धमूल इस रोग की चिकित्सा के प्रकरण में एकल औषधि का विधान न करके एक साथ अनेक वनस्पतियों के प्रयोग की चर्चा की है क्योंकि एकाधिक द्रव्यों का प्रयोग करते हुए भी उनका प्रयोग करने में अथवा औषधि को तैयार करने में विशेषज्ञता की अपेक्षा नहीं है। अतः उन योगों के प्रयोग को भी प्राकृतिक चिकित्सा ही मानना उचित होगा। प्रमेह के लिए वर्णित कुछ प्रयोग निम्नलिखित हैं– इनमें वर्णित वनस्पतियों का चूर्ण बना कर रखते हैं एवं क्वाथ बनाकर एक तोला मधु के साथ प्रयोग किया जाता है।

---

१. चरक चि० ६।९–११

२. चरक चि० ६।१३–१४

३. चरक चि० ७।२७

४. चरक चि० ६।२५

कफज प्रमेह निवारणार्थ दस प्राकृतिक प्रयोग[1]

१. हरड़, कट्फल का छिलका, नागरमोथा, लोध्र (पठानी लोध)।
२. पाढल, वायविडङ्ग, अर्जुन की छाल, धन्वन (धामन) की छाल।
३. हल्दी, दारुहल्दी, तगर, वायविडङ्ग।
४. कदम्ब की छाल, शाल (साखू) की छाल, अर्जुन की छाल, अजवाइन।
५. दारुहल्दी, वायविडङ्ग, खदिर सार (कत्था), धव की छाल।
६. देवदारु, कूठ, काला अगर, लाल चन्दन।
७. दारु हल्दी, अरणी, त्रिफला अर्थात् आंवला, हरड़, बहेड़ा (बीजरहित) और पाठा।
८. पाठा, मूर्वा, गोखरू।
९. अजवाइन, खश, हरड़ का छिलका।
१०. चव्य, चित्रक, हरड़, सप्तपर्ण की छाल।

इन दस क्वाथों में जो सुलभ हों उनका क्वाथ मधु मिलाकर सेवन करने का विधान है।

पित्तज प्रमेह नाशक दस प्राकृतिक प्रयोग[2]

१. खश, लोध्र (पठानी लोध), अञ्जन, लाल चन्दन।
२. खश, नागरमोथा, आंवला, हरड़।
३. परवल की पत्ती, नीम की छाल, आंवला, गिलोय।
४. नागरमोथा, हरड़, पद्मकाष्ठ, वृक्षक (सफेद कुटज) की छाल।
५. लोध्र (पठानी लोध) अम्बु (सुगन्धबाला) कालीयक, धव का फूल।
६. नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आम्रातक (अमड़ा) की छाल, निशा, हल्दी, उत्पल (नील कमल)
७. शिरीष की छाल, सर्जवृक्ष की छाल, अर्जुन की छाल, नागकेसर।
८. प्रियङ्गु के फूल, लाल कमल, नील कमल, (किंशुक) पलाश के फूल।
९. पीपल की छाल, पाठा या लाल जवासा, विजयसार की छाल, वेतस्।
१०. दारुहल्दी, नीलकमल, नागरमोथा।

इन दस क्वाथों में जो सुलभ हो लेकर क्वाथ करके एक तोला मधु मिलाकर प्रयोग करने का विधान है। उपर्युक्त कफज और पित्तज दोनों प्रकार के प्रमेहों में चरक, वाग्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने कबीला, सप्तवर्ण, शाल, वहेड़ा, रौहीतक, कुटज और कैथा इन सबकी अथवा इनमें जो सुलभ हों उनकी छाल अथवा फूल का क्वाथ करके मधु के साथ प्रयोग करने का निर्देश किया है।[3] प्रमेह रोग की चिकित्सा के क्रम में महर्षि चरक छह अन्य प्राकृतिक पदार्थों से किये जाने वाले सहज प्रयोग बताते हैं। उनका कथन है कि सारोदक अर्थात् खदिरसार विजयसार का सारोदक, कुशोदक, मधु मिश्रित जल, त्रिफला का स्वरस या क्वाथ, दोष रहित सीधु अथवा उत्तम पुरानी मध्वीक (अंगूर से बनी शराब), इनमें से जो भी सुलभ हो उसका नियमित प्रयोग करें।[4]

---

१. चरक चि० ६।२७–२९
२. चरक चि० ६।३०–३२
३. चरक चि० ६।३५, अष्टांग सं० चि० १४।१
४. चरक चि० ६।४६

वातज प्रमेह में उपर्युक्त योगों में ही अन्यशम के क्वाथ में सिद्ध घृत या तेल का प्रयोग करने का निर्देश प्राचीन आचार्य करते हैं।[1] रोग यदि अधिक बढ़ा हुआ हो उस स्थिति में वे त्रिफला, दारुहल्दी, इन्द्रायण की जड़ और नागरमोथा का क्वाथ मधु के साथ लेने का भी निर्देश करते हैं।[2]

किसी भी रोग के सम्बन्ध में विशेषतः प्रमेह के सम्बन्ध में वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध प्राचीन आचार्य "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अर्थात् कीचड़ लगे और फिर उसे धोया जाये इससे अच्छा है कि उससे दूर रहें कि उसका (कीचड़) स्पर्श ही न हो सूक्ति के आशय पर आस्था रखते हैं और वे कहते हैं कि–प्रत्येक मनुष्य को विविध प्रकार के व्यायाम, आसन आदि करने चाहिए, बलपूर्वक उबटन और अभ्यङ्ग करना चाहिए। स्नान परिषेक और अवगाहन पूर्वक करना चाहिए, तैरना चाहिए। खश, दाल चीनी, छोटी इलायची, अगुरु तथा चन्दन आदि का विलेपन करना चाहिए, ऐसा करने से प्रमेह रोग होते ही नहीं।[3]

कुष्ठ रोग की पूर्व आचार्यों द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा

कुष्ठ रोग की उत्पत्ति के हेतु–विरोधी अन्न पानों का एवम् अधिक द्रव स्निग्ध तथा गुरुपदार्थों का सेवन करने वालों, आये हुए वमन के वेगों को रोकने वालों, मल मूत्र और अपान वायु का वेग रोकने वालों, अधिक भोजन के तत्काल बाद व्यायाम करने वालों, अधिक धूप या आग सेकने वालों, शीत, उष्ण, लंघन एवम् आहार के क्रम को छोड़कर इनका सेवन करने वालों, धूप (सूर्य ताप), श्रम तथा भय से त्रस्त होकर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन करने वालों, भोजन पचने से पूर्व पुनः भोजन करने वालों, पञ्चकर्म अर्थात् वमन, विरेचन आदि के समय प्रतिकूल आचरण करने वालों, नया अन्न, दही, मछली, नमक तथा खट्टे पदार्थों का अधिक सेवन करने वालों, उरद, मूली, पिष्टान्न, तिल, दूध तथा गुड़ आदि पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने वालों, भोजन के भलीभांति पचने से पूर्व ही मैथुन करने वालों, दिन में सोने वालों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनों का अपमान या तिरस्कार करने वालों और पाप कर्म करने वालों को यह कुष्ठ रोग होता है।[4]

उपर्युक्त विरुद्ध आचार से कुपित हुए वात, पित्त, कफ ये तीन दोष, त्वचा, रक्त, मांस, अम्बु अर्थात् लसीका को क्रमशः दूषित कर देते हैं। जिसके फलस्वरूप निम्नलिखित अठारह प्रकार के कुष्ठों की उत्पत्ति हो सकती है–

---

१. चरक चि० ६ ।३४
२. चरक चि० ६ ।४०
३. (क) चरक चि० ६ ।५० (ख) चरक वि० ६ ।५३
४. चरक चि० ७ ।४–८, ९, १०

कपाल, उदुम्बर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक, सिध्म, काकणक एककुष्ठ, चर्म किटिम, विपादिका, अलसक, दद्रु, चर्मदल, पामा, विस्फोटक, शतारु और विचर्चिका।[1] महर्षि चरक द्वारा परिगणित उपर्युक्त अठारह कुष्ठों में मण्डल, विपादिका, अलसक, विस्फोटक, चर्मकुष्ठ और शतारु ये नाम शल्य चिकित्सा के प्राचीनतम आचार्य सुश्रुत के ग्रन्थ में प्राप्त नहीं हैं। इनके बदले वे स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, विसर्प, परिसर्प, अरुण और रकसा नामों की चर्चा करते हैं।[2] काश्यप वाग्भट, वृद्ध वाग्भट सभी कुष्ठ के अठारह प्रकार ही मानते हैं। भले ही उनमें कुछ नाम भिन्न–भिन्न हों।

उपर्युक्त अठारहों प्रकार के कुष्ठों की चिकित्सा के लिए सभी आचार्य पञ्चकर्म विधि से संशोधन रूप प्राकृतिक चिकित्सा को प्रधान मानते हैं जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में की गयी है। संशोधन के बिना वे अन्य चिकित्सा को सफल नहीं मानते।[3]

संशोधन के लिए उन आचार्यों ने स्नेहन, स्वेदन, पूर्वक वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, प्रछन्न या शिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण, नस्य, धूमपान, लेप, क्षार आदि विविध उपायों का विधान किया है। संशोधन के साथ ही दोषों का शमन करके धातुओं सहित शरीर को प्रकृतिस्थ करने के लिए उन्होंने प्राकृतिक एवं विशेषज्ञों द्वारा प्रयोग योग्य आरोग्यदायी द्रव्यों के प्रयोग की भी व्यवस्था की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ प्राकृतिक उपाय निम्नलिखित हैं[4]-

१. दारुहल्दी के कल्क को गोमूत्र के साथ पीने से कुष्ठ नष्ट होता है।
२. रसाञ्जन रसौत को गोमूत्र में घोलकर पिलाने से कुष्ठ का नाश होता है।
३. व्योष अर्थात् समान मात्रा में सोंठ, मिर्च, पीपल, गुड़, तिल का तेल एवं हरीतकी का प्रयोग कुष्ठ को नष्ट करता है।
४. शुद्ध आमलासार, गन्धक का जाती अर्थात् आँवले के स्वरस और मधु के साथ प्रयोग करने से सब प्रकार के कुष्ठों का नाश होता है।
५. शुद्ध स्वर्ण माक्षिक का गोमूत्र के साथ प्रयोग करने से सब प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं।[5]

---

१. चरक चि० ७।१३
२. सुश्रुत नि० ५।५
३. (क) चरक चि० ७।३६–४१ (ख) सुश्रुत चि० ६।६
४. (क) चरक चि० ७।६१ (ख) सुश्रुत चि० ६।४४–४६
५. चरक चि० ७।७०

६. त्रिफला, पिप्पली और विडङ्ग मधु और घृत के साथ चाटने से कुष्ठ रोग नष्ट हो जाता है।
७. चित्रक (चीता) को बारीक पीस कर एक पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ लेने से कुष्ठ नष्ट होता है।
८. पिप्पली को बारीक पीस कर एक पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ लेने से कुष्ठ नष्ट होता है।

प्राचीन आचार्यों ने कुष्ठ में कृमि उत्पन्न हो जाने पर प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में ही नीम का काढ़ा अथवा सफेद फूल का मन्दार अथवा सप्तवर्ण का क्वाथ पीने की व्यवस्था दी है। साथ ही कीड़े वाले अङ्गों पर कनेल की जड़ और वायविडङ्ग को गोमूत्र में पीस कर लगाने का निर्देश किया है। गोमूत्र से कुष्ठ ग्रसित अंग को धोने का एवं भोजन के प्रत्येक पदार्थ को विडङ्ग मिश्रित करके रोगी को खिलाने को निर्देश किया है।[1]

कुष्ठ रोग बाह्य शरीर में विशेषतः प्रकट होता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने बाह्य प्रयोग के लिए प्रायः सर्वत्र सुलभ कुछ वनस्पतियों का उबटन अथवा लेप लगाने का भी निर्देश किया है। अतः उसे भी प्राकृतिक उपचार ही कहना चाहिए। इन बाह्य उपचारों में कुछ निम्नांकित हैं[2] :–

१. लोध्र (पठानी लोध) अथवा धाय के फूल अथवा इन्द्र जौ के बीज अथवा करञ्ज के फल अथवा मालती के पत्ते इनको पीस कर उबटन करें अथवा रोगयुक्त अंग पर लेप करें।
२. सिरीष की छाल अथवा कपास के फूल अथवा अमलतास के पत्ते अथवा काकमाची (काली मकोय) की पत्तियों को पीस कर रोगी के अंग पर लगाना चाहिए।

इस भयंकर रोग के निवारण के लिए प्राचीनकाल में निम्नलिखित अन्य उपाय भी प्रचलित थे—

१. दारुहल्दी से तैयार किया गया रसाञ्जन का क्वाथ
२. नीम और परवल की पत्तियों का क्वाथ
३. खदिर वृक्ष के सार का क्वाथ।
४. अमलतास की पत्तियाँ तथा कुटज वृक्ष की छाल का क्वाथ।
५. त्रिफला का क्वाथ अथवा वासा और त्रिफला का क्वाथ।
६. सप्तवर्ण की छाल का क्वाथ।

इन छह प्राकृतिक उपहारों के क्वाथ को पीकर अथवा घृत या तेल बना कर कुष्ठ शमन के लिए उपयोग किया जाता रहा है। इसी प्रकार तिनिश वृक्ष की छाल

---

१. सुश्रुत चि० ६।५१–५२
२. चरक चि० ७।९७–९९

के क्वाथ का प्रयोग पीने और स्नान के लिए, अश्वमार अर्थात् कनेर की जड़ के चूर्ण का लेप उबटन या मर्दन अवचूर्णन अर्थात् घावों पर छिड़कने के लिए वे आचार्य प्रयोग करते थे।

कुष्ठ की चिकित्सा क्रम में प्राचीन आचार्य दो और अमोघ प्राकृतिक उपचार बताते हैं, उसके अनुसार ऊंट का मूत्र रोगी को पीने को दें तथा ऊंटनी के दूध का ही भोजन करने का निर्देश करें। इसके प्रयोग से छह मास में कुष्ठ रोग पूरी तरह से ठीक हो जाता है।[१] दूसरा उपाय है – खदिर का प्रयोग । रोगी को खदिर (खैर) के पानी से स्नान करना चाहिए और खाने पीने में भी उसका पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत की मान्यता है कि जिस प्रकार कुष्ठ रोग अपने तेज से रोगी को नष्ट कर देता है उसी प्रकार खदिर अपनी शक्ति से कुष्ठ रोग को नष्ट कर देता है।[२] प्राकृतिक सहज औषधों अथवा विविध घृत, तैल, अवलेह आदि के योगों का निर्देश करते हुए भी वे मानते हैं कि इस रोग की मुख्य चिकित्सा तो संशोधन ही है। इसलिए वे कहते हैं कि रोगी को प्रतिदिन ऐसे शुभ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराएं जिससे रोगी को पांच–सात बार मल त्याग करना हो अथवा पांच–सात या आठ दिन बाद विरेचन द्वारा उदर शुद्धि करनी चाहिए जिससे दोष का प्रकोप न हो और रोग पुनः शिर न उठा सकें।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने कुष्ठ जैसे असाध्य [प्रायः हठी] रोग की भी संशोधन के साथ प्राकृतिक सहज और सुलभ चिकित्सा का वर्णन किया है।

राजयक्ष्मा की प्राकृतिक चिकित्सा

राजयक्ष्मा जिसे वर्त्तमान काल में टी० बी० के संक्षिप्त नाम से जाना जा रहा है, महारोग है। वर्तमान में बहुप्रचलित एलौपैथिक चिकित्सा विधि में कुछ समय पूर्व तक असाध्य माना जाता रहा है किन्तु अब इस रोग के निवारण के लिए आविष्कार कर लिये हैं। भारत के प्राचीन स्वास्थ्य–विज्ञान के ग्रन्थों में इसे महारोग अर्थात् भयंकर रोग मानते हुए भी असाध्य नहीं माना गया था। प्राचीन आचार्यों ने इसकी चिकित्सा के लिए वर्त्तमान प्राकृतिक चिकित्सा के मूल आधार शोधन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। साथ ही शरीर को पुष्ट और प्रकृतिस्थ करने के लिए अनेक प्रकार के योगों के प्रयोग करने का निर्देश किया है तथा मुख्य रोग के साथ होने वाले उपद्रवों की चिकित्सा के लिए अनेक योग (अनेक वनस्पति आदि से निर्मित औषधियाँ) का विवरण भी दिया है।

---

१. सुश्रुत चि० ६।६६
२. (क) सुश्रुत चि० ६।७०–७१ (ख) चरक चि० ७।१६६
३. सुश्रुत चि० ६।६८

इस रोग में प्रतिश्याय, ज्वर, कास, अंगमर्द, शिरःशूल, श्वास, अतिसार, अरुचि, पार्श्वशूल, स्वरक्षय और अंस सन्ताप ये ग्यारह लक्षण प्रकट होते हैं।[१] ये ग्यारह लक्षण स्वयं स्वतन्त्र रोग हैं। जबकि राजयक्ष्मा में ये रोग उसके अंग अथवा उपद्रव के रूप में माने गये हैं। इन रोगों के समूह के कारण ही इस रोग को राजयक्ष्मा अथवा महारोग कहा जाता है। इस रोग में धीरे–धीरे सभी धातुओं का क्षय होता है। इसलिए इसे क्षय रोग भी कहते हैं। धातुओं का क्षय होने के कारण रोगी की मृत्यु की भी सम्भावना हो जाती है।[२]

इस रोग की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं–अति साहस अर्थात् अपने से अधिक बलवान् के साथ युद्ध करना, शक्ति से अधिक श्रम करके अध्ययन करना, अधिक भार उठाना, अधिक मार्ग को चलकर पार करना, अधिक लंघन, अधिक तैरना, अपान वायु तथा मल मूत्र का वेग रोकना, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक, अधिक मैथुन आदि कारणों से शुक्र और ओज का क्षय होने पर शरीरस्थ वायु कुपित होकर पित्त और कफ को भी उभार कर शरीर के ऊपर नीचे तिरछे भागों में उन दोषों के साथ भ्रमण करता हुआ प्रतिश्याय कास ज्वर आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है। संक्षेप में इसके कारणों को अयथाबल आरम्भ अर्थात् अतिसाहस करके शक्ति से अधिक कार्य का आरम्भ वेग सन्धारण क्षय और विषम आहार–विहार इन चार कारणों में समाहित कर सकते हैं।[३]

प्राचीन काल के प्राकृतिक चिकित्सा के विशेषज्ञ आचार्यों ने राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिए सर्वाधिक महत्त्व सुपाच्य पौष्टिक आहार को दिया है। उसके बाद संशोधन को, उसके बाद पौष्टिक और रोग–निवारक औषधियों को उन्होंने रोग काल में होने वाले उपद्रवों के शमनार्थ ही औषधियों को स्थान दिया है। आहार के रूप में वे बकरी का दूध, चना, मूंग एवं मोठ को खूब उबाल कर उसका पानी (सूप) पीने के लिए देने को कहते हैं। उनका मानना है कि गेहूँ, महुआ के पुष्प से निर्मित आसव, अरिष्ट आदि का प्रयोग करके राजयक्ष्मा के कफ विकार को जीतें।[४] यक्ष्मा रोग में प्रायः अग्निमान्द्य अवश्य रहता है। इसी कारण चिकनापन लिये हुए अतिसार होता है। प्राचीन आचार्यों ने इस अग्निमान्द्य और अतिसार को दूर करने के लिए कुछ सरल और

---

१. चरक चि० ८।२४, २७

२. चरक चि० ८।१३–१५, २०–२६, २८,२६,३१

३. चरक चि० ८।६५–७०, चरक चि० ८।६५

४. चरक चि० ८।७१–७४, ८१–८२, ८७, ८६, ६६, ११६, १२०

सुलभ प्राकृतिक उपहारों के प्रयोग करने का निर्देश भी दिया है। जैसे—सोंठ और इन्द्र जौ समान भाग के चूर्ण को चावल के पानी के साथ पिलायें। चूर्ण पच जाने पर अर्थात् उसके दो घण्टे बाद वे चांगेरी (चौपतिया) का रस मट्ठा या अनार के रस के साथ (इन तीन, दो या एक पदार्थ के साथ) यवागू पथ्य के रूप में देने का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार उनके अनुसार पाठा, बेल की गूदी और अजवाइन का चूर्ण मट्ठे के साथ लिया जा सकता है, अथवा दुरालभा (धमासा) सोंठ और पाठा का चूर्ण अथवा जामुन, आम, बेल और कैथा इन चारों फलों की गूदी और सोंठ समान भाग लेकर चूर्ण बना लें तथा पेया अथवा माण्ड के साथ इसका प्रयोग करें।[1]

इन पाठा आदि द्रव्यों के क्वाथ बनाकर अथवा इनका क्वाथ मिलाकर मूंग, मसूर, उरद, अरहर, कुलथी आदि को पकाकर एवं कांजी, अनार का रस, चांगेरी आदि खट्टे पदार्थ मिलाकर खड्यूष बनाकर अतिसार युक्त यक्ष्मा रोगी को पिलाने का निर्देश भी वे करते हैं।[2] इनके अतिरिक्त वे लघु पञ्चमूल अर्थात् शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी और बड़ी कटेरी एवं गोखरू के क्वाथ को मट्ठा, चुकीका (एक प्रकार का खट्टा नीबू) अथवा खट्टे अनार के रस को जल के स्थान पर पीने की व्यवस्था देते हैं।[3]

यक्ष्मा रोग की चिकित्सा के प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों ने अभ्यङ्ग आदि के द्वारा स्नेहन को भी बहुत लाभकारी माना है। उनका मानना है कि यक्ष्मा रोग के कारण स्रोतों में रुकावट हो जाती है। इस रुकावट को दूर करने के लिए पहले रोगी के शरीर पर भली प्रकार से मालिश की जाये उसके बाद तेल या घृत, दूध और जल से भरी द्रोणी (टब) में रोगी को बैठाएँ। निर्धारित समय बाद सामान्यतः चालीस मिनट बाद रोगी को उस द्रोणी (टब) से बाहर निकाल कर सुखपूर्वक बैठाकर कोमल हाथों से सम्पूर्ण शरीर को रगड़ें और उबटन लगाकर बाहरी तेल को दूर करें, इससे बल और पुष्टि मिलती है।[4]

इसके अनन्तर उन्होंने जीवन्ती शतवीर्या आदि वनस्पतियों के चूर्ण में दही और मधु मिलाकर उससे उत्सादन करने का निर्देश किया है। इसके द्वारा क्षय रोगी का शरीर पुष्ट होगा, बल और वर्ण में वृद्धि होगी।[5] इन आचार्यों ने राजयक्ष्मा के रोगी को स्नान के लिए भी प्राकृतिक किन्तु विशेष प्रकार की व्यवस्था दी है। उसके अनुसार

---

१. चरक चि० ८।१२५–१२७

२. चरक चि० ८।१२८

३. चरक चि० ८।१३३

४. चरक चि० ८।१७३–१७५, अ० हृदय चि० ७७।७८

५. चरक चि० ८।१७५–१७८ अ० हृदय चि० ५।७८–८१

जीवनीय गण की जो औषधियाँ सुलभ हों उनका क्वाथ बनायें। क्वाथ में पीली सरसों को पीस कर मिलाएं। इस काढ़े को ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम पानी में मिलाकर उस जल से स्नान करायें। प्रतिदिन धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहनने को दें। सुगन्धित इत्र, तेल आदि तथा माला, आभूषण आदि पहनने को दें। इष्ट मित्रों का संसर्ग एवं रस वर्ण गन्ध से प्रिय स्वादु भोजन दें, क्योंकि चित्त के प्रसन्न रहने पर रोग स्वयं दूर भागने लगता है अथवा रोग का वेग कम हो जाता है। यक्ष्मा के रोगी को पुराने अन्न से बना हुआ सुपाच्य शक्तिप्रद सुगन्धित स्वादिष्ट प्रसन्नता देने वाला पथ्य भोजन देना चाहिए।[1]

अष्टांगहृदयकार वाग्भट का मानना है कि मित्रों और प्रियजनों के दर्शन, गाने बजाने का सुनना, उत्सवों में भाग लेना, वस्तियां विशेषकर बृंहण वस्तियां, दूध, घी, अल्प मात्रा में मद्य सुपाच्य आमिष, मांगलिक कार्य होम आदि का आयोजन तथा अथर्ववेद विहित यज्ञादि कर्म राजयक्ष्मा के रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।[2]

राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा की विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन करके उपसंहार करते हुए स्वास्थ्य विज्ञान के ज्ञात प्राचीनतम आचार्य महर्षि चरक कहते हैं कि अभ्यङ्ग उत्सादन (उबटन) ऋतु के अनुकूल स्नान, अवगाहन, प्रिय और नवीन वस्त्रों का धारण इन बाहरी परिमार्जन से, विविध प्रकार की वस्तियों से, दूध दही तथा भात के आहार से, मन को प्रिय लगने वाले सुगन्धित पदार्थों के सेवन से, मित्रों तथा प्रिय सुन्दर रमणियों को देखने से, गीतों तथा विविध प्रकार के वाद्यों को सुनने से, प्रिय समाचारों तथा कथाओं को सुनने से मन को आनन्दित करने वाले आश्वासनों से, गुरुजनों अर्थात् माता पिता, आचार्य एवम् आदरणीय सम्बन्धियों की सेवा उपासना ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने से दान तप देवपूजा सत्य भाषण आदि प्रशस्त आचरण एवं स्वस्थ वृत्त में वर्णित आचार के सेवन से, मांगलिक पदार्थों के दर्शन स्पर्शन और धारण करने से, अहिंसाभाव को धारण करने और उसके पालन से, वैद्य तथा ब्राह्मण की पूजा करने से, इस रोगराज (राजयक्ष्मा) की निवृत्ति हो जाती है।[3] प्रस्तुत उपसंहार वाक्य में प्राकृतिक आदर्श एवं प्रशस्त जीवन–विधि का ही कथन हुआ है। विविध औषधों के प्रयोग का नहीं। साथ ही इस महारोग की पूर्णतया निवृत्ति का भी कथन है। जिससे प्राचीन काल में प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचलन और उसकी सफलता के प्रसंग में विश्वास व्यक्त होता है।

उन्माद रोग की प्राकृतिक चिकित्सा और प्राचीन आचार्य

उन्माद रोग को सामान्य भाषा में पागलपन कहते हैं। बुद्धि का स्थिर न रहना, मन का चंचल हो जाना, दृष्टि में व्याकुलता का दिखायी देना, किसी एक पदार्थ में दृष्टि का स्थिर न रहना, अधीरता, असम्बद्ध बोलना तथा हृदय की शून्यता ये लक्षण सामान्य उन्माद में दिखलायी देते हैं। इस रोग में स्मरण शक्ति बुद्धि और संज्ञा के नष्ट हो जाने के कारण वह रोगी मूढ़ चित्तवाला हो जाता है। उसे न सुख और दुःख का अनुभव होता है, न आचार और धर्म का ज्ञान रहता है। इसी कारण वह सर्वदा अशान्त रहता है।

---

१. चरक चि० ८।१७८–१८२, अ० हृदय चि० ५।८१–८२

२. अ० हृदय चि ५।८३–८४

३. चरक चि० ८।१८४–१८८

उसका चित्त और वह स्वयं भी निरन्तर घूमता रहता है। स्थिर नहीं रह पाता।[1]

उन्माद रोग मूलतः दो प्रकार का हैं आगन्तुक और निज। कारण भेद से इसके पांच भेद माने गये हैं—वातज उन्माद, पित्तज उन्माद, कफज उन्माद, सन्निपातज उन्माद और आगन्तुक उन्माद। आगन्तुक उन्माद के पुनः भूतोन्माद, यक्षोन्माद, राक्षसोन्माद, ब्रह्मराक्षसोन्माद, गन्धर्वग्रहजन्य उन्माद, पिशाचग्रहजन्य उन्माद आदि भेद हैं।[2]

उन्माद रोग की प्राचीन आचार्यों ने चिकित्सा मुख्यतः दो प्रकार से बतलायी है। संशोधन और औषध प्रयोग। इसमें उन्होंने औषधि प्रयोग के तो विकल्प दिये हैं किन्तु पञ्चकर्म विधि से संशोधन के कोई विकल्प नहीं दिये हैं। इस संशोधन में वमन, विरेचन और वस्तियां तो आवश्यक हैं ही, नस्य और अञ्जन को भी उन्होंने आवश्यक बतलाया है। इस प्रसङ्ग में आचार्य सुश्रुत का स्पष्ट कहना है कि उन्माद रोगी मनुष्य का स्नेहन और स्वेदन करके तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण विरेचन, तीक्ष्ण शिरोविरेचनों से शोधन करे। सरसों के तेल में मिलाकर नाना प्रकार के अवपीडन नस्य दें। सरसों का चूर्ण रोगी की नासा में प्रधमन करे। सरसों के तेल से नस्य और अभ्यङ्ग करे।[3] संशोधन द्वारा उन्माद की चिकित्सा का विस्तारपूर्वक विवरण पूर्व अध्याय में दिया गया है।

उन्माद की चिकित्सा हेतु संशोधन के अनन्तर विविध औषधि योगों का वर्णन प्रायः आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने किया है। यहाँ योगों (अनेक द्रव्यों की समष्टि) से चिकित्सा को प्राकृतिक चिकित्सा में सम्मिलित करना अभीष्ट नहीं है किन्तु आचार्य चरक ने पुराण घृत पान का निर्देश भी किया है, जिसे प्राकृतिक चिकित्सा से बाहर नहीं रखा जा सकता है।

उन्माद चिकित्सा के क्रम में आचार्य महर्षि चरक का निर्देश है कि उन्माद रोगी को महाकल्याण घृत, लशुनादि घृत, महापैशाचिक घृत आदि योग सिद्ध घृतों के स्थान पर रोगी को पुराण घृत पिलाना चाहिए। पुराण घृत त्रिदोष नाशक है तथा पवित्र होने के कारण यह ग्रह दोषों को विशेष रूप से दूर करता है। यह घृत यद्यपि स्वाद में कटु और तिक्त है, किन्तु गुणों में सामान्य घृत से अधिक हितकारी है। स्मरणीय है कि दश वर्ष से अधिक पुराना घृत पुराण घृत कहलाता है। इसमें गन्ध बहुत उग्र होती है। इसका रंग लाख के रंग के सदृश हो जाता है। यह प्रभाव में शीतल है, बुद्धिवर्धक है साथ ही विरेचक भी है। दश वर्ष से सौ वर्ष तक के पुराने घृत को प्रपुराण घृत कहते हैं। यह और अधिक लाभकारी होता है। इसके देखने, स्पर्श करने और सूंघने मात्र से सभी दुष्ट

---

१. चरक चि० ६।६–७

२. चरक चि० ६।८

३. (क) सुश्रुत उत्तर ३२।१४–१६,३४ (ख) चरक चि० ६।२५–२६,३२

ग्रह भाग जाते हैं। अपस्मार और ग्रहोन्माद में तो यह अतिशय हितकारी है।[1]

उन्माद रोग की चिकित्सा के प्रसङ्ग में एक और उपाय प्राचीन आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है जो आज दिल्ली, बम्बई जैसे महानगरों में रहने वालों के लिए प्राकृतिक नहीं है, किन्तु वनस्पतियों से परिचित वनवासियों के लिए सम्पूर्णतया प्राकृतिक है। यह उपाय है–साही बिल्ली मार्जार बिल्ली के तथा वाग्भट के मत में जत्रुका, सियार, भेड़िया, बकरी इन प्राणियों में से जिसका भी मूत्र, विष्ठा, लोम, नख, चर्म सुलभ हो उससे सेक (स्नान) अञ्जन, प्रधमन, नस्य तथा धूम करना। यह उपाय वातज और कफज उन्माद के लिए विशेष उपयोगी होता है।[2] इसके अतिरिक्त वाग्भट के अनुसार कुत्ता, गाय, मछली इनकी क्लिन्न गन्ध से निरन्तर धूम देने से भी वात, कफ विकार प्रधान उन्माद रोग नष्ट होता है।[3] इसके साथ ही उनके अनुसार सरसों के तेल में मिलाकर अनेक प्रकार के अवपीडन नस्य देने से सरसों के तेल से अभ्यङ्ग करके सरसों का चूर्ण नासिका में फूंकने से अथवा तीक्ष्ण धूप हींग के साथ देने से उन्माद रोग दूर होता है।[4]

कभी–कभी उन्माद रोग का कारण इष्ट वस्तु का विनाश होता है अथवा काम, शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्या और लोभ भी। इष्ट द्रव्य विनाश से उत्पन्न उन्माद को दूर करने के लिए तत्सदृश द्रव्य की प्राप्ति का कथन अथवा सान्त्वना एवम् आश्वासन आदि उपाय करने चाहिए। यदि उन्माद का कारण काम, शोक आदि मानसिक कारण हो तो उस स्थिति में इनके विरोधी मनोभावों को पैदा करके उन्माद रोग का शमन करना चाहिए।[5]

इस प्रकार उन्माद रोग की चिकित्सा हेतु भी प्राचीन आचार्यों ने अनेक प्राकृतिक उपाय बताये हैं।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार अपस्मार रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

अपस्मार शब्द का अर्थ है स्मृति का अर्थात् अनुभूत विषय का भ्रंश। इस अपस्मार रोग में धारणा शक्ति युक्त बुद्धि और सत्त्व अर्थात् मन के विकृत हो जाने के कारण रोगी के आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। वह अपने को अन्धकार में प्रवेश होते हुए जैसा अनुभव करता है तथा अनेक प्रकार की वीभत्स चेष्टाएँ करने लगता है।[6] जिन पुरुषों के वात आदि दोष विपरीत मार्गों में भ्रमण करने के कारण शरीर के ऊपरी भागों में विचरण कर रहे हैं और ये दोष अपनी सम अवस्था से बढ़ चुके हैं, जो अहितकर और अपवित्र पदार्थों का सेवन कर रहे हैं, ऐसे लोगों के शरीर में रजोगुण और तमोगुण

---

१. चरक चि० ६।५६–६३
२.(क) चरक चि० ६।७४–७६, (ख) अ० हृदय उत्तर ६।४२–४३
३. अ० हृ० उ० ६।४४
४. अ० हृ० उ० ६।४१–४२
५. चरक चि० ६।८५–८६, अ० हृ० उ० ६।५३–५४

६.(क) सुश्रुत उत्तर ६१।३ (ख) चरक चि० १०।३

की वृद्धि हो जाती है। सतोगुण निर्बल हो जाता है। हृदय वात आदि दोषों से आवृत हो जाता है तथा चिन्ता, काम, भय, क्रोध शोक आदि मन के उद्वेगों के कारण वह (मन) दूषित हो जाता है, तब मनुष्यों में अपस्मार रोग की प्रवृत्ति होती है।[1]

धमनियों द्वारा हृदय प्रदेश में आश्रय लिये हुए वात आदि दोष जब हृदय को पीड़ित करने लगते हैं, तब पीड़ित होता हुआ वह रोगी भ्रान्त चित्त होकर बेहोश होकर पीड़ा का अनुभव करता है। इस स्थिति में जो रूप जैसा नहीं हैं उन्हें वैसा देखता है। उठ–उठ कर गिरता, कांपता और फड़फड़ाता है। उस समय उसके जीभ, आँखों और भौंहों में कम्पन होता है। मुख से लार या झाग निकलने लगता है। रोगी हाथ पैरों को फेंकने पटकने लगता है। दोषों का वेग समाप्त होने पर वह उसी प्रकार उठकर बैठ जाता है जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोकर जागता है।[2] यह रोग वातज, पित्तज, श्लेष्मज और सन्निपातज भेद से चार प्रकार का होता है।

इस रोग की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्यों ने वमन, विरेचन और वस्ति इन तीनों उपायों के द्वारा संशोधन को ही प्रधानता प्रदान की है[3] तथा प्रकृतिस्थ होने के लिए कुछ वनस्पति आदि का प्रयोग सहायतार्थ गौण रूप से ही किया है। साथ ही विशेषज्ञों द्वारा साध्य औषधियों की अपेक्षा प्राकृतिक अर्थात् सहज उपायों का आश्रय उचित समझा है। उन्होंने औषध के रूप में पञ्चगव्य घृत को प्रथम स्थान दिया है। पञ्चगव्य घृत, गोबर का रस, गोमूत्र, गाय का खट्टा दही, गोदुग्ध और गोघृत समान भाग लेकर सिद्ध किया जाता है।[4] इसी प्रकार वे ब्राह्मी की पत्तियों का स्वरस तथा बालवच कूठ और शंखपुष्पी के कल्क में गौ के पुराण घृत (दस वर्ष पुराने गोघृत) को सिद्ध करके प्रयोग करने का निर्देश भी करते हैं।[5]

अपस्मार के निवारण के लिए प्राचीन आचार्य अभ्यङ्ग को भी बहुत उपयोगी मानते हैं। इसके लिए वे चार गुणा बकरे के मूत्र में सरसों के तेल को पकाकर सिद्ध होने पर प्रयोग करने का तथा गोबर और गोमूत्र का क्रमशः उबटन और स्नान में उपयोग का निर्देश करते हैं।[6] इसके अतिरिक्त वे काली तुलसी आदि पांच द्रव्यों को गोमूत्र में पीस कर उबटन लगाने का निर्देश देते हैं, क्योंकि इससे अपस्मार रोग दूर होता है।[7] इसी प्रकार उनके अनुसार कपिला गौ के मूत्र का नस्य लेने से भी अपस्मार रोग दूर होता है।[1] इसके अतिरिक्त भारंगी घोडवच और नागदन्ती अथवा अपराजिता सफेद

---

१. चरक चि० १० ।४–५
२. चरक चि० १० ।६–८
३. चरक चि० १० ।१४–१६, अ० हृदय उत्तर ७ ।१५–१७
४. चरक चि० १० ।१७, अ० हृ० उ० ७ ।१८–१६
५. चरक चि० १० ।२५ अ० हृ० उ० ७ ।२४–२५
६. चरक चि० १० ।३२
७. चरक चि० १० ।३६–४०

शतावरी अथवा मालकांगुनी और नागदोन को गोमूत्र में पीस कर नस्य लेने को वे अपस्मार रोग के लिए हितकर मानते हैं।[२]

पुष्य नक्षत्र में निकाल कर रखे गये कुत्ते के पित्त का आंख में अञ्जन लगाने से इसी पित्त को घृत में मिला कर धूप देने से भी अपस्मार दूर होता है।[३] नेवला, उल्लू, विलाव, गिद्ध, बिच्छू, कीट, सर्प और कौआ इन के मुख, चोंच, पंख, पुरीष इनमें जो प्राप्त हो उसकी धूप बनाकर प्रयोग करने (धूप देने) से अपस्मार रोग दूर भागता है।[४] महर्षि चरक का कहना है कि ऊपर कही गयी इन विधियों से अपस्मार रोग से आक्रान्त रोगी का हृदय मूर्च्छा से मुक्त होकर चेतन हो जाता है और मनोवाही स्रोतस् सभी निर्दोष हो जाते हैं। तदनन्तर रोगी पूर्ण संज्ञायुक्त हो जाता है।[५]

स्मरणीय है कि ये नस्य और अञ्जन अपस्मार रोगी को चेतना में लाने के लिए बताये गये हैं। वास्तविक चिकित्सा संशोधन और सिद्ध किये गये घृत का प्रयोग ही है।

प्राचीन आचार्यों के मत में अतत्त्वाभिनिवेश की प्राकृतिक चिकित्सा

अतत्त्वाभिनिवेश एक मानसिक रोग है। इस रोग से ग्रस्त रोगी की चेतना–शक्ति क्षीण हो जाती है। वह मूढ़ हो जाता है। अतएव वह व्यक्ति नित्य भावों अथवा अनित्य भावों की विवेचना नहीं कर पाता, हित और अहित का विवेक नहीं कर पाता अर्थात् उसकी बुद्धि विषम हो जाती है। वह भले को बुरा और बुरे को भला समझने लगता है। इसे महागद नाम से भी जाना जाता है।[६]

इस महागद् का कारण बहुधा मलिन और घृणास्पद आहार को ग्रहण करना, मल मूत्र आदि के वेगों को रोकना, अधिक शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आदि पदार्थों का अधिक सेवन करना आदि होता है। इससे कुपित हुए वात आदि दोष रजोगुण और तमोगुण मोह के साथ आत्मा को आवृत कर लेते हैं। साथ ही मनोवाहिनी एवं बुद्धिवाहिनी सिराओं में जाकर हृदय को दूषित कर देते हैं एवं बुद्धिवाही मनोवाही स्रोतों में अपना स्थान बना लेते हैं। इन बढ़े हुए दोषों तथा रजोगुण से जब मन और बुद्धि घिर जाते हैं, तब दोषों से घिरा हुआ हृदय घबड़ाने लगता है और मनुष्य मूढ़ हो जाता

---

१. चरक चि० १० ।४१

२. चरक चि० १० ।४२–४३

३. चरक चि० १० ।५०

४. चरक चि० १० ।५१

५. चरक चि० १० ।५२

६. चरक चि० १० ।५६–६०

है। इस स्थिति में अतत्त्व अर्थात् विपरीत ज्ञान का अभिनिवेश अर्थात् आग्रह होने से वह मनुष्य अतत्त्वाभिनिवेश रोग से ग्रस्त है, ऐसा कहा जाता है।[1]

इस रोग की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्यों ने केवल प्राकृतिक उपाय ही निर्दिष्ट किये हैं। इनमें सर्वप्रथम और सबसे मुख्य उपाय है संशोधन। जिनका विवरण संशोधन चिकित्सा शीर्षक पूर्व अध्याय में दिया गया है। संशोधन के अनन्तर वे पवित्र और बुद्धिवर्धक खान–पान से उपचार करने का निर्देश देते हैं।[2] खान–पान के क्रम में उनका परामर्श है कि या तो ब्राह्मी के स्वरस में सिद्ध करके अथवा पञ्चगव्य में सिद्ध करके ब्राह्मी घृत और पञ्चगव्य घृत तैयार कर लिया जाय और उसका सेवन करे अथवा शंखपुष्पी का किसी भी प्रकार प्रयोग करे। इनके अभाव में कोई भी बुद्धिवर्धक सुलभ वनस्पति का प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे पदार्थों में लहसुन के कल्क को तिल के तेल के साथ, शतावरी कल्क को दूध के साथ, ब्राह्मी का किसी भी रूप में (स्वरस, चूर्ण, शर्बत आदि के रूप में) मीठा कूठ का कल्क दूध के साथ तथा बालवच का चूर्ण मधु के साथ लेना उचित होता है।[3]

अतत्त्वाभिनिवेश रोग की चिकित्सा के प्रसंग में महर्षि चरक ने सबसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक उपाय यह बतलाया है कि रोगी के विश्वासपात्र प्रिय सुहृद् धर्मात्माजन रोगी के साथ वार्तालाप करके उसे ज्ञान–विज्ञान, धैर्य, स्मृति और चित्त की शान्ति से युक्त करें।[4]

प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उरःक्षत रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

उरःक्षत रोग में फेफड़ों में घाव हो जाते हैं। महर्षि चरक ने इसे क्षत क्षीण रोग कहा है। अतिसाहस पूर्ण कार्य करने, अतिशय स्त्री प्रसक्ति (विषयासक्ति, रति क्रिया), रूखा बहुत थोड़ा आहार लेने से उरः प्रदेश में पीड़ा होने लगती है, वक्षस्थल फट जाता है या उसके विभाग हो जाते हैं। उसके बाद दोनों पसलियों में दबाने में पीड़ा होती है। शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग सूखने लगते हैं, रोगी कांपने लगता है, उसका वीर्य, बल, वर्ण, भोजन के प्रति इच्छा तथा पाचक अग्नि क्षीण हो जाती है। ज्वर, शरीर में पीड़ा, मन में दीनता, अतिसार, पाचक अग्नि का नाश इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। इसके अनन्तर दूषित काले रंग का, दुर्गन्ध युक्त, कभी–कभी पीला गांठदार, अधिक मात्रा में रक्त सहित श्लेष्मा निकलने लगता है। तदनन्तर रोगी के शुक्र ओजस् का भी अतिशय क्षय

---

१. चरक चि० १० ।५७–५९

२. चरक चि० १० ।६५

३. चरक चि० १० ।६२,६४

४. चरक चि० १० ।६३

होता है। फलतः उसके जीवन का अन्त हो जाता है।[1]

प्राचीन आचार्यों ने इस भयानक उरः क्षत रोग के प्रत्येक स्थिति में सहज प्राकृतिक उपचार निर्दिष्ट किये हैं। यथा–

जब भी विदित हो कि किन्हीं कारणों से इस रोगी के उरःप्रदेश में क्षत हो गया है तो तत्काल दूध में मधु और लाक्षा चूर्ण मिलाकर उसे पीने को दें। जब उपर्युक्त पच जाये अर्थात् उसके डेढ़–दो घण्टे बाद दूध और शर्करा के साथ रोटी या भात का भोजन देना चाहिए।[2] अन्य नमकीन आहार दाल, साग, सब्जी आदि न दें। यदि पसलियों में पीड़ा का अनुभव हो, बस्ति प्रदेश में पीड़ा हो, रोगी के शरीर में पित्त एवं पाचकाग्नि की कमी प्रतीत हो तो लाक्षा चूर्ण को मद्य में मिला कर पिलाना चाहिए।

उरःक्षत के रोगी को अतिसार हो रहा हो तो नागरमोथा, अतीस, पाठा और कुटज की छाल का चूर्ण तथा लाक्षा चूर्ण जल के साथ देना चाहिए।[3]

उरः क्षत रोगी की पाचकाग्नि यदि ठीक हो तो लाख के चूर्ण के साथ मधु से निकला मोम (रासायनिक मोम नहीं) जीवनीय गण के सुलभ द्रव्य और वंशलोचन दूध में पकाकर चीनी या मधु मिलाकर रोगी को देना चाहिए।[4]

यदि दाह भी साथ में हो तो यव (जव) के आटे को घृत में भूनकर दूध में पूड़ी के रूप में या खीर के रूप में पकाकर खिलाना चाहिए अथवा जव का सत्तू शर्करा मधु और दूध के साथ देना चाहिए।[5]

यदि उरःक्षत के रोगी के थूक में बार–बार रक्त आता हो तो पुनर्नवा की जड़ और शालि चावल के चूर्ण को मुनक्का के रस दूध और घी में पकाकर चीनी मिलाकर खिलाना चाहिए[6] अथवा महुआ के फूल और मुलेठी को कूट पीस कर दूध में पका कर पिलाएँ।[7]

उरःक्षत का रोगी यदि अधिक कृश भी हो गया है तो प्राचीन आचार्यों का कहना है कि वह भुने हुए जव और गेहूं का आटा तथा जीवक और ऋषभक का चूर्ण इनको समान भाग चीनी और मधु के साथ खाये तथा गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध पिये, इससे वह शीघ्र ठीक हो जाता है।[8]

प्राचीन आचार्यों का मानना है कि उरःक्षत रोगी का सन्तर्पण आवश्यक है अर्थात्

---

१. चरक चि० ११।४–१२
२. चरक चि० ११।१५
३. चरक चि० ११।१६
४. चरक चि० ११।१७
५. चरक चि० ११.।१६
६. चरक चि० ११।२६
७. चरक चि० ११।२७
८. चरक चि० ११।२६

खाने पीने के प्रसंग में जिस वस्तु की वह इच्छा करता है, जो आहार शरीर की धातुओं के लिए तृप्तिदायी है, वह यदि सुपाच्य और अविदाही अर्थात् दाह उत्पन्न न करने वाला हो तथा सब प्रकार से हितकारी हो, वह अवश्य देना चाहिए। इसी प्रकार राजयक्ष्मा और रक्तपित्त के रोगियों के लिए जिस पथ्य का विधान किया गया है वह सभी आहार उरःक्षत के रोगी की जठराग्नि का विचार करते हुए देना चाहिए, किन्तु आहार के प्रसङ्ग में सावधानी पूर्वक इस बात का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उसे क्या आहार अनुकूल पड़ता है और क्या प्रतिकूल।[1]

प्राचीन आचार्यों द्वारा उरःक्षत रोग की चिकित्सा के प्रसंग में स्नेहन, स्वेदन पूर्वक पञ्चकर्म अर्थात् वमन, विरेचन और वस्ति द्वारा संशोधन एवं स्थानीय रूप से सुलभ वनस्पति आदि प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग शरीर को प्रकृतिस्थ करने के लिए किया जाता रहा है। विशेष परिस्थितियों में अथवा तथा उन दिनों भी विद्यमान भौतिकता प्रेमी अथवा सामान्य प्रतीत होने वाले प्रयोगों पर आस्था न रखने वाले लोगों के लिए उनके द्वारा भारी भरकम योगों का भी व्यवहार किया जाता था।

प्राचीन आचार्य एवं शोथ रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

शोथ अथवा शोफ रोग का अर्थ है—सूजन (Swelling) शरीर के किसी भाग का पृथु उन्नत अथवा ग्रथित होना। जब निज अथवा आगन्तुज कारणों से दूषित वायु बाहरी शिराओं में जा कर कफ, पित्त और रक्त को दूषित कर देता है, तो उन (कफ, पित्त, और रक्त) दोषों द्वारा उस वायु का मार्ग रुक जाता है और वह वायु उन दोषों को लेकर उसी स्थान पर उत्सेध (उभार) के लक्षण के साथ शोथ को उत्पन्न कर देता है।[2] सामान्यतः कारण के भेद से यह दो प्रकार का होता है—निज और आगन्तुज। निज, अर्थात् वात आदि दोषों से उत्पन्न के चार भेद हैं—वातज, पित्तज, श्लेष्मज और सन्निपातज। आश्रय भेद से भी यह दो प्रकार का है—सर्वाङ्गज और एकाङ्गज। आकृति भेद से इसके तीन प्रकार हैं। पृथु (चौड़ा या फैला हुआ), उन्नत तथा ग्रथित। कभी–कभी यह शोथ स्वतन्त्र रोग न होकर किसी दूसरे रोग में लक्षण विशेष के रूप में प्रकट होता है। जैसे पित्ताशय शोथ, उदरावरण शोथ, नासास्रोतः शोथ, गलग्रन्थि शोथ, फुफ्फुस शोथ, कासजनित फुफ्फुस शोथ, वृक्कशोथ, वृक्काशयशोथ, शीतजनित

---

१. चरक चि० ११।६३–६४

२. चरक चि० १२।८

शोथ, एलर्जीजनित मध्यकर्ण शोथ, पूययुक्त मध्यकर्ण शोथ, गलशोथ, कण्ठशोथ, चिरस्थायी भोजन प्रणाली का शोथ, हृदय जनित्र शोथ इत्यादि।

विविध रोगों के विशिष्ट लक्षण के रूप में प्रकट शोथ की चिकित्सा के लिए उन–उन रोगों की चिकित्सा आवश्यक होती है। निज अथवा आगन्तुज शोथ रोग की चिकित्सा प्राचीन आचार्य मुख्यतः संशोधन से करते हैं, जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है। इन आचार्यों का शोथ रोग की चिकित्सा के लिए यह सूत्र रहा है कि शोथ रोग यदि आमदोष के कारण हुआ है तो सर्वप्रथम लंघन तथा पाचन–चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। यदि शोथ का कारण वात आदि दोषों का अधिक बढ़ जाना है तो वमन, विरेचन और वस्तियों के द्वारा आरम्भ से ही संशोधन करना चाहिए। शोथ यदि शिरोभाग में हो तो शिरोविरेचनों का प्रयोग करना चाहिए। शरीर के निचले भाग में शोथ होने पर विरेचनों द्वारा, ऊपरी भाग में होने पर वमन द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। यदि शोथ का हेतु स्निग्ध पदार्थों का अधिक प्रयोग हो तो स्निग्ध आहार विहारों से उसकी चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। वातज शोथ में अथवा कोष्ठबद्धता भी होने पर निरूहण वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि पित्तज, वातज शोथ के कारण रोगी मूर्छा अरति (बेचैनी) दाह और प्यास से पीड़ित हो तो तिक्त द्रव्यों से सिद्ध किये हुए दूध में गोमूत्र मिला कर रोगी को पिलायें। कफज शोथ में क्षार कटु एवम् उष्ण द्रव्यों से युक्त गोमूत्र, तक्र, आसव, अरिष्ट आदि का प्रयोग कराते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।[1]

उपर्युक्त चिकित्सा सूत्र को आधार बनाकर चिकित्सा करते हुए प्राचीन आचार्य पूरक के रूप में कुछ स्थानीय और सहज प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग करना भी उचित मानते थे। यथा प्रायः सभी प्रकार के शोथ में हरीतकी, सोंठ और देवदारु समान भाग का चूर्ण कोष्ण पानी के साथ अथवा इन तीनों द्रव्यों के साथ पुनर्नवा को भी सम्मिलित कर पानी या गोमूत्र के साथ प्रयोग कराते थे। वे पथ्य के रूप में दूध भात खिलाते थे। कफज शोथ में गोमूत्र के साथ हरीतकी का वे प्रयोग करते थे।[2]वातज शोथ में वे पुनर्नवा की जड़ सोंठ और नागरमोथा अथवा अपामार्ग की जड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल समभाग ४ तोला लेकर सोलह गुना गो–दूध में पकाकर पिलाते थे। शोथ के साथ अतिसार रहने पर वे व्योष (त्रिकुट) और सौवर्चल (सोंचर नमक) मधु के साथ चटाकर मट्ठा पिलाने की व्यवस्था करते थे अथवा हरीतकी या सोंठ गुड़ में मिलाकर प्रयोग कराते थे।[1]

---

१. चरक चि० १२।१७–१६

२. चरक चि० १२।२१–२२

शोथ के साथ कब्ज होने पर गरम दूध अथवा यूष (सूप) के साथ एरण्ड का तेल देकर वे चिकित्सा करते थे तथा मन्दाग्नि अथवा भोजन के प्रति अरुचि रहने पर आसव अरिष्ट का प्रयोग करते थे।[२] प्रायः सभी प्रकार के शोथ में कफज में विशेषतः वे गुड़ के साथ अदरख का प्रयोग करते थे। उनके अनुसार इसके प्रयोग की विधि यह रही है कि ताजा अदरख छिलका रहित करके समान भाग गुड़ में पीस कर मिला लें। प्रथम दिन इस अवलेह को दो तोला, दूसरे दिन चार तोला, तीसरे दिन छः तोला इस प्रकार प्रतिदिन दो तोला बढ़ायें। यह मात्रा बीस तोला हो जाने पर इसी मात्रा में अर्थात् बीस तोला की मात्रा में प्रतिदिन एक मास तक प्रयोग करें। औषध पच जाने पर दूध यूष (दाल आदि का पानी) आदि से रोटी या भात खायें। गुड़ अदरख का यह प्रयोग वे केवल शोथ रोग में ही नहीं, गुल्म उदर रोग अर्श प्रमेह श्वास कास प्रतिश्याय, अलसक (गुम हैजा) अपच, कामला, शोष और मनोविकार में भी हितकर मानते हैं।[३] ताजे अदरख का स्वरस अथवा त्रिफला क्वाथ के साथ शिलाजतु का प्रयोग कराकर प्राचीन आचार्य त्रिदोषज शोथ की चिकित्सा करने की व्यवस्था देते हैं।[४]

चिकित्सा के क्रम में प्राचीन आचार्य प्राकृतिक चिकित्सा से इतने सहज रूप से जुड़े हुए थे कि वे कभी–कभी केवल आहार का भी रोग निवारण के लिए प्रयोग करते थे। शोथ रोग की चिकित्सा में प्रयुक्त पञ्चकोल यवागू, जीवन्त्यादि यवागू ऐसा ही आहार है। पञ्चकोल यवागू बनाने के लिए पञ्चकोल (अर्थात् पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक और सोंठ)[५] का क्वाथ करके उस क्वाथ में यवागू पकाते हैं और पुनः घृत तेल समान भाग लेकर छौंक लगाते हैं और वृक्षाम्ल के रस से खट्टा करके रुचिकर बनाते हुए रोगी को खिलाते हैं। इस यवागू को खाने से न केवल शोथ रोग की निवृत्ति होती है अपितु अर्श, अतिसार, वातगुल्म और हृदय रोगों का नाश होता है।[६]

जीवन्त्यादि यवागू बनाने के लिए जीवन्ती, जीरा, काला जीरा (या मंगरैला), कचूर, पुष्करमूल, चित्रक मूल, बेल की गूदी और जवाखार सभी द्रव्य एक बेर के बराबर अर्थात् आधा तोला लेकर कूट कर यथाविधि क्वाथ करें और छान कर उस क्वाथ में यवागू तैयार करें। इस यवागू में घृत और तिल का तेल समान मात्रा में लेकर छौंक लगायें तथा वृक्षाम्ल के रस से खट्टा करके रोगी को खाने को दें। इस यवागू को कुछ

---

१. चरक चि० १२।२३
२. चरक चि० १२।२७
३. चरक चि० १२।४७–४८
४. चरक चि० १२।४६
५. भावप्रकाश नि० १२।७१–७२
६. चरक चि० १२।६१

दिन नियमित रूप से खाने पर अर्श, अतिसार, वातगुल्म, शोथ और हृदय रोग दूर हो जाते हैं। अग्नि भी प्रदीप्त होती है।[१]

प्राचीन आचार्यों ने रोगी के आहार पर विशेष ध्यान रखा है और इसे पथ्य अर्थात् जीवन–यात्रा के लिए पथ में सहयोगी उपादान के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि उनका मानना है यदि रोगी को समुचित पथ्य मिल रहा है तो औषधि का बहुत महत्त्व (आवश्यकता) नहीं है और यदि समुचित पथ्य नहीं मिल रहा है तो औषधि देने का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि पथ्य के अभाव में रोगी के स्वस्थ होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

शोथ रोगियों के लिए महर्षि चरक निम्नलिखित पथ्य का विधान करते हैं। पिप्पली के कल्क से तैयार किया हुआ कुलथी का यूष व्योष अर्थात् सोंठ, मिर्च, पिप्पली और जवाखार का चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ यूष, शोथ रोगी के लिए पथ्य होता है। इसी प्रकार सुवर्चला अर्थात् हुरहुर गाजर परवल मकोय मूली वेतस् के अग्रभाग नीम की नवीन पत्तियाँ इनके शाक शोथ रोगी के लिए पथ्य होते हैं।[२] भैषज्यरत्नावली के लेखक के अनुसार "सेम, करेला, सहिजन की फली, खेखसा मानकन्द सौवर्चल (हुरहुर) गाजर परवल वेतस् का अग्रभाग बैंगन मूली पुनर्नवा के पत्ते चित्रक (चीता) फरहद गम्भारी नीम के पत्ते तालमखाना के कोमल पत्ते, पका हुआ आम, एरण्ड का तेल, कुटकी, हरड़, दूध, भिलावा, गुग्गुल, लोहभस्म, कटु एवं तिक्त रस प्रधान पदार्थ, दीपनीय द्रव्य, गौ, बकरा और भैंस का मूत्र, कस्तूरी, शिलाजतु आदि द्रव्य शोथ रोगियों के लिए पथ्य होते हैं"।[३]

प्राचीन आचार्यों ने शोथ रोग की चिकित्सा के लिए कुछ बाह्य प्राकृतिक उपचार भी बतलाये हैं। उनका मानना है कि अडूसा मदार करंज सहिजन गम्भारी और तुलसी के ताजे पत्ते (ताजे सुलभ न होने पर सूखे पत्तों) का क्वाथ करके छान कर सूर्य ताप से गरम किये हुए पानी में मिला कर उसमें ही बैठाकर पसीना आने तक सेक करें। पसीना आने पर उसी जल से स्नान कराकर अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करें। इससे शोथ में अतिशय लाभ होता है।[४] इसी प्रकार पित्तज शोथ में वेतस् एवं क्षीरी वृक्षों की छाल आदि द्रव्यों का कल्क सूर्य तप्त जल में मिला कर उससे स्नान का विधान इन आचार्यों ने किया है। सूर्य तप्त जल में दूध मिलाकर उसमें स्नान भी

---

१. चरक चि० १२।६०–६१
२. चरक चि० १२।६२–६३
३. भैषज्यरत्नावली चरक चन्द्रिका पृ० ४५५ से उद्धृत
४. चरक चि० १२।६७

पित्तज शोथ में लाभकर होता है। इस स्नान के अनन्तर चन्दन का लेप करने से लाभ और अधिक होता है।[१] इन दोनों प्रयोगों में सूर्य किरणों से तप्त जल का स्नान के लिए प्रयोग प्राचीन आचार्यों की प्राकृतिक चिकित्सा में गहरी पैठ और सूक्ष्म दृष्टि की सूचना देता है।

गलगण्ड और गण्डमाला में आचार्य चरक ने वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, पुराण घृत का पान, लंघन प्रघर्षण और कवल ग्रह द्वारा संशोधन आदि से चिकित्सा का विधान किया है औषधि प्रयोग से नहीं। संशोधन से रोग के निर्मूल न होने पर व्रण के समान शल्य चिकित्सा की आवश्यकता हो जाती है।[२] ऐसा तब होता है जब दोष चर्म भेदकर बाहर निकलने को उन्मुख हो।

गलगण्ड और गण्डमाला के समान उन्होंने ब्रध्न अर्थात् अण्ड वृद्धि में भी संशोधन–चिकित्सा को ही महत्त्व दिया है और इसके लिए विरेचन, अभ्यङ्ग, निरूह वस्ति और लेप का निर्देश किया है। उनके मत में दूसरा उपाय शल्य–चिकित्सा ही रहता है।[३]

प्राचीन आचार्यों द्वारां उदर रोग की प्राकृतिक चिकित्सा–

उदर रोग यह नाम रोग के आश्रय भूत स्थान के आधार पर किया गया नामकरण है। उदर प्रदेश में होने वाले अनेक रोग हैं। इस नाम से उन सबका ग्रहण हो जाता है। जिनके मुख सूख गये हैं, जो शरीर से कृश हैं, जिनके उदर तथा कुक्षि अर्थात् बड़ी आँत आध्मान युक्त हैं, जिनकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी है, जिनके शारीरिक बल का ह्रास हो गया है, शरीर में सामर्थ्य का अभाव है, वे दीन मनुष्य प्रतिक्रिया अर्थात् समुचित चिकित्सा के अभाव के कारण अनाथ की भाँति प्राण रूपी धन का नाश होते देख रहे हैं, उन्हें उदर रोगी समझना चाहिए।[४]

यद्यपि सामान्यतः सभी रोग जठराग्नि के दूषित होने तथा वात आदि दोषों की वृद्धि होने के कारण ही होते हैं, तथापि उदर रोगों में ये दो कारण ही रोग के आधार हुआ करते हैं। क्योंकि मलिन अथवा दोषों को उत्पन्न करने वाले आहारों का निरन्तर सेवन करने से अग्नि मन्द हो जाती है, फलतः ग्रहण किये हुए आहार का सम्यक् पाचन नहीं हो पाता। इसके परिणामस्वरूप उदर प्रदेश में दोषों का संचय होने लगता है। वह संचित दोष समूह प्राणवायु पाचक अग्नि और अपान वायु को विशेष रूप से दूषित

---

१. चरक चि० १२।६६
२. चरक चि० १२।७६–८०
३. चरक चि० १२।६४–६५
४. चरक चि० १३।५–६

करके उनके ऊपर और नीचे के मार्गों को रोक कर त्वचा और मांस के बीच में आकर कुक्षित प्रदेश में आध्मान अफारा उत्पन्न कर विविध उदर रोगों को उत्पन्न करता है।[१]

इस उदर रोग के मुख्य कारण अत्यन्त उष्ण लवण क्षार विदाहकारक आहार, अम्लरस, गर (विष) पदार्थों का भक्षण, वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर का संशोधन करने के बाद अनुचित रूप से संसर्जन (आहार सेवन) करना, रूक्ष, विरूद्ध, अपवित्र भोजन करना, प्लीहा, अर्श, ग्रहणी आदि द्वारा शरीर का कमजोर होना, वमन विरेचन आदि कर्मों को ठीक प्रकार से न करना, क्लिष्ट रोगों की उचित प्रकार से चिकित्सा न करना, रूक्षता अधारणीय वेगों को धारण करना, स्रोतों का दूषित होना, भोजन का भली भांति न पचना, संक्षोभ, अधिक आहार ग्रहण करना, अर्शाङ्कुर, मल का रुकना, आँत का फूटना या फटना, वात आदि दोषों का शरीर में अधिक संचय होना, पापकर्म करना एवं मन्दाग्नि का होना आदि हैं।[२]

उदर रोग होने पर कुक्षि में आध्मान, आटोप अर्थात् पीड़ा के साथ गुड़–गुड़ शब्द होना, हाथ पैरों में सूजन, अग्नि का मन्द होना, गण्डस्थल का चिकनापन, उदर के अतिरिक्त शेष शरीर में कृशता आदि लक्षण प्रकट होते हैं।[३]

सामान्यतः उदर रोग के आठ प्रकार हैं— वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर और जलोदर।[४] इन आठ रोगों में उत्तरोत्तर अधिक कष्ट साध्य होता है। वातोदर की चिकित्सा करना सरल है। वातोदर की अपेक्षा पित्तोदर, पित्तोदर की अपेक्षा कफोदर, कफोदर की अपेक्षा सन्निपातोदर, आठों उदर रोगों में जलोदर अधिक कष्ट साध्य होता है। जलोदर की चिकित्सा सभी उदर रोगों की अपेक्षा दुष्कर है। बद्ध गुदोदर रोग की समुचित चिकित्सा नही की गयी तो पन्द्रह दिन बाद ही मृत्यु का कारण बन जाता है। पेट में पानी आ जाने पर सभी उदररोग विशेषतः छिद्रान्त्रोदर और जलोदर रोगी का बचना कठिन होता है।[५]

इन उदर रोगों में वातोदर की चिकित्सा हेतु प्राचीन आचार्यों ने स्नेहन, स्वेदन, नित्य विरेचन करके संसर्जन एवम् उसके अनन्तर आस्थापन और अनुवासन वस्तियों के क्रम का सामान्य नियम निर्धारित किया है।[१] इन संशोधन व्यवस्था के लिए रोग के वर्गीकृत स्वरूप को पहचानने की भी आवश्यकता नहीं समझी गयी है। उदर रोगों में

---

१. चरक चि० १३।६–११
२. चरक चि० १३।१२–१५
३. चरक चि० १३।२१
४. चरक चि० १३।२२
५. चरक चि० १३।५०–५१

पित्तोदर एवं कफोदर होने पर उन्होंने अभ्यङ्ग, विविध द्रव्यों से दोनों प्रकार की वस्तियां विरेचन, वमन लङ्घन आदि द्वारा संशोधन प्रधान प्राकृतिक उपचारों की व्यवस्था दी है।[२] जिसका विस्तारपूर्वक विवरण संशोधन–चिकित्सा नामक पूर्व अध्याय किया गया है। सन्निपातोदर में तीनों दोषों के बढ़े होने के कारण तीनों ही व्यवस्थाओं का सम्मिलित उपचार किया जाता है।[३]

प्लीहोदर की चिकित्सा में भी प्रायः सभी आचार्यों ने स्नेहन, स्वेदन पूर्वक पंचकर्म विधि से संशोधन की व्यवस्था दी है।[४] इसकी चर्चा संशोधन–चिकित्सा शीर्षक पूर्व अध्याय में की गयी है। अन्य प्राकृतिक उपायों में प्राचीन आचार्यों ने कुछ काल तक केवल दूध आहार के रूप में प्रदान करने, प्लीहा पर वेर के पत्ते पीसकर तिल का तेल मिलाकर उपनाह करने तथा मूसल जैसी किसी वस्तु से दबाने का निर्देश दिया है। ऐसा करने से प्लीहोदर रोग दूर हो जाता है।[५] इसके अतिरिक्त पिप्पली का नियमित प्रयोग करने से गुड़ और हरीतकी का अथवा षट्पल घृत का प्रयोग करने से प्लीहोदर रोग से मुक्ति मिल जाती है, ऐसी उनकी मान्यता है।[६] इसी प्रकार रोहित वृक्ष के डण्ठल के छोटे–छोटे टुकड़े करके हरीतकी के साथ अथवा गोमूत्र में एक सप्ताह तक भीगा रहने दें। उसके बाद छान कर वह जल या गोमूत्र रोगी को पिलायें तो प्लीहोदर रोग ठीक हो जाता है। इसके प्रयोग से प्लीहोदर के अतिरिक्त कामला, वात गुल्म, प्रमेह, अर्श और उदर के सभी प्रकार के कृमि नष्ट हो जाते हैं।[७]

बद्धोदर में रोगी को सर्वप्रथम स्वेदन कराना चाहिए। उसको सेहुड का दूध आदि तीक्ष्ण विरेचक औषध, तिल का तेल नमक मिलाकर गोमूत्र प्रधान निरूह वस्ति और अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। तदनन्तर अनुलोमक आहार देकर आवश्यकता के अनुसार पुनः तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए।[८] इस रोग में प्राचीन आचार्यों ने प्राकृतिक चिकित्सा के मूल आधार संशोधन को ही एकमात्र रोग निवारण का उपाय माना है।

प्राचीन आचार्यों की मान्यता है कि सभी प्रकार के उदर रोगों मे दोषों के कारण

---

१. चरक चि० १३।५६–६७
२. चरक चि० १३।६८–७३
३. चरक चि० १३।७४
४. चरक चि० १३।७७
५. अ० हृदय चि० १३।६०–६१
६. चरक चि० १३।७८
७. चरक चि० १३।८१–८३
८. चरक चि० १३।८६–६०

जठराग्नि मन्द हो जाती है, अतः रोगी को सुपाच्य भोजन अग्निवर्धक उपस्कर के साथ देना चाहिए। जैसे—लाल चावल का भात, जौ की रोटी या दलिया, मूंग की दाल, दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, शीधु। ठोस भोजन लेने की इच्छा रहने पर पञ्चमूल से सिद्ध यवागू और भात, यूष अथवा रस के साथ खायें तथा उस यूष को हल्का खट्टा स्नेह एवं कटु पदार्थ के साथ भोजन करायें।[1]

बद्धोदर, छिद्रोदर और जलोदर के उपचार के लिए वाग्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने संशोधन का प्रथमतः निर्देश किया है। संशोधन से रोग का उन्मूलन न होने पर अन्य प्रयोग पर बल न देकर वे शल्य—चिकित्सा का परामर्श देते हैं। इन दोनों रोगों को वे याप्य मानते हैं।[2]

महर्षि चरक सभी आठों प्रकार के उदर रोगों में हरीतकी के चूर्ण को गोमूत्र के साथ सेवन करने और गौ के दूध का आहार लेने का सहज उपाय बतलाते हैं। उनका यह भी कहना है कि यदि उदर रोगी एक सप्ताह तक अन्न न ले एवं भैंसा का मूत्र पिए तो वह स्वस्थ हो जाता है अथवा एक मास तक ऊँट का, ऊँटनी या बकरी का दूध व्योष अर्थात् सोंठ, काली मिर्च और पीपल के साथ पिये अथवा दस से प्रारम्भ करके क्रमशः बढ़ाते हुए तथा पांच सौ पूर्ण होने पर क्रमशः घटाते हुए एक हजार पिप्पली का सेवन करे तथा केवल गोदुग्ध का आहार ले तो उदर रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। पिप्पली सेवन की इस विधि को वर्धमान पिप्पली योग कहते हैं। जिन स्थानों पर शिलाजीत अथवा गुग्गुलु उत्पन्न होता है वहाँ के रोगियों को शुद्ध करके इनका भी सेवन कराया जाना चाहिए तथा पथ्य के रूप में केवल गौ का दूध पिलाना चाहिए अथवा अदरख का रस समान भाग दूध मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा तिल के तेल को दस गुने अदरख के रस में सिद्ध करके उदर रोगी को उसकी पाचन—शक्ति देखकर पिलाना चाहिए। इनमें से कोई भी एक प्रयोग स्थानीय सुलभता के अनुसार किया जाये तो उदर रोग पूर्णतया दूर हो जाता है।[3]

वातोदर के रोगी को निशोथ, मीठे सहिजन का अथवा मूली के बीज के तेल का अभ्यंग और पान दोनों में प्रयोग करना चाहिए। इनमें किसी एक का भी प्रयोग करने से रोगी स्वस्थ हो जाता है।[4] साठी के चावल को गोमूत्र की सात भावना दें, उस चावल से विधिपूर्वक यवागू बनाकर उदर रोगी को पर्याप्त मात्रा में खिलायें तथा भोजन के बाद गन्ने का रस पिलायें। इस प्रयोग से वातोदर, पित्तोदर, और कफोदर तीनों उदर

---

१. चरक चि० १३।६६—६६
२. अष्टांग हृ० चि० १५।१०१—१०३,१०७
३. चरक चि० १३।१५१—१५४
४. चरक चि० १३।१५५—१५६

रोग दूर हो जाते हैं।[1]

यदि उदर रोगी का मल सूख गया है और गांठ–गांठ बना हुआ मल कठिनाई से निकलता है, तो प्राचीन आचार्यों के अनुसार शंखिनी (यवतिक्ता) सेहुण्ड, निशोथ, जमाल गोटा, करञ्ज आदि विरेचक वनस्पतियों का शाक भोजन से पूर्व खाने को दें इस प्रयोग से मल के ढीला हो जाने पर दूध और गोमूत्र समान भाग मिलाकर रोगी को देने से उदर रोग दूर हो जाता है।[2] वात और पित्त द्वारा कफ के आवृत रहने पर अन्य निर्दिष्ट उपचारों के साथ एरण्ड का तेल पीने को देना बहुत लाभकर होता है। फिर भी यदि रोग शान्त नहीं होता, रोगी का आध्मान बना रहता है तो उसे अम्ल और लवण युक्त अथवा तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों, क्षार तथा गोमूत्र द्वारा वस्ति करानी चाहिए। इससे लाभ अवश्य होता है।[3]

सर्पों से आकीर्ण वनवासी जनों के लिए महर्षि चरक ने एक और विचित्र उदर रोग दूर करने का उपाय बतलाया है। कभी–कभी पक्षी आदि द्वारा तंग किये जाने पर सर्प किसी भी वस्तु फल आदि को काट लेता है। ऐसे सर्प द्वारा डंसा हुआ फल प्राकृतिक चिकित्सक अपनी देख रेख में खिलाये। शरीर में चिरकाल से स्थिर और लीन दोष समूह इस सर्प विष की आशुकारिता तथा प्रमाथी गुण के कारण परस्पर विघटित होकर बाहर निकल जाता है। दोषों के बाहर निकल जाने पर रोगी को शीतल जल से स्नान कराये और उसके बाद उसकी पाचन–शक्ति को ध्यान में रखकर दूध अथवा यवागू खिलायें। पथ्य में उसे उसकी पाचन–शक्ति का ध्यान रखते हुए उस दिन दूध अथवा यवागू का सेवन करायें, अन्य किसी प्रकार का अन्न खाने को नहीं दें। इसके अनन्तर एक मास पर्यन्त निशोथ, मण्डूकपर्णी, जौ, बथुवा या मरसा की पत्तियों का शाक, इसके ही रस में पकाकार बिना घृत तेल या नमक डाले उसे खिलायें। प्यास लगने पर इनका रस ही पीने को दें। इससे एक मास में रोगी के वात आदि दोष और विष का प्रभाव समाप्त हो जाने पर रोगी की निर्बलता दूर करने के लिए ऊँटनी का दूध पीने को दें।[4]

उदर रोगों की उपचार की सभी विधियाँ प्राकृत उपचार की श्रेणी में ही आती हैं तथा नगर, ग्राम, वन आदि में जहाँ भी रोगी एवं चिकित्सक निवास कर रहा है वहाँ द्रव्यविशेष की उपलब्धि के अनुसार उसे चिकित्सा लेने अथवा देने के प्रबन्ध में बिना किसी विशेषज्ञता के असुविधा न होगी। जलोदर रोग को प्राचीन आचार्यों ने शल्य

---

१. चरक चि० १३।१६५–१६७
२. चरक चि० १३।१६७–१६६
३. चरक चि० १३।१७२–१७५
४. चरक चि० १३।१७८–१८४

चिकित्सा द्वारा साध्य माना है। उसमें शल्य चिकित्सा के अनन्तर महर्षि चरक ने जो एक वर्ष के लिए आहार–व्यवस्था दी है, वह भी प्राकृतिक चिकित्सा व्यवस्था के अनुरूप ही है। उसके अनुसार शल्य–चिकित्सा से जल तथा वात आदि दोषों के निकल जाने पर रोगी को लंघन कराने के बाद जब भूख लगे तो घी, तेल, नमक रहित पेया पिलानी चाहिए। उसके बाद छह मास तक केवल दूध पीकर रहे अर्थात् भूख और प्यास की शान्ति रोगी दूध पीकर ही करे। छह मास बीत जाने पर पुनः तीन मास तक दूध के साथ पेया का सेवन करें। नौ मास बीत जाने पर नमक का परित्याग करते हुए सांवा, कोदों का भात दूध के साथ अल्पमात्रा में लें। इस प्रकार आचरण करता हुआ रोगी पुरुष एक वर्ष में जलोदर रोग को जीत लेता है। उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक प्रयोग के बाद उदर रोगी को कुछ दिनों तक गौ के दूध का प्रयोग कराना चाहिए।[१]

प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अर्श रोग की प्राकृतिक चिकित्सा–

विषम आहार–विहार के कारण वात पित्त और कफ के कुपित होने से अग्नि के मन्द हो जाने पर मल के अतिसंचित हो जाने से तथा अतिमैथुन, सवारी के विक्षोभ, विषम कठिन और उत्कट आसन, वस्ति–नेत्र, पत्थर मिट्टी के ढेले, भूमि पृष्ठ तथा वस्त्र आदि की रगड़ से, अतिशय शीतल जल के स्पर्श से निरन्तर अतिप्रवहण से, वायु, मूत्र एवं पुरीष के वेग को रोकने अथवा इनको हठात् प्रेरित करने से ज्वर, गुल्म, अतिसार, आम, ग्रहणी, शोफ और पाण्डु रोग के कारण कृश होने से, विषम चेष्टाओं से तथा स्त्रियों में आम गर्भ के प्रपतन से गर्भ वृद्धि के दबाव से तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से कुपित अपान वायु मल को गुदा की वलियों में रोक देती है। इससे वलियां प्रक्लिन्न हो जाती हैं और उनमें अर्शाङ्कुरों की उत्पत्ति हो जाती है।[२] ये अर्शाङ्कुर मासाङ्कुर होते हैं जो गुदामार्ग का अवरोध कर शत्रु की भाँति पीड़ा देते हैं। इसी कारण इनको अर्श कहा जाता है।

अरिवत्प्राणिनो मासं कीलका विशसन्ति यत् अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः।।[३]

अन्य रोगों की भाँति अर्शरोग में भी प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने संशोधन–चिकित्सा को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।[४] जिसकी विस्तारपूर्वक चर्चा संशोधन–चिकित्सा शीर्षक पूर्व अध्याय में की गई है। इन आचार्यों ने जो औषध प्रयोग का विधान किया है वह

---

१. चरक चि० १३।१९०–१९३
२. अ० हृ० नि० ७।१०–१५
३. अ० हृ० नि० ७।१
४.(क) सुश्रुत चि० ६।७ (ख) सुश्रुत चि० ६।१६(ग) अ० हृ० चि० ८।१६–१७
(घ) चरक चि० १४।५८–६०

प्राकृतिक चिकित्सा रूप ही है। उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ प्रयोग द्रष्टव्य हैं–

अतिसार युक्त अर्श में कोई भी पाचक चूर्ण अथवा भोजन से पूर्व गुड़–हरीतकी २–२ माशा का प्रयोग रोगी को करायें।[१]

सफेद निशोथ २ माशा, त्रिफला क्वाथ १ छटांक में मिलाकर अर्श रोगी को पिलायें, इससे अर्श मूल से नष्ट हो जायेगा।[२]

हरीतकी (२ माशा), गुड़ (२ माशा), गोमूत्र में रात्रि में भिगो दें, प्रातः पिलाएं अथवा हरड़ के चूर्ण को मट्ठा के साथ सेवन करायें अथवा सोंठ और चित्रक (चीते) की जड़ का चूर्ण सीधु के साथ प्रयोग करायें अथवा त्रिफला का चूर्ण मट्ठा के साथ सेवन करायें अथवा जीरा चव्य चित्रक (चीते की जड़) सीधु के साथ पिलाएं अथवा पाठा हाऊवेर का चूर्ण सोंचर नमक मिलाकर सुरा के साथ पिलायें अथवा कैथ और बेल की गूदी का चूर्ण समान भाग सुरा के साथ पिलायें अथवा कैथ और बेल की गूदी का चूर्ण समान भाग सुरा के साथ दें अथवा चव्य और चित्रमूल के चूर्ण को सुरा के साथ दें[३] अथवा शुद्ध भिलावा चूर्ण के साथ मट्ठा के द्वारा तर्पण करायें अथवा बेलगिरी और सोंठ के चूर्ण को अजवाइन और चित्रकमूल क्वाथ के साथ दें अथवा चित्रक की जड़ हाऊवेर घी में भुनी हींग समान भाग चूर्ण बनाकर मट्ठा के साथ सेवन करायें अथवा पञ्चकोल (परस्पर समान मात्रा) ढाई तोला मट्ठा में घोलकर पिलाएं[४] अथवा चीते की जड़ पीस कर मिट्टी के घड़े में अन्दर लीपकर सुखा दें एवम् उसमें दही जमा दें। उस दही को अथवा मथ कर मट्ठा बनाकर अर्श रोगी को उसका सेवन करायें। इससे अर्श रोग दूर हो जायेगा। स्मरणीय है कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार वातज और कफज अर्श रोग के लिए तक्र मट्ठा से श्रेष्ठ दूसरी औषध नहीं है। उसका घृत सहित अथवा घृत रहित प्रयोग सात दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक रोगी की स्थिति के अनुसार कराना चाहिए।[५]

तक्र प्रयोग के सम्बन्ध में महर्षि चरक का कहना है कि जिन अर्श रोगियों की जठराग्नि अत्यन्त मन्द हो गयी है उन रोगियों को स्नेह रहित मट्ठा का प्रयोग कराना चाहिए अथवा सायंकाल के समय धान के लाजा (लाई) का सत्तू बनाकर मट्ठा में डालकर अवलेह जैसा बनाकर चाटने को दें। जब वह अवलेहिका पचने लग जाए तब मट्ठा के साथ धान के लावा की पेया बना कर पिलाएं। इसके साथ मक्खन सहित मट्ठा पीने के लिए दें। जब वह भी पचने लगे तब मट्ठा के साथ मूंग का यूष (सूप)

---

१. चरक चि० १४।६५

२. चरक चि० १४।६६

३. चरक चि० १४।६७–७०

४. चरक चि० १४।७१

५. चरक चि० १४।७६–७८

दें अथवा यूष और रस से पहले चावल पकाकर मट्ठा में पुनः पकाकर खाने को दें।

इस तक्र प्रयोग के क्रम में काल क्रम को जानने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह सहसा तक्र का प्रयोग बन्द न करे। अर्श रोगी को कम से कम एक मास तक किसी न किसी प्रकार मट्ठा का सेवन कराते रहें। तीस दिन (एक मास) पूरा होने के बाद तक्र प्रयोग को धीरे–धीरे घटाना चाहिए। जैसे–जैसे रोगी के आहार में अन्न की मात्रा बढ़ाएँ, वैसे–वैसे तक्र की मात्रा धीरे–धीरे कम करें। इस तक्र प्रयोग में पहले सम्पूर्णतया मक्खन निकाला हुआ मट्ठा प्रयोग में लाएँ, फिर आधा मक्खन निकला और फिर बिना मक्खन निकला। तक्र के द्वारा नष्ट हुए तृणाङ्कुर जिस प्रकार पुनः नहीं पनपते, उसी प्रकार तक्र से नष्ट हुए अर्शाङ्कुर फिर दुबारा नहीं पनप पाते। तक्र द्वारा जब शरीर के स्रोत शुद्ध हो जाते हैं तो उनमें भली प्रकार रस का संचार होने लगता है, इसके फलस्वरूप शरीर पुष्ट होता है, बल में वृद्धि होती है, शरीर दुःख रहित हो जाता है। शरीरगत सभी अस्सी प्रकार के वात रोग और सभी बीस प्रकार के कफ रोग[१] नष्ट हो जाते हैं।[२]

तक्र–प्रयोग के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने प्राकृतिक उपादानों का उपयोग करते हुए अनेक प्रकार की स्वादिष्ट यवागू और यूष आदि बनाकर उसे आहार के माध्यम से चिकित्सा करने का विधान किया है। उनका कहना है कि कचूर और पलाश के बीज के काढ़े में अथवा पिप्पली और सोंठ के काढ़े में तैयार की गयी यवागू में खट्टा मट्ठा और काली मिर्च डालकर अर्श पीड़ित को खिलाने से अर्श रोग दूर हो जाता है।[३] इसी प्रकार सूखी मूली अथवा कुलथी की दाल अथवा कैथ और बेल की गूदी अथवा कुलथी और मोठ के यूष बनाकर अनार के रस से खट्टा करके मट्ठे के साथ अर्श रोगी को देना चाहिए।[४] इन अर्श रोगियों को लाल चावल, बासमती चावल, कलम धान के (जड़हन) चावल लांगल (जंगली) चावल, तिन्नी के चावल, साठी चावल का भात या खिचड़ी आदि आहार के रूप में देनां चाहिए।[५]

यदि अर्श रोगी को विबन्ध (कब्ज) अधिक रहता हो, सूखी मल की गाँठों के रूप में कष्ट से मल आता हो तो उन्हें सोंठ का चूर्ण, राब और घी मिलाकर सत्तू खाने को देना चाहिए। थोड़ा नमक भी डालें। गौ के घृत में जवाखार और गुड़ मिला कर चाटने को दें तो अर्श रोग शीघ्र मिट जाता है। इसी प्रकार खट्टे अनार के रस में सोंठ तथा पाठा का चूर्ण और गुड़ मिलाकर रोगी को देना चाहिए।[६] जवासा और पाठा बेल की गूदी और पाठा, अजवाइन और पाठा अथवा सोंठ और पाठा में से किसी भी एक योग

---

१. चरक सू० २०।१०–११,१७

२. चरक चि० १४।७६–८८

३. चरक चि० १४।६२

४. चरक चि० १४।६३–६४

५. चरक चि० १४।६५

६. चरक चि० १४।६७, ६८

का प्रयोग करने से अर्श की पीड़ा दूर हो जाती है। करञ्ज के पत्ते समान भाग घृत और तेल में भून कर उसके साथ सत्तू खाने हेतु रोगी को दें। इसके प्रयोग से विबन्ध प्रधान अर्श दूर हो जाता है।[१] जो जन मदिरा पीने के अभ्यासी हैं उनके अर्श रोग की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य तीन उपायों का निर्देश करते हैं–सोंठ का चूर्ण, सेंधा नमक और गुड़ मिलाकर भोजन से पूर्व सीधु अथवा सौवीरक के साथ सेवन करायें इससे अर्श रोग से छुटकारा हो जायेगा।[२]

इसी प्रकार चव्य और चित्रक के क्वाथ में गोघृत सिद्ध करके उसमें गुड़ और जवाखार मिलाकर मात्रा के अनुसार प्रयोग कराकर प्राचीन आचार्य अर्श रोग की चिकित्सा करते रहे हैं। पिप्पलीमूल (पिपरा मूल) से सिद्ध घृत गुड़ जवाखार और सोंठ के साथ खाने से भी अर्श रोग दूर होता है।[३] इसके अतिरिक्त गाय के घृत में भुनी हुई हरीतकी को पिप्पली चूर्ण और गुड़ के साथ अथवा निशोथ एवं दन्ती मूल के चूर्ण के साथ लेने से अपान वायु का अनुलोमन एवम् अग्निदीपन होकर अर्श रोग दूर हो जाता है।[४]

मट्ठा (तक्र) तुषोदक दही का पानी पकाया हुआ शीतल जल अरिष्ट मदिरा, सीधु, शर्करा से निर्मित सिरका, कण्टकारी का क्वाथ, सोंठ और धनिया का क्वाथ ये सभी मल और वात का अनुलोमन करते हैं। अनुपान के रूप में इनमें किसी का भी प्रयोग अर्श रोग की चिकित्सा में सहायक है।[५]

खूनी बवासीर में अधिक रक्तस्राव और पीड़ा होने पर आचार्य घृत प्रयोग का निर्देश करते हैं।[६] प्याज का शाक पकाकर मट्ठा के साथ अथवा पोयका शाक खट्टे बेरों के साथ पकाकर मट्ठा के साथ अथवा मसूर की दाल में मट्ठा मिलाकर देने से रक्तस्राव बन्द होता है।[७] अनार के रस में गाय का घृत और जवाखार मिलाकर पीने से अथवा छोटी कटेली भटकटैया और दुग्धिका के काढ़े में गाय का घृत मिलाकर पीने से रक्तार्श और उसका शूल मिट जाता है।[८] रक्तार्श के साथ वात दोष होने पर प्राचीन आचार्य सर खड्यूष और यवागू का सेवन करने से अथवा केवल प्याज का सेवन करने का निर्देश करते हैं इससे अतिशय लाभ होता है।[९] मक्खन के साथ काले तिल खाने

१. चरक चि० १४ ।१००,१०१

२. चरक चि० १४ ।१०३

३. चरक चि० १४ ।१०५

४. चरक चि० १४ ।११६–१२०

५. चरक चि० १४ ।१२८–१२६

६. चरक चि० १४ ।१६६

७. चरक चि० १४ ।२०४

८. चरक चि० १४ ।१६८

६. चरक चि० १४ ।२०८

से अथवा नागकेसर का चूर्ण मक्खन और शर्करा के साथ अथवा दही की मलाई (सर) रहित मथित दही का कुछ दिनों तक नियमित सेवन करने से रक्तज अर्श दूर हो जाता है।[1]

प्राचीन आचार्य अर्श रोग में अनेक सहज प्राकृतिक बाह्य प्रयोगों का भी निर्देश करते हैं। निदर्शन के रूप में कुछ नीचे अंकित हैं – रक्तार्श में केले की कोमल पत्तियाँ अथवा कमल की कोमल पत्तियाँ अथवा नील कमल की कोमल पत्तियाँ गुद प्रदेश पर बाँधनी चाहिए और ये शीघ्र सूखे नहीं इसके लिए बीच–बीच में उन पर जल भी छिड़कना चाहिए। इसी प्रकार दूब का स्वरस गाय के घृत में भली प्रकार लगाने से अथवा शतधौत और सहस्रधौत घृत का गुदाङ्कुरों पर लेप करके हवा करने से भी तत्काल लाभ मिलता है।[2]

अर्श रोग में गुदप्रदेश में दाह क्लेद (गीलापन) और गुदभ्रंश होने पर अर्शांकुरों पर मजीठ–मुलेठी अथवा काला तिल और मुलेठी अथवा रसौत का चूर्ण और गोघृत अथवा सर्जरस अर्थात् राल का चूर्ण और गाय का घृत अथवा नीम की पत्ती का रस एवं गोघृत अथवा मधु और गोघृत, दारु हल्दी का चूर्ण और गोघृत लाल और सफेद चन्दन गोघृत मिलाकर लेप लगाने से रक्तातिसार का शमन होता है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य विज्ञान के प्राचीन आचार्य अन्य सामान्य और जटिल रोगों के समान ही सर्वविध अर्श रोगों की चिकित्सा के प्रसंग में संशोधन उपायों को करते हुए अन्य आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के सहज प्राकृतिक उपायों का भी अवलम्बन करते थे। उनका प्रयत्न होता था कि जहाँ तक सम्भव हो स्वास्थ्य लाभ अथवा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अधिकाधिक प्राकृतिक उपायों का ही अवलम्बन किया जाये।

प्राचीन आचार्यों द्वारा ग्रहणी रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

पित्तधरा नामक छठी कला जो पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित रहती है, को ग्रहणी कहते हैं।[4] यह ग्रहणी पाचक अग्नि का अधिष्ठान है। खाये हुए अन्न को

---

१. चरक चि० १४।२१०

२. चरक चि० १४।२१८– २१९

३. चरक चि० १४।२२०– २२१

४. सुश्रुत उ० ४०।१६६

ग्रहण करने के कारण इस स्थान का नाम ग्रहणी अर्थात् ग्रहण करने वाली पड़ा है। यह कोष्ठ के अन्तर्गत नाभि के ऊपरी स्थान में अग्नि के बल का सहारा पाकर पुष्ट होती है। स्वस्थ स्थिति में वह खाये हुए अपक्व अन्न को पचाने के लिए धारण करती है और पक्व अन्न को बगल से आगे की ओर ढकेल देती है। अग्नि के दुर्बल पड़ जाने से जब ग्रहणी दूषित हो जाती है, तब वह जठराग्नि के द्वारा बिना पचे हुए अन्न को ही निकाल देती है अथवा ग्रहणी से कभी पका कभी कच्चा वेदना युक्त दुर्गन्धयुक्त कभी बँधा हुआ कभी द्रव रूप में मल प्रवाहित होता है। इसे ही ग्रहणी रोग कहते हैं।[१]

इस रोग का मूल कारण जठराग्नि का मन्द पड़ना है। वस्तुतः मनुष्य की आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीर की वृद्धि, कान्ति, ओज, तेज, अग्नियाँ तथा प्राण ये सभी देह में स्थित पाचक अग्नि के सम होने पर ही अपनी उत्तम स्थिति में बने रहते हैं। यदि वह जठराग्नि शान्त हो जाती है तो मनुष्य मर जाता है। उसके ठीक चलते रहने पर वह चिरकाल तक नीरोग रह कर जीवित रहता है और उसके विकृत अर्थात् मन्द हो जाने पर अथवा अतितीव्र हो जाने पर वह रोगी हो जाता है। इसलिए इस अग्नि को ही जीवन का मूल कहा जा सकता है।[२] देह को धारण करने वाले रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र सातों धातुओं का पाचन अग्नि के द्वारा ही सम्पन्न होता है। यह परिपाक रस और किट्ट के रूप में होता है। रसात्मक परिपाक के क्रम में ही उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण होता है।[३] खाया हुआ अन्न जठराग्नि से जब पच जाता है तो उसका सार भाग रस बन जाता है और किट्ट भाग मूत्र पुरीष के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। रस का परिपाक होने और रंजक पित्त मिलने से उसका सार भाग रक्त बन जाता है और किट्ट भाग कफ बनता है जो ऊर्ध्व और अधोभाग से बाहर निकलता रहता है। रक्त का पाचन होने पर उसका सार भाग मांस बनता है और किट्ट भाग पित्त बन जाता है। मांस का अग्नि से पाचन होने पर सार भाग मेदस् के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है और किट्ट भाग कान आदि के मैल के रूप में बाहर निकलता है। मेदस् का परिपाक होने पर उसका सार भाग हड्डी के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है और किट्ट भाग पसीने के रूप में बाहर निकलता है। हड्डियों का पाचन होने पर उसका सार भाग तरल मज्जा बनता है और किट्ट भाग केश लोम के रूप में

---

१. (क) चरक चि० १५।५६–५८ (ख) सुश्रुत उ० ४।१७१–१७२

२. चरक चि० १५।३–४

३. चरक चि० १५।१५

शरीर से निकलता है। मज्जा का पाचन होने पर सार भाग शुक्र के रूप में परिवर्त्तित होता है और किट्ट भाग त्वचा का स्नेह और आँखों से कीचड़ के रूप में बाहर निकलता रहता है। शुक्र एक ओर स्त्री के रजस् से मिल कर गर्भ का कारण बनता है और दूसरी ओर ओजस् के रूप में परिवर्त्तित होता है। इसके अतिरिक्त रस से दूध, दूध से रक्त, रक्त से कण्डरा और सिराएं, मांस से वसा (चर्बी) और छह प्रकार की त्वचाएं तथा मेदस् से स्नायुओं की भी उत्पत्ति होती है।[१]

अन्न से पाक होकर रस से शुक्र धातु पर्यन्त के निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के मूल में अग्नि ही रहा करती है। किन्तु प्रत्येक धातु और उपधातु का पाचन करने वाली अग्नि स्थान भेद से भिन्न–भिन्न मानी जाती है और उनकी कुल संख्या तेरह है। इन तेरह अग्नियों में आहार द्रव्य का पाचन करने वाली जठराग्नि सबमें प्रधान है। इसलिए इसे सब अग्नियों का राजा कह सकते हैं। इसकी वृद्धि होने पर सभी अग्नियों की वृद्धि और इसका ह्रास होने पर सभी का ह्रास हुआ करता है। इस अग्नि की स्थिति के अनुसार ही किसी भी प्राणी की आयु और बल की स्थिति हुआ करती है। इसलिए स्वास्थ्य विज्ञान के आचार्य मनीषियों द्वारा बतलायी गयी विधि के अनुसार इस पाचक अग्नि की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए।[२]

भोजन का सर्वथा परित्याग करने, अजीर्ण होने पर भी भोजन कर लेने, अति भोजन करने, विषम अथवा असात्म्य भोजन करने, गरिष्ठ भोजन करने, अतिशीत, अतिरुक्ष तथा दूषित आहारों का सेवन करने, विरेचन वमन स्नेहपान के अतियोग से उत्पन्न विकार रोगजन्य कृशता, देश काल और ऋतु की विषमता तथा मूत्र पुरीष आदि अधारणीय वेगों को रोकने से पाचक अग्नि दूषित हो जाती है। उस स्थिति में वह अग्नि थोड़े अन्न को भी भली भांति नहीं पचा सकती। इस स्थिति में बिना पचा हुआ अन्न अम्ल होकर विष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार ईर्ष्या, भय, क्रोध, दैन्य आदि से पीड़ित व्यक्ति की अग्नि इतनी मन्द हो जाती है कि वह कुछ भी पचा नहीं पाती एवं शरीर में विष की सृष्टि करती रहती है।[३] इस स्थिति में दुर्बल अग्नि द्वारा विदग्ध होकर पका हुआ अथवा कच्चा आहार अधोमार्ग से निकलता है, इस रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं।[४] स्मरणीय है कि स्थिति के आधार पर अग्नियां चार प्रकार

---

१. चरक चि० १५।१६–१६

२. चरक चि० १५।३६–४०

३.(क) चरक चि० १५।४२–४४ (ख) माधव निदान ६।७–८
(ग) चरक वि० २।६ (घ) सुश्रुत उ० ४०।१६६–१६७

४. चरक चि० १५।५२

की हैं–विषमाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, मन्दाग्नि या दुर्बलाग्नि तथा समाग्नि। जो अग्नि कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द हो जाती है उसे विषमाग्नि कहते हैं। यह अग्नि (विषमाग्नि) खाये हुए आहार का विषम रूप से पाक करके वात आदि दोषों और रस आदि धातुओं में विषमता उत्पन्न कर देती है। तीक्ष्ण अग्नि अति तीव्र अग्नि को कहते हैं, इस अग्नि को यदि आहार रूपी ईन्धन पर्याप्त मात्रा में न मिले, कम मिले या न मिले तो वह रस आदि धातुओं को विशेष रूप से सुखा देती है। दुर्बल अर्थात् मन्द पड़ गयी अग्नि को दुर्बलाग्नि या मन्दाग्नि कहते हैं। अग्नि के दुर्बल पड़ जाने से अन्न का पाचन नहीं होता। ग्रहणी दूषित हो जाती हैं। तब वह विदग्ध कच्चे या पके आहार को बाहर निकालती है। समाग्नि इन तीनों से भिन्न होती है जब आहार का नियमित रूप से समुचित पाचन होता है। रस आदि धातुओं का शोषण भी नहीं होता है।[१] अग्नि के सम रहने पर ही कोई व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ रह सकता है।

यह ग्रहणी रोग कुपित दोष विशेष की प्रधानता के आधार पर चार प्रकार का हो सकता है– वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज।[२] प्राचीन आचार्यों ने अन्य रोगों की भांति ही ग्रहणी रोग में भी दीपन के साथ चिकित्सा का मुख्य आधार संशोधन ही माना है।[३] जिसका विवरण पूर्व अध्याय में दिया गया है। संशोधन के अनन्तर अग्नि को प्रकृतिस्थ करने के लिए प्रकृति प्रदत्त भोज्य पदार्थों का यथोचित निर्देश इस प्रकार किया है।

वातज ग्रहणी के रोगियों का निरूहण विरेचन और अनुवासन कराने के पश्चात् लघु अन्नों द्वारा तैयार की हुए पेयाओं को पिलाते हुए अग्नि बल का विचार करके थोड़ा–थोड़ा घृत बारम्बार पिलाएं।[४]

ग्रहणी में आमदोष प्रधान हो और उसके कारण कब्ज (मल का रुकना) मुख से लार टपकना, पेट में जलन, अरुचि तथा शरीर में भारीपन आदि का अनुभव हो तो रोगी को गुनगुना पानी पिलाएं अथवा मैनफल के काढ़े में पिप्पली और सरसों का चूर्ण मिलाकर दें।[५] आम दोषों के पाचन के लिए प्राचीन आचार्य सोंठ, अतीस और नागरमोथा का काढ़ा या चूर्ण अथवा केवल सोंठ या हरीतकी के चूर्ण का गरम पानी के साथ प्रयोग कराते रहे हैं।[६]

---

१. चरक चि० १५।५०–५१

२. चरक चि० १५।५८

३. चरक चि० १५।७८–८०

४. चरक चि० १५।८१

५. चरक चि० १५।७३–७४

६. चरक चि० १५।६८

ग्रहणी रोग में यदि वमन भी हो रहा हो तो काली मिर्च, जीरा और काला नमक इन प्राकृतिक सर्वसुलभ भोजन के उपादानों (मसालों) के साथ हरड़ का चूर्ण मिला कर गरम पानी के साथ प्राचीन आचार्य प्रयोग करते रहे हैं। इनका प्रयोग वे अर्श और ग्रन्थि शूल को दूर करने के लिए भी करते रहे हैं।[1]

इनके अतिरिक्त सभी प्रकार की ग्रहणी की चिकित्सा में प्राचीन आचार्य पंचकोल मिश्रित मूंग की दाल का, काली मिर्च डालकर बनाये गये मूली के यूष (सूप) का और अनार और तक्र मिलाकर भात के भोजन के साथ प्रयोग करने और उसके बाद मट्ठा और कांजी पीने का निर्देश देते हैं।[2]

प्राचीन आचार्य ग्रहणी पीड़ित लोगों के लिए तक्र को अमृत मानते हैं। तक्र का अभीष्ट मात्रा में प्रयोग करने पर जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भोजन पचता है और मल बंध कर आता है। यह मधुर होने से पित्त शामक है। रस में कषाय, उष्णवीर्य, विकाशी तथा रूक्ष गुण वाला होने से कफ विकारों को दूर करता है। मधुर अम्ल और सान्द्र होने के कारण वात विकारों को भी दूर करता है। इस प्रकार यह त्रिदोष नाशक है। ताजा मट्ठा विदाही नहीं होता है, अतः वह विशेष हितकारी होता है। अर्श रोग के समान ग्रहणी रोग में मट्ठा अतिशय हितकारी है।[3] तक्र के प्रयोगों में ही वे तक्रारिष्ट की गणना करते रहे हैं, किन्तु क्योंकि उसमें अनेक औषध द्रव्यों का प्रयोग होता है अतः उसे प्राकृतिक उपचार में सम्मिलित करना उचित न होगा।[4]

कभी–कभी पित्त दोष अपने स्थान पर स्थित रहते हुए ही उत्क्लेदित होकर जठराग्नि को बुझा कर ग्रहणी रोग को उत्पन्न करता है। उसके नियमन के लिए प्राचीन आचार्य मुख्य रूप से वमन विरेचन का आश्रय लेते थे। साथ ही वे सुपाच्य, तिक्त रस युक्त अविदाही भोजन का भी प्रयोग करते थे। इसमें मूंग आदि की दालों के यूषों, खड्यूषों दीपन और ग्राही तक्र आदि पदार्थों, अनार के खट्टे रस तथा घृत का व्यवहार मुख्य रहा है।[5]

कफ दोष यदि ग्रहणी रोग का प्रधान कारण हो तो प्राचीन आचार्य वमन द्वारा प्राकृतिक उपचार करते थे। साथ ही कटु, अम्ल, लवण, क्षार और तिक्त स्वाद वाले स्थानीय रूप से सुलभ द्रव्यों का प्रयोग अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए करते थे।[6]

---

१. चरक चि० १५।१०२
२. चरक चि० १५।११५–११७
३. चरक चि० १५।११७–१२०
४. चरक चि० १५।१२१
५. चरक चि० १५।१२२–१२४
६. चरक चि० १५।१४१

त्रिदोषज ग्रहणी रोग में प्राचीन आचार्य वमन, विरेचन, नस्य (शिरोविरेचन), निरूहण एवम् अनुवासन तीनों का ही मुख्यतः प्रयोग करते थे तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए घृत क्षार आदि की सहायता लेते थे अथवा तीनों दोषों में जो दोष सबसे अधिक बढ़ा होता था सर्वप्रथम उसे प्रकृतिस्थ करने के लिए उस दोष के उपचार के लिए बताये गये प्रयोगों को करते थे। उसके बाद अथवा उसके साथ अन्य दोषों को प्रकृतिस्थ करने के उपायों का अवलम्बन करते थे।[१]

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि प्राचीन आचार्य महर्षि चरक आदि ग्रहणी रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए स्नेहन, स्वेदन, शुद्धि, लंघन और अग्नि को प्रदीप्त करने वाली वनस्पतियों सोंठ, काली मिर्च, चित्रक आदि के चूर्ण तक्र एवं घृत आदि का प्रयोग करते रहे हैं। कफज ग्रहणी होने पर रूक्ष अग्निवर्धक तथा तिक्त रस प्रधान आहार देते थे अथवा कवल धारण करके कफ को बाहर निकालने का प्रयत्न करते थे। यदि कफज ग्रहणी का रोगी निर्बल अधिक हो तो रोग निवारण के लिए रूक्ष एवं बल वृद्धि के लिए स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग बारी–बारी से करते थे। स्नेह संयुक्त अग्निदीपक आहार तो साथ चलता ही था। ग्रहणी रोग में पित्त की प्रधानता होने पर जठराग्नि को दीप्त करने के लिए तिक्त और मधुर रस युक्त आहार द्रव्यों का एवं वात दोष की प्रधानता की स्थिति में स्निग्ध, अम्ल और लवण रस युक्त दीपन द्रव्यों का प्रयोग रोगी को कराते थे। इसके फलस्वरूप उनकी जठराग्नि विधिवत् प्रदीप्त होती है और ग्रहणी रोग दूर हो जाता रहा है।[२] जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए प्राचीन आचार्य घृत को सर्वश्रेष्ठ मानते रहे हैं। उनका मानना रहा है कि जिस प्रकार भौतिक अग्नि घृत के सम्पर्क से निरन्तर प्रदीप्त होती है[३] उसी प्रकार जठराग्नि के दीपन के लिए भी स्नेह अर्थात् घृत और तेल को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। स्नेह के द्वारा प्रदीप्त की गयी अग्नि को अतिशय गुरु गरिष्ठ आहार भी मन्द बनाने या शमन करने में समर्थ नहीं होता।[४]

ग्रहणी रोग में यदि आमातिसार हो रहा है अर्थात् अग्नि के मन्द पड़ जाने के कारण यदि बिना पचे हुए मल का अतिसरण हो रहा हो तो प्राचीन आचार्य दीपन करने वाले द्रव्यों से सिद्ध किये गये घृत के प्रयोग की व्यवस्था देते हैं[५] और यदि

---

१. चरक चि० १५।१६४–१६५

२. चरक चि० १५।१६६–२०१

३. मनुस्मृति २।६४

४. चरक चि० १५।२०१–२०२, अ० हृदय चि० १०।६८–६६

५. चरक चि० १५।२०२–२०३

मल–विबन्ध हो अर्थात् मल सूखकर कठोर होने के कारण कठिनाई से निकल रहा हो तो उसे प्राचीन आचार्य भोजन के बीच में घृत में नमक मिलाकर देने का निर्देश करते हैं।[1] इसके विपरीत यदि मन्दाग्नि के कारण कफ के क्षीण होने पर पका हुआ मल भी ढीला निकल रहा हो तो उसे वे नमक, सोंठ और घृत थोड़ा–थोड़ा देने का परामर्श देते हैं। इससे समान वायु अपने स्वाभाविक मार्ग में आकर अन्न पाचन रूपी कार्य करके जठराग्नि को प्रदीप्त कर देती है।[2]

जठराग्नि कभी–कभी आँतों की रुक्षता के कारण भी मन्द होकर ग्रहणी रोग का कारण बनती है, तो उस स्थिति में दीपनीय औषधि द्रव्यों के साथ घृत या तेल पिलाना, आँतों में अधिक स्निग्धता यदि उसका हेतु है तो रुक्षता कारक दीपनीय क्षार आदि औषध द्रव्यों तथा आसव अरिष्ट पिलाना, रोग मुक्ति के बाद मन्दाग्नि होने पर अग्निदीपक घृत का प्रयोग, उपवास के कारण अग्निमान्द्य होने पर घृत युक्त यवागू का प्रयोग करना प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत था। उनकी मान्यता रही है कि अन्न के साथ लिया गया घृत बलदायक, अग्निवर्धक और शरीर को बढ़ाने वाला होता है।[3]

प्राचीन आचार्यों की मान्यता रही है कि उपवास अर्थात् आहार ग्रहण न करने से अग्नि प्रदीप्त नहीं होती, न ही अतिभोजन से वह प्रबल बनती है। भौतिक अग्नि भी तो ईन्धन के अभाव में बुझ जाती है और अल्प अग्नि पर बहुत सा ईन्धन डाल देने पर वह भी बुझ जाती है, वही स्थिति जठराग्नि की भी है। जैसे भौतिक बाह्य अग्नि में शमी, बबूल, खैर, शीशम आदि कठोर काष्ठ की पकी हुई लकड़ी की अग्नि चिरकाल तक स्थिर रहती है बुझती नहीं, उसी प्रकार स्निग्ध अन्न इत्यादि के द्वारा प्रदीप्त अग्नि भी प्रबल होकर सुस्थिर रहती है।[4] इसलिए स्निग्ध सुपाच्य आहार का सेवन करने से जब जठराग्नि प्रबल हो जाती है, तब हितकारी आहार करता हुआ मनुष्य चिरकाल तक स्वस्थ रहता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए वह अविषम आहार–विहार के द्वारा दोषों और धातुओं को साम्य अवस्था में रखता हुआ अग्नि वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। शरीर में स्थित अग्नि की वह ऊष्मा वात, पित्त और कफ के प्रकृतिस्थ अर्थात् सम अवस्था में रहने पर ही समभाव में रह पाती है और वही आरोग्य शरीरपुष्टि, आयुष्य तथा बल, वीर्य की वृद्धि के लिए आहार का पाचन कर पाती है। वात आदि दोषों के कारण मन्द अथवा अत्यन्त तीव्र अग्नि विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है।[5]

आचार्य सुश्रुत स्वास्थ्य की परिभाषा में घोषणा पूर्वक कहते हैं कि जब अग्नि धातु मल की क्रियाएँ सम होती हैं तभी आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न रह पाता है। इसके अभाव में वह स्वस्थ नहीं अस्वस्थ माना जाता है।[6] तात्पर्य यह है कि जठराग्नि

---

१. चरक चि० १५।२०४–२०५, अ० हृ० चि० १०।७१–७२
२. अ० हृ० चि० १०।६६–७१
३. (क) चरक चि० १५।२०५–२०६,२०८–२०६ (ख) अ० हृदय चि० १०।७२–७४
४. (क) चरक चि० १५।२११–२१४ (ख) अ० हृ० चि० १०।७८–८०
५. चरक चि० १५।२१४–२१६
६. सुश्रुत सू० १५।४१

का मन्द होना जिस प्रकार कष्टकारक रोग है, उसी प्रकार उसका तीक्ष्ण होना भी रोग है। इस अवस्था में सर्वप्रथम कफ का क्षय होता है। बारम्बार का खाया हुआ भी थोड़ी देर में भस्म हो जाता है। वह तीक्ष्ण अग्नि खाये हुए अन्न (आहार) को पचाने के बाद रक्त आदि धातुओं का पाचन और शोषण करती है, फलतः व्यक्ति दुर्बल होने लगंता है, उसे अनेक रोग घेर लेते हैं। इन रोगों में तृषा अर्थात् बार –बार प्यास लगना श्वास दाह और मूर्च्छा मुख्य हैं। धातु का शोषण निरन्तर होते रहने पर उसे मृत्यु अपना ग्रास बना लेती है।[१]

इस तीक्ष्णाग्नि अर्थात् भस्मक रोग की प्राचीन आचार्य प्राकृतिक रूप से ही पूर्ण चिकित्सा करते हैं। उनका कहना है कि इस तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग) के रोगी को गुरु स्निग्ध, शीतल, मधुर और पिच्छिल अन्नपान के द्वारा उसी प्रकार शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिस प्रकार तेज जलती हुई अग्नि को जल डाल कर शान्त करते हैं। अन्नपान की इस प्रक्रिया को बारम्बर दोहराना चाहिए अन्यथा अन्य ईन्धन न मिलने पर वह प्राणों को भी नष्ट कर देगी। इस क्रम में रोगी को खीर, तिल, चावल और उड़द की खिचड़ी, चावल या गेहूं के आटे से बने माल पुआ आदि अथवा गेहूं के आटे को घृत में भून कर चीनी और दूध या पानी डाल कर बनाया गया मन्थ, घृत चीनी डाल कर दूध और घृतयोनिफल अर्थात् बादाम, पिस्ता, काजू, अखरोट आदि फलों से बने उत्क्रुञ्च यवागू अथवा घृत देने चाहिए।[२] वनस्पतियों के प्रयोग में वे गूलर की छाल के चूर्ण को स्त्री स्तन्य (नारी दुग्ध) के साथ अथवा उसकी गूलर का काढ़ा और स्त्री स्तन्य में खीर बनाकर खिलाने का निर्देश करते हैं।[३]

इतना ही नहीं वे यह भी कहते हैं कि आवश्यक होने पर विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण करके रोगी को खीर खिलायें। इसके अतिरिक्त जो भी मधुर चर्बी बढ़ाने वाले कफकारक गरिष्ठ भोजन बन सके वह खिलाये एवं दिन में रोगी सोये। ऐसा करने से अत्यग्नि (भस्मक) रोग मृत्युदायी या कष्टदायी नहीं होता, अपितु उस स्निग्ध गरिष्ठ भोजन के पच जाने के कारण शरीर में बल पुष्टि और आयु की वृद्धि होती है। इस प्रकार पित्त का नियमन और कफ की वृद्धि होने पर अग्नि के सम होने पर सभी धातुएं सम हो जाती हैं।[४]

---

१. (क) चरक चि० १५।२१७–२२०(ख) अ० हृदय चि० १०।६१
२. चरक चि० १५।२२१–२२८
३. चरक चि० १५।२३०
४. (क) चरक चि० १५।२३१–२३५(ख) अ० हृदय चि० १०।८६–९०

अतिमैथुन, अम्ल और लवण रस एवं मद्य का अतिसेवन, मिट्टी खाना अथवा अत्यन्त दूषित जल पीना, दिन में अधिक सोना, पित्त को कुपित करने वाले अतितीक्ष्ण पदार्थों का सेवन आदि द्वारा दूषित दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पाण्डुता उत्पन्न कर देते हैं। इस पाण्डुता के कारण ही इस रोग को पाण्डुरोग कहा जाता है। कारण भेद से इसके पांच प्रकार माने जाते हैं– वातज, पित्तज, श्लेष्मज, त्रिदोषज और मृत्तिका भक्षणजन्य[१]। कुछ आचार्य इसके केवल चार प्रकार मानते हैं।[२] वे मृत्तिका भक्षण जन्य की अलग गणना नहीं करते। आचार्य हारीत पाण्डु के आठ भेद मानते हैं जिनमें पूर्वोक्त पांच के अतिरिक्त दो प्रकार के कामला तथा हलीमक।[३] किन्तु आचार्य चरक और सुश्रुत इन्हें पाण्डु के अन्तर्गत ही सम्मिलित मानते हैं क्योंकि इन की सम्प्राप्ति पाण्डु से भिन्न नहीं है। उपर्युक्त सभी चार, पांच अथवा आठ भेदों में सबमें ही शरीर में पाण्डुता की अभिव्यक्ति होती है।

पाण्डु रोग की चिकित्सा के प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्य स्नेहन, स्वेदन पूर्वक संशोधन को सर्वप्रमुख मानते हैं।[४] इसकी चर्चा पूर्व में संशोधन–चिकित्सा शीर्षक में की जा चुकी है। संशोधन के उपरान्त वे रोगी को पुराने चावल की मूंग, अरहर और मसूर की दालों से बनी खिचड़ी देने की व्यवस्था करते हैं।[५] सहायक चिकित्सा के रूप में उन्होंने पञ्चगव्य अर्थात् गोदुग्ध, दही, मूत्र और गोबर का रस समान भाग लेकर उसमें सिद्ध किए गोघृत का प्रयोग करने का निर्देश सर्वप्रथम किया है।[६] अन्य प्राकृतिक वनस्पतियों में दन्ती की जड़ दो तोला और गुड़ चार तोला शीतल जल के साथ अथवा निशोथ का चूर्ण २–३ मात्रा त्रिफला क्वाथ के साथ[७] अथवा केवल त्रिफला का स्वरस या क्वाथ, गिलोय का स्वरस या क्वाथ, दारु हल्दी का स्वरस या क्वाथ अथवा नीम का शीतल रस मधु के साथ अथवा गाय के दूध में गोमूत्र अथवा भैंस के दूध में भैंस का मूत्र पन्द्रह दिनों तक अथवा त्रिफला स्वरस या क्वाथ समान भाग गोमूत्र के साथ पीने की व्यवस्था

---

१. चरक चि० १६।३
२. सुश्रुत उ० ४४।४
३. हारीत संहिता
४. (क) चरक चि० १६।४०–४१ (ख) अ० हृदय १६।५
५. चरक चि० १६।४१
६. (क) चरक चि० १६।४३ (ख) चरक चि० १०।१७
७. चरक चि० १६।५६–६०

देते हैं।[1] इसके अतिरिक्त वे गोमूत्र और हरीतकी के चूर्ण का प्रयोग भी अतिशय लाभकारी बतलाते हैं।[2] उनका मानना है कि बिजौरा नीबू के नवीन अंकुरों को अग्नि में जलाकर गोमूत्र में बुझा दें तथा उसे मल कर छान लें। इसके मूत्र के साथ पीने से पाण्डु रोग और उसके साथ उत्पन्न हुआ शोथ भी दूर हो जाता है।[3]

इसी प्रकार हरड़ के चूर्ण और गुड़ समान भाग को मधु के साथ, हरड़ हल्दी का चूर्ण अथवा त्रिफला दोनों हल्दी और कुटकी का चूर्ण मधु और घृत के साथ लेने से कामला (पाण्डु) रोग दूर होता है। इस में अयोरज मिला देने से लाभ और बढ़ जाता है।[4] छोटी बड़ी कटेरी गोखरू और पृश्निपर्णी इन चारों अथवा इनमें जो सुलभ हो के क्वाथ को पीने अथवा इनके क्वाथ में भोजन सिद्ध करके खिलाने से कामला रोग दूर होता है। इसी प्रकार मुनक्का का क्वाथ और आंवले का स्वरस या क्वाथ पीने अथवा उसमें भोजन सिद्ध करके रोगी को खिलाने से कामला रोग नष्ट होता है।[5] इनके अतिरिक्त महर्षि चरक पाण्डु रोग की चिकित्सा हेतु एक अत्यन्त सरल प्राकृतिक चिकित्सा–मार्ग बताते हैं। उनका कहना है कि यदि पाण्डुरोग वातज है, तो स्नेह प्रधान आहार या औषध द्रव्यों का, यदि पित्तज है तो तिक्त और शीतल द्रव्यों का तथा यदि श्लेष्मज है तो कटु तिक्त और उष्ण द्रव्यों का तथा त्रिदोषज होने पर मिश्रित आहार और द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।[6]

जो पाण्डुरोग मिट्टी खाने से उत्पन्न हुआ है उसकी चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य सर्वप्रथम उस मिट्टी को निकालने के लिए रोगी के बल अबल को ध्यान में रखते हुए तीव्र वमन और विरेचन कारक द्रव्यों की सहायता से संशोधन करने तथा उसके बाद बलदायक घृत के प्रयोग का निर्देश करते हैं।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य विज्ञान के प्राचीन आचार्य पाण्डुरोग की चिकित्सा के प्रसङ्ग में चिकित्सा हेतु स्वीकार किये उपायों में प्राकृतिक चिकित्सा की प्राणभूत शोधन–चिकित्सा पर सर्वाधिक बल देते हैं तथा अन्य उपयोगों में स्थानीय रूप में सुलभ प्राकृतिक द्रव्यों के सहज प्राकृतिक प्रयोगों का (प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोगों का भी) यथोचित सम्मान करते हैं।

---

१. चरक चि० १६।६३–६५
२. चरक चि० १६।६८
३. चरक चि० १६।६५–६६
४. चरक चि० १६।६८–६६
५. चरक चि० १६।११४–११५
६. चरक चि० १६।११६–११७
७. चरक चि० १६।११७–११८

वैदिक वाङ्मय में हिक्का और श्वास की प्राकृतिक चिकित्सा–

वात आदि दोषों के प्रकोप के कारण अथवा आम–अतिसार, वमन, विष, पाण्डु ज्वर, कास आदि रोगों के कारण अथवा धूलि, धूम और वायु से अथवा गुदा, हृदय, नाभि आदि मर्म स्थलों पर आघात लगने से अथवा अतिशीतल जल के सम्पर्क से श्वास और हिक्का रोग उत्पन्न होते हैं।[१] यद्यपि रोग अनेक हैं उन रोगों में बहुत से रोग प्राणहारी भी हैं, किन्तु वे रोग इतने शीघ्र प्राणघातक नहीं होते जितने कि शीघ्र प्राण ले लेने वाले हिक्का और श्वास हैं। विभिन्न प्रकार के अन्य रोगों से पीड़ित पुरुष जब मरणासन्न हो जाता है तो उस समय अत्यन्त कष्टकारी हिक्का तथा श्वास रोग उसे हो जाते हैं। अन्य रोगों में उपद्रव के रूप में उत्पन्न हिक्का और श्वास प्रायः प्राणहर बन जाते हैं, कष्टदायक तो होते ही हैं।[२] अतः अविलम्ब इन पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

ये दोनों हिक्का और श्वास रोग भिन्न–भिन्न होते हुए भी कारण परिणाम की दृष्टि से प्रायः समान हैं। ये दोनों ही रोग कफजनित और वातजनित होते हैं। दोनों की ही उत्पत्ति पित्ताशय से होती है। ये दोनों ही समुचित उपचार न मिलने पर हृदय तथा रस आदि धातुओं को सुखा डालते हैं। दोनों ही कष्टसाध्य भी होते हैं। इन रोगों से ग्रस्त होने पर यदि मनुष्य अपथ्य आहार विहार का सेवन करते हैं तो रोग रोगी के प्राण भी हर लेते हैं।[३]

श्वास रोग क्षुद्रक, तमक, छिन्न, महान् और ऊर्ध्व भेद से पांच प्रकार का होता है।[४] इसी प्रकार हिक्का के भी भक्तोद्भवा, क्षुद्रा, यमला, महती और गम्भीरा नाम से पांच भेद होते हैं।[५]

इन दोनों रोगों की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्यों ने स्नेहन, स्वेदन और वमन आदि को ही प्रशस्त और समर्थ उपाय माना है।[६] जिसकी विस्तार पूर्वक चर्चा शोधन–चिकित्सा शीर्षक पूर्व अध्याय में की जा चुकी है। उनका मानना है कि सामान्यतः जो रोगी स्वेदन योग्य नहीं भी कहे गये हैं, उनका स्वेदन भी उन्हें शर्करा दूध मिश्रित थोड़े गरम स्नेह युक्त परिषेक से अथवा स्वेदन प्रकरण में बताये गये द्रव्यों से बनी उत्करिका और उपनाहों से वक्ष और कण्ठ पर मृदु स्वेद द्वारा थोड़े समय के लिए करना चाहिए।[७]

---

१. अ० हृदय नि० ४।१–२
२. चरक चि० १७।६–७
३. चरक चि० १७।८–९
४. अ० हृदय नि० ४।२
५. अ० हृदय नि० ४।१९
६. (क) चरक चि० १७।७१–७६ (ख) अ० हृदय चि० ४।१–६
७. (क) चरक चि० १७।८२–८३ (ख) अष्टांग हृ० चि० ४।१४–१६

स्वेदन हेतु उत्करिका बनाने के प्रसंग में उनका मानना है कि काले तिल, अतसी (तीसी) उरद और गेहूं इनको पीस कर वातनाशक तेलों का मोवन डालकर भली प्रकार मिला लें तत्पश्चात् कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से आटा सान कर उत्करिका बनाएं। इस उत्करिका से गरम स्वेदन किया जाता है।[१]

स्वेदन और वमन के बाद भी यदि दोष शेष रह जाता है तो वे आचार्य धूमपान कराने का निर्देश करते हैं।[२] धूमपान का अर्थ यहाँ बीड़ी या सिगरेट पीना नहीं है, अपितु कफनाशक कुछ द्रव्यों का घृत के साथ धूमपान करने से है। इसके लिए प्राचीन आचार्यों ने कुछ प्राकृतिक उपादानों को लेकर धूमवर्त्ती बना लेने या धूमपान की विधियाँ बतायी हैं। (१) हल्दी, तेजपत्र, एरण्ड मूल, लाक्षा, मैनसिल, देवदारु, हरताल और जटामांसी इन सभी द्रव्यों को अथवा जो उपलब्ध हो उन्हें पीस कर धूमवर्त्ती बनायी जाती है (२) अथवा जौ के आटे को घी से सान कर हुक्का के माध्यम से रोगी को पिलाये (३) अथवा मोम राल और घृत को (४) अथवा पकी हुई अगुरु के धूम को अथवा (५) अगुरु एवं चन्दन के धूम को (६) अथवा गौ के सींग और गल कम्बल के बालों को (७) अथवा भालू, गोह या हिरण के चर्म सींग या खुर के धूम को उपर्युक्त माध्यम से पिलायें।[३]

श्वास और हिक्का को दूर करने के लिए प्राचीन आचार्य जौ (यव) को अर्क के अंकुरों के दूध से भावित करके उसका सत्तू बनाकर मधु के साथ खिलाते रहे हैं अथवा शालि या साठी के चावल या जौ गेहूं की रोटी, कुलथी की दाल के साथ खाने का वे निर्देश करते हैं।[४] उनके अनुसार कास मर्दक के पत्तों का यूष या सहिजन का यूष अथवा सुखाई हुई मूली का यूष पीने से श्वास और हिक्का रोग दूर होते हैं। इसी प्रकार बैंगन का स्वरस अथवा क्वाथ से बनाये गये यूष, दही एवं व्योष चूर्ण (सोंठ, मिर्च, पीपर का चूर्ण) और घी मिलाकर पिलाने से हिक्का और श्वास रोग दूर होते हैं। काकड़ा सींगी (कर्कट शृङ्गी) के क्वाथ से बना यवागू हिक्का श्वास को दूर करता है।[५] इसके अतिरिक्त काला नमक (सोचरनोन) सोंठ, भृंगराज और शर्करा अथवा भृंगराज और सोंठ अथवा काली मिर्च और जवाखार अथवा देवदारु अथवा दारु हल्दी, चित्रक की जड़, सारिवा अथवा मूर्वा की जड़ का चूर्ण या क्वाथ का प्रयोग श्वास, हिक्का के निवारण के लिए प्राचीन आचार्य करते थे।[६]

---

१. चरक चि० १७।८४
२. अ० हृदय चि० ४।१०
३. अ० हृदय चि० ४।१०–१४
४. अ० हृदय चि० ४।२५–२७
५. चरक चि० १७।६६–१०१
६. चरक चि० १७।१०६–११०

श्वास रोग में वात तथा पित्त का अनुबन्ध होने पर प्राचीन आचार्य साठी के चावल का पथ्य देकर सुवर्चला (हुरहुर) के स्वरस में व्योष चूर्ण दूध और घी मिलाकर प्रयोग करते रहे हैं। कफ और पित्त का अनुबन्ध होने पर शिरीष के फूलों का स्वरस अथवा सप्तपर्ण की पत्तियों का स्वरस पिप्पली चूर्ण और मधु मिलाकर पिलाते रहे हैं। इसी प्रकार केवल कफ का अनुबन्ध होने पर गधा, घोड़ा, मेष (भेड़ा) सुअर और हाथी के पुरीष का रस मधु के साथ देना हितकर मानते रहे हैं।[१]

श्वास और हिक्का रोगों की चिकित्सा का संक्षेप करते हुए महर्षि चरक कहते हैं कि जो द्रव्य कफनाशक, वातनाशक, उष्ण वीर्य और वात का अनुलोमन करने वाले होते हैं वे सभी द्रव्य वनस्पति आदि अथवा आहार इन रोगों में हितकर होते हैं। इनकी चिकित्सा में वे मुख्यतः तीन प्रकार के प्रयोगों का निर्देश करते हैं– कफवातहर, वातकारक कफहर, कफकारक वातहर। मिश्र चिकित्सा की आवश्यकता होने पर पहले वातनाशक वनस्पतियों के स्वरस कल्क या कषाय का प्रयोग उचित मानते हैं।[२] इस क्रम में वे सहज सुलभ प्राकृतिक उपादनों का प्रयोग दोषों को सम अवस्था में अर्थात् प्रकृतिस्थ करने के लिए ही किसी भी प्रकार का उपचार करते हैं। अतः उसे प्राकृतिक चिकित्सा ही कहा जायेगा।

वैदिक वाङ्मय में कास (खांसी) का प्राकृतिक उपचार-

कास अर्थात् खाँसी के पांच प्रकार हैं–वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षयज और क्षतज।[३] रूक्ष, शीत, कषाय गुण प्रधान आहारों का सेवन करने से, अल्प भोजन, प्रमित भोजन, अनशन, अधिक स्त्री पुरुष सहवास, अधारणीय वेगों का धारण, शक्ति से अधिक परिश्रम करने से वात कुपित होकर वातज कास को उत्पन्न करता है।[४] कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षारीय द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से, क्रोध करने से, अग्नि तथा सूर्य की गर्मी का अधिक सेवन करने से पित्त कुपित होकर पित्तज कास को उत्पन्न करता है।[५] गरिष्ठ अर्थात् देर से पचने वाले पदार्थ, अभिष्यन्दी अर्थात् कफवर्धक पदार्थ, मधुर स्निग्ध पदार्थों के सेवन से, दिन में सोने से, शारीरिक श्रम न करने से, बढ़ा हुआ कफ, वात के मार्ग को रोक कर कफज कास को उत्पन्न करता है।[६]

कास के जो पांच भेद ऊपर बताये हैं उनमें प्रथम तीन अर्थात् वातज, पित्तज और

---

१. चरक चि० १७।११३–११४,११६

२. चरक चि० १७।१४७–१४८

३. (क) चरक चि० १८।४ (ख) अ० हृदय नि० ३।१७

४. चरक चि० १८।१०

५. चरक चि० १८।१४

६. चरक चि० १८।१७

कफज साध्य माने गये हैं। क्षयज कास तब तक साध्य होता है, जब तक रोगी अधिक निर्बल नहीं होता। निर्बल रोगी का क्षयज कास और सभी प्रकार के रोगियों का क्षतज कास याप्य होता है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार इनमें से रूक्ष शरीर वाले वातज कास के रोगी को सर्वप्रथम स्नेहन कराकर वस्ति द्वारा शोधन करना चाहिए। उसके बाद पेया, यूष, क्षीर, रस, घृत के अतिरिक्त अन्य स्नेहों धूमपानों अभ्यङ्ग परिषेक और स्निग्ध, स्वेदन आदि के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। उसके बाद अनुवासन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अपान वायु की गति विलोम होने पर भोजन के बाद घृतपान कराना चाहिए। वात के साथ पित्त या कफ दोष का संयोग होने की स्थिति में घृत तथा स्नेह द्रव्य युक्त विरेचन का प्रयोग भी करना चाहिए।[१]

प्राचीन आचार्य कास की चिकित्सा के लिए जहाँ विविध औषध योग का प्रयोग करते थे, वहीं वे प्राकृतिक उपचार के रूप में अनेक सहज प्रयोग भी करते थे। यथा खदिरसार का प्रयोग। उनके अनुसार खदिरसार का चूर्ण खाकर अनुपान के रूप में दही का पानी पीने से अथवा पिप्पली के चूर्ण को घृत में भूनकर नमक मिलाकर खाने और अनुपान के रूप में दही का पानी लेने से कास (खांसी) रोग दूर हो जाता है।[२] इसी प्रकार भैंस, बकरी, भेंडी अथवा गाय के दूध में समान मात्रा में आँवले का स्वरस मिलाकर दूध मात्र शेष रहने तक पकाएँ। इसके पीने से पित्तज कास दूर हो जाता है अथवा इनका दूध एवं आँवले का स्वरस समान मात्रा में लेकर चतुर्थांश घृत डाल कर घृत सिद्ध करे। इस घृत के प्रयोग से खाँसी नष्ट होती है।[३] पञ्चकोल के साथ सिद्ध किये गये घृत को कुलथी के रस या क्वाथ के साथ लेने से कफ प्रधान खाँसी दूर होती है।[४] एरण्ड के पत्तों का क्षार और व्योष का चूर्ण तिल का तेल और गुड़ के साथ खाने से भी खाँसी दूर हो जाती है। इसमें तुलसी के पत्र अथवा उसके पञ्चाङ्ग का क्षार मिला लेने से लाभ अधिक शीघ्र होता है। इसी भांति पद्म काष्ठ, बड़ी कटेरी के बीज और पिप्पली का चूर्ण मुनक्का मधु और घृत के साथ खाने से कास रोग से आरोग्य मिलता है।[५] काली मिर्च का चूर्ण मधु घृत एवं शर्करा के साथ अथवा झरवेरी के पत्तों को पीस कर घृत में भून कर सेंधा नमक के साथ खाने से क्षयज कास भी दूर हो जाती है।[६]

महर्षि चरक कास–चिकित्सा प्रकरण के अन्त में क्षयज कास की चिकित्सा के

---

१. (क) चरक चि० १८।३१–३४ (ख) अ० हृदय चि० ३।१–३
२. चरक चि० १८।६४
३. चरक चि० १८।१०७
४. चरक चि० १८।१२६
५. चरक चि० १६।१७१–१७२
६. चरक चि० १८।१८०

लिए जो चिकित्सा सूत्र देते हैं उसके अनुसार उन्हें प्राकृतिक चिकित्सक ही मानना चाहिए। उसके अनुसार क्षयज कास के रोगियों को दीपन बृंहण और स्रोतों में संसक्त दोषों को निकाल कर उन्हें शुद्ध करने वाली औषधियों का एक–एक करके प्रयोग करना चाहिए। सभी क्रियाओं का प्रयोग एक साथ नहीं करना चाहिए। साथ ही क्षयज कास के रोगी के लिए औषध तथा आहार–विहार बलवर्धक हों तभी वे लाभकारी हो पाते हैं, अन्यथा नहीं।[1]

वैदिक वाङ्मय में अतिसार की प्राकृतिक चिकित्सा–

अतिसार शब्द का अर्थ है अधिक मात्रा में पुरीष का आना। गुरु उष्ण और असात्म्य आहारों के सेवन से पाचक अग्नि मन्द पड़ जाती है तथा असात्म्य आहार के सेवन से मन भी अस्वस्थ हो जाता है, इसके कारण अतिसार रोग हो जाता है। इनके अतिरिक्त अधिक वात, आतप और व्यायाम का सेवन, रूक्ष, अल्प और प्रमित आहार, तीक्ष्ण मद्यों का सेवन, अधिक मैथुन और मल, मूत्र के वेगों को रोकना भी अग्निमान्द्य पूर्वक अतिसार के हेतु होते हैं।[2] श्लेष्म प्रकृति के मनुष्य यदि गरिष्ठ, मधुर, शीत, स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करते हैं, अथवा अतिमात्रा में आहार लेते हैं, दिन में सोते हैं तो उनका कफ कुपित होकर अग्निमाद्य पूर्वक अतिसार को उत्पन्न करता है।

अतिसार छह प्रकार का होता है। वातज, पित्तज, श्लेष्मज, सन्निपातज, भयज और शोकज। प्रायः सभी प्रकार के अतिसार की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य प्रधानरूप से पञ्चकर्म की विधि से संशोधन करना आवश्यक समझते हैं।[3] जिसका विवरण संशोधन–चिकित्सा शीर्षक अध्याय में दिया गया है। संशोधन के अतिरिक्त उन्होंने उस आहार विशेष को आवश्यक माना है जो दीपन और पाचन भी हो।[4] ऐसे प्रयोगों में अतीस और बालवच अथवा नागरमोथा और पित्तपापड़ा अथवा सुगन्धबाला और सोंठ में जो भी स्थानीय रूप से सुलभ हो उनका क्वाथ दही की मलाई में यमक स्नेह अर्थात् घृत और तेल में छौंक कर गुड़ और सोंठ के साथ[5] इनका प्रयोग अथवा अनार या गाजर के यूष इत्यादि आहार देने से अग्नि का दीपन होने से अतिसार का शमन होता है।[6] पित्तातिसार में प्राचीन आचार्य बकरी का उबाला हुआ दूध शीतल करके मधु, शर्करा सहित प्रयोग करते रहे हैं।[7] उनकी मान्यता है कि दूध से निकाले

१. चरक चि० १८।१८७
२. चरक चि० १६।५,७
३. (क) चरक चि० १६।१४, १७ (ख) अ० हृदय चि० ६।५०,५२
४. चरक चि० १६।१६
५. चरक चि० १६।२२
६. चरक चि० १६।३७–३८
७. चरक चि० १६।६६–७१

हुए मक्खन को खाकर केवल दूध पीकर रहने वाला मनुष्य तीन दिन में ही रक्तातिसार से मुक्त हो जाता है।[१] इसी प्रकार एक भाग काले तिल के चूर्ण में चार भाग शर्करा मिला कर खाने और बकरी का दूध पीने रक्तातिसार दूर हो जाता है।[२] अतिसार के साथ गुदभ्रंश का भी कष्ट होने पर प्राचीन आचार्य धाय के फूल और लोघ्र (पठानी लोध्र) के चूर्ण को समभाग लेकर उससे प्रतिसारण करने का निर्देश करते हैं। इससे रक्तस्राव गुदभ्रंश और गुदपाक तीनों ठीक हो जाते हैं।[३] अतिसार के कारण गुद–वलियों के अतिशय निर्बल होने की स्थिति में वे गुदा में बारम्बार तेल लगाकर चिकित्सा करते रहे हैं।[४] मल के साथ पहले अथवा पीछे रक्त आने पर शतावर के चूर्ण से सिद्ध घृत अथवा शतावर के चूर्ण के साथ घृत अथवा ताजा निकाले हुए मक्खन में आधा भाग शर्करा और चतुर्थांश मधु मिलाकर प्राचीन आचार्य खिलाते रहे हैं। इनसे यह रोग निर्मूल हो जाता है।[५] इसी प्रकार पीपल, गूलर, बरगद के शुङ्ग कूट कर उष्ण जल में रख कर उस जल से घृत सिद्ध करके उसे शर्करा मधु के साथ रोगी को प्रयोग कराते थे।[६] चन्दन का कल्क शर्करा, मधु और चावल के धोवन के साथ प्रयोग कराकर वे रक्तातिसार को निर्मूल करते थे।[७] पिप्पली को मधु के साथ अथवा चित्रक को तक्र के साथ अथवा कैथा के गूदे को त्रिकटु मधु और शर्करा के साथ, कायफल को मधु के साथ अथवा कच्चे बेल के गूदे को अकेले ही या सोंठ के साथ खाने से अतिसार दूर होता है।[८]

इसी प्रकार वे अतिसार के निवारण के लिए चांगेरी चौपतिया के रस में सिद्ध घृत अथवा षट् पल घृत अथवा पुराने घृत का भी यवागू या मण्ड के साथ प्रयोग करते थे।[९]

प्राचीन आचार्यों को अतिसार चिकित्सा के प्रसंग में शोधन प्रधान प्राकृतिक चिकित्सा की सफलता पर इतना विश्वास रहा है कि वे अतिसार–चिकित्सा का

---

१. चरक चि० १६।७७
२. चरक चि० १६।८४, अ० हृदय चि० ६।६२–६३
३. चरक चि० १६।६०–६१
४. चरक चि० १६।६५–६६
५. चरक चि० १६।६७–६६
६. चरक चि० १६।६६–१०१, अ० हृदय चि० ६।१०१–१०२
७. अ० हृदय चि० ६।६३–६४
८. चरक चि० १६।११२–११४, अ० हृदय ६।१०७–१०६
६. चरक चि० १६।११६

उपसंहार करते हुए पिच्छा वस्ति एवम् अनुवासन वस्ति का ही विधान करते हैं। उनका कहना है कि वात और कफ की रुकावट होने पर अथवा कफ दोष के अत्यधिक निकलने पर उदर शूल अथवा प्रवाहिका हो तो पिच्छा वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।[१] इसके लिए पिप्पली बेल की गुद्दी, कूठ, सोया और बाल बच का चूर्ण और नमक मिलाकर पिच्छा वस्ति तैयार की जाती है। इस वस्ति के बाहर आ जाने के बाद मध्याह्नोत्तर भोजन एवं सायंकाल बिल्व तेल के द्वारा अनुवासन वस्ति देना लाभकर होता है। ऐसा करने से वात और कफ प्रधान अतिसार और इन दोषों से उत्पन्न पीड़ाएं दूर हो जाती हैं।[२]

वैदिक वाङ्मय में वमन (छर्दि) रोग की प्राकृतिक चिकित्सा—

अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषध द्रव्यों का सेवन, शोक रोग, भय, उपवास आदि कारणों से जो व्यक्ति अत्यधिक कृश हो जाता है उसके महा स्रोतस् अर्थात् अन्नवह स्रोतस् में कुपित वायु उसमें रहने वाले दोषों को उत्क्लेदित कर ऊपर के मार्ग (मुख) से बाहर फेंकती है।[३] इसे ही छर्दि वमन आदि नामों से जाना जाता है। यह रोग अपने मूल कारणों के आधार पर पांच प्रकार का मांना जाता है।—वातज, पित्तज, श्लेमज, सन्निपातज एवं द्विष्टार्थ जन्य अर्थात् अप्रिय अथवा घृणास्पद वस्तु के संयोग से उत्पन्न होने वाला वमन। आचार्य सुश्रुत ने तीनों दोषों के द्वारा पृथक्—पृथक एवं समष्टि जन्य (त्रिदोष) इन चार वमन प्रकारों के बाद बीभत्सजन्य दौह्रदजन्य गर्भावस्थाजन्य, आमजन्य सात्म्य प्रकोपजन्य और कृमिजन्य इन छह वमन रोगों को महर्षि चरक द्वारा स्वीकृति पांचवें प्रकार के उपभेद मानते हैं।[४]

इन विविध प्रकार के छर्दि वमन रोगों की चिकित्सा के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्य मानते हैं कि सभी प्रकार की इन छर्दियों की उत्पत्ति आमाशय जनित उत्क्लेश से उत्पन्न होती है। इसलिए सबसे पहले इस रोग में लंघन ही कराना चाहिए उसके बाद वातज छर्दि को छोड़कर अन्य कफज और पिजत्त छर्दिरोगों में कफ और पित्तनाशक संशोधन अर्थात् वमन और विरेचन कराने चाहिए।[५]

---

१. चरक चि० १६।११७

२. (क) चरक चि० १६।११८—१२० (ख) अष्टांग ह्र० चि० ६।११६—१२०

३. चरक चि० २०।७—८

४. (क) चरक चि० २०।६ (ख) सुश्रुत उत्तर ४६।१२

५. (क) चरक चि० २०।२० (ख) सुश्रुत उत्तर ४६।१५—१६

संशोधन के अतिरिक्त औषध द्रव्यों का प्रयोग करते हुए भी प्राचीन आचार्य प्राकृतिक चिकित्सा अर्थात् यथास्थान सर्वसुलभ द्रव्यों का प्रयोग करके रोग का निवारण करने की इच्छा रखते हैं। यथा वातजन्य वमन में वे दूध को मथ कर बनाया हुआ घृत अथवा दूध में मिलाकर घृत पीने की व्यवस्था देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि नमक के साथ घृत पीने से भी वातज वमन रोग दूर होता है।[1] मधु के साथ हरीतकी का चूर्ण अथवा रुचिकर विरेचन द्रव्यों में जो भी प्राप्त हों उन्हें दूध के साथ लेना चाहिए। इसी प्रकार वे मानते हैं कि धनिया और सोंठ के साथ दही का घोल अथवा अनार के रस में सिद्ध किया हुआ घृत लेने से भी वातज वमन रोग दूर होता है। इसी घृत में त्रिकटु अर्थात् सोंठ मिर्च और पीपर तथा तीनों नमक अर्थात् सेंधानमक, कालानमक और विरिया नमक मिला लेने पर लाभ और शीघ्र होता है। इन वमन के रोगियों को प्राचीन आचार्य रुचिकर स्निग्ध तथा दही अनार के रस आदि से युक्त अम्ल आहार पथ्य के रूप में देने का विधान करते हैं।[2]

पित्त प्रधान वमन रोग के शमन के लिए प्राचीन आचार्य ईख (गन्ने) का रस मुनक्का के साथ विदारीकन्द और निशोथ के चूर्ण का प्रयोग अनुलोमन के लिए करते थे। किन्तु आमाशय में पित्त की अधिक वृद्धि होने की स्थिति में मुलेठी आदि मधुर द्रव्यों का प्रयोग करके वमन भी कराते रहे हैं। इस प्रकार पित्त का शोधन करके वे लाई का सत्तू अथवा पेया में मधु मिलाकर पथ्य के रूप में देते रहे हैं। इसके अतिरिक्त आधा उबाले हुए अन्न लाई अथवा जौ का सत्तू मांड मिला हुआ जौ का भात (गृञ्ज) खजूर का गूदा नारियल की गिरी मुनक्का अथवा झड़बेर का चूर्ण इनमें से किसी एक को मिश्री और मधु के साथ पिप्पली का चूर्ण मिला कर लेने का विधान करते हैं।[3] प्राचीन आचार्यों के अनुसार पित्तज वमन हरड़ का चूर्ण मधु के साथ लेने से, मुनक्के का शीतल रस पके हुए मिट्टी के ढेले या ईंट को आग में तपाकर पानी में बुझा कर वह पानी अथवा जामुन या आम के सुकोमल पत्तों का क्वाथ शीतल करके मधु सहित लेने से भी दूर जाता है।[4] कुछ आचार्य जामुन, आम के पल्लवों के साथ उशीर वट और पीपल के कोमल पत्तों को भी क्वाथ के लिए लेने का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार यह क्वाथ

---

१. (क) सुश्रुत उ० ४६।१८,१६ (ख) चरक चि० २०।२४

२. चरक चि० २०।२१, २४—२५

३. चरक चि० २०।२६—२८

४. (क) चरक चि० २०।२६,३० (ख) अ० संग्रह चि० ८।१३

वमन के अतिरिक्त ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा और तृष्णा रोगी को भी दूर करता है।[1] इनके अतिरिक्त निम्नलिखित द्रव्यों अथवा द्रव्य समूहों में अन्यतम को छह गुना जल में सायंकाल भिगोकर एवं प्रातः काल छान कर यह फाण्ट रोगी को पिलाने का भी वे निर्देश करते हैं।[2]

१. मूंग, पिप्पली, खश और धनिया समान भाग छह गुना जल
२. काले चने छह गुना पानी
३. गवेधुका (गरहेडुआ) की जड़ छह गुना पानी
४. गिलोय का जल
५. रात्रि का रखा गन्ने का रस
६. सामान्य दूध रात्रि का रखा हुआ।
७. खश का चूर्ण चावल के धोवन एवं मधु के साथ
८. स्वर्ण गैरिक तथा सुगन्धबाला का चूर्ण चावल के धोवन एवं मधु के साथ
६. सफेद चन्दन घिसकर आंवले के रस और मधु के साथ
१०.शुद्ध स्वर्ण गैरिक शालि चावल का चूर्ण शीतल जल के साथ
११.मरोड फली का चूर्ण चावलों के धोवन अथवा मधु के साथ।

कफज छर्दि में प्राचीन आचार्य जामुन तथा खट्टे बेरों का चूर्ण अथवा नागरमोथा और काकड़ा सिंगी का चूर्ण अथवा दुरालभा का चूर्ण मधु के साथ प्रयोग कराते रहे है।[3]

छर्दि रोग की चिकित्सा के क्रम में प्राचीन आचार्यों ने वातावरण, पास पड़ोस का मनोनुकूल वार्तालाप, आहार–सामग्री, गन्ध आदि अनेक पदार्थों पर ध्यान दिया था। उनका मानना है कि मन पर घृणा उत्पादक पदार्थों का आघात छर्दि रोग के मूल कारणों में अन्यतम है। अतः छर्दिरोग से आक्रान्त व्यक्ति की चिकित्सा के प्रसंग में रोगी के मन के अनुकूल वार्त्तालाप, आश्वासन, रोगी के मन को प्रसन्न रखने वाले कार्य, मित्रमण्डली के मुख से लोक प्रसिद्ध श्रृंगार रस प्रधान कथा कहानियाँ हितकारक विहरण, मन को प्रसन्न रखने वाले सुगन्धित द्रव्य, मन को रुचिकर लगने वाले षाडव, चटनी, अचार आदि विविध आहार द्रव्य तथा रुचिकर सुगन्ध वर्ण और रस से युक्त फलमूल आदि का महत्त्व है। इसलिए जो–जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप छर्दि

---

१. अ० संग्रह चि० ४।१४
२. चरक चि० २०।३१–३३
३. चरक चि० २०।३८

रोगी के मन को प्रिय लगता हो भले ही वह रोगी के लिए असात्म्य क्यों न हो, रोगी यदि इच्छा करता है, तो उसे देना चाहिए। इससे रोग का सहज ही शमन हो जाता है।[1]

विसर्प की चिकित्सा–

विसर्प रोग भी वात पित्त और कफ के विकार से ही उत्पन्न होता है। वमन विरेचन एवं वस्तियों द्वारा शरीर का संशोधन करके दोषों को प्रकृतिस्थ करना ही इस रोग की प्रधान चिकित्सा है, जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में की जा चुकी है। इस रोग की चिकित्सा हेतु प्राचीन आचार्यों ने कुछ बाह्य प्राकृतिक प्रयोगों का निर्देश किया है जो उनके प्राकृतिक चिकित्सा पर आस्था पूर्ण अवलम्बन को सूचित करता है। उनके अनुसार वात, पित्त दोष प्रधान विसर्प रोग के व्रणों पर शतधौत घृत अथवा केवल घृत लगाना अथवा घृत मण्ड अर्थात् नवनीत को पिघलाकर निकाले हुए घृत के ऊपरी स्वच्छ भाग का लेप विसर्प व्रण की व्यथा को हरने के साथ व्रण रोपण भी करता है। इसी प्रकार गाय का दूध, मुलेठी का शीतल क्वाथ और दूव के स्वरस से सिद्ध किया हुआ घृत इत्यादि का बाह्य प्रयोग भी प्राचीन आचार्य करते रहे हैं।[2]

तृषा–

तृषा रोग अनेक कारणों से होता है। किन्तु कारण कोई भी हो तृषा का रोगी यदि बलयुक्त है और तीव्र तृषा से उसका तालु सूख रहा हो तो उसे हितकर घृतपान कराना चाहिए। यदि रोगी निर्बल है तो घृत से छौंक कर गाय का दूध अथवा केवल गाय का दूध पिलाना हितकर होता है। यदि तृषा रोग का कारण स्निग्ध अर्थात् पूरी, कचौरी, हलुआ आदि खाना हो तो उसकी शान्ति के लिए प्राचीन आचार्य गुड़ का शर्बत पिलाने की व्यवस्था देते हैं। इसी भाँति उनकी मान्यता है कि तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, मदात्यय, रक्त विकार अथवा विष सेवन के कारण पित्त की अधिक वृद्धि होकर तृषा का कष्ट होने पर स्वभाव से शीतल जल अथवा पकाकर शीतल किया हुआ जल रोगी को यथेष्ट पिलाना चाहिए। इससे तृषा रोग दूर हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त मधु और शर्करा मिश्रित धान्याम्बुभी इस रोग में विशेष हितकर होता है।[4]

विष-हरण के उपाय–

शरीर में किसी भी माध्यम से विष का संचार विविध प्रकार की व्यथाओं और मृत्यु का भी कारण होता है। प्राचीन आचार्यों ने विष निवारण हेतु चौबीस निम्नलिखित

---

१. (क) चरक चि० २० ।४१–४४,
   (ख) चरक चि० गंगाधर टीका २० ।४१–४४
२. चरक चि० २१ ।६३–६६
३. चरक चि० २२ ।५४–५७
४. चरक चि० २२ ।६१

उपाय बतलाये हैं। मन्त्र अरिष्टा बन्धन, उत्कर्त्तन, निष्पीडन, चूषण, अग्नि दाह, परिषेचन, अवगाहन, रक्तमोक्षण, वमन, विरेचन, उपधान, हृदयावरण, अञ्जन, नस्य, धूम, लेह, औषध प्रयोग, प्रशमन, प्रतिसारण, प्रतिविष, संज्ञास्थापन, लेप और मृत संजीवन। इन चौबीस चिकित्सा विधियों का भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में यथावसर प्रयोग किया जाता रहा है।[१] इनमें अठारहवें में 'औषध प्रयोग' हैं, शेष सभी उपाय प्राकृतिक उपचार की श्रेणी के उपाय हैं।

व्रण-चिकित्सा–

व्रण चाहे आन्तर दोषों के विकार से उत्पन्न हो चाहे आगन्तुक दोनों ही प्रकार के व्रणों की चिकित्सा में प्राचीन आचार्यों ने शोधन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह शोधन वमन, विरेचन, वस्ति, और शस्त्र प्रयोग में से अन्यतम के अथवा अनेक के प्रयोग से हो सकता है। वे आचार्य मानते रहे हैं कि शरीर के शुद्ध होने पर व्रण स्वतः शान्त होने लगते हैं।[२] शोधन के अतिरिक्त वे व्रण की चिकित्सा के लिए छत्तीस अन्य उपक्रम बतलाते हैं जिनका अलग–अलग अवसरों पर प्रयोग करना चाहिए। ये छत्तीस उपक्रम निम्नलिखित हैं–शोफघ्न छह प्रकार के शस्त्र कर्म अर्थात् पाटन बाधक छेदन लेखन प्रच्छन और सीवन, अवपीडन, निर्वापण, सन्धान, स्वेदन, शमन, एषण, शोधन कषाय, रोपण कषाय, शोधनलेप, रोपण प्रलेप, शोधन तेल, रोपण तेल, पत्र, बाह्याच्छादन, आभ्यन्तर छादन, दो प्रकार के बन्धन, पथ्य, भोजन, उत्सादन, दो प्रकार के दाह, अवसादन, व्रण को कठिन बनाने वाले धूपों के प्रयोग, व्रण को कोमल बनाने वाले धूपों का प्रयोग, व्रण को कठिन बनाने वाले आलेपन का प्रयोग, व्रण को कोमल बनाने वाले आलेपन का प्रयोग, व्रण के वर्ण को सुन्दर बनाने वाले अवचूर्णनों का प्रयोग, व्रणरोपण चूर्णों का प्रयोग एवं व्रण स्थान में रोम उत्पन्न करने वाले द्रव्यों का प्रयोग।[३] इनमें व्रण की चिकित्सा हेतु अधिकाधिक प्राकृतिक उपक्रम ही संकलित हैं। आज भी यदि प्राकृतिक चिकित्सालयों में व्रण रोगी के उपचार का अवसर हो तो इन उपायों का ही अवलम्बन करना होगा। इससे भिन्न उपक्रमों की सम्भावना नहीं है। आचार्य सुश्रुत ने व्रण की चिकित्सा हेतु जिन साठ उपक्रमों का उल्लेख किया है उनमें अवश्य अधिकांश शल्य–चिकित्सा से सम्बन्धित हैं।

---

१. चरक चि० २३।३५–३७
२. चरक चि० २५।३८–३९
३. चरक चि० २५।४०–४३

मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा–

मूत्रकृच्छ रोग के निवारण के लिए प्राचीन आचार्य अभ्यङ्ग अर्थात् मालिश, स्नेहबस्ति, निरूहण बस्ति, स्नेह युक्त उपनाह (पुल्टिश), उत्तर बस्ति तथा वातनाशक क्वाथों से परिषेक इत्यादि का प्रयोग करते रहे हैं।[1] पित्तज मूत्रकृच्छ्र को जीतने के लिए वे पित्तनाशक वनस्पतियों के क्वाथ को शीतल करके उससे परिषेक (स्नान) अवगाहन (टब बाथ) शरीर पर चन्दन आदि शीतल द्रव्यों का लेप यथा सुलभ शीतोपचार, बस्ति प्रयोग, विरेचन, शीतल दूध का पीना, अंगूर, ताजे विदारी कन्द का स्वरस, गन्ने का रस पिलाना तथा घृत का अभ्यङ्ग आदि उपाय अपनाते रहे हैं। इसी क्रम में वे कमल, नील कमल, सिंघाड़ा, विदारी कन्द अथवा दण्डैरका (होग्गल) की जड़ इनमें जो भी स्थानीय रूप से सुलभ हो उसका शीतल क्वाथ, मधु, शक्कर मिलाकर रोगी को पीने के लिए देते रहे हैं। शीतल जल का प्रयोग भी वे लाभकर मानते रहे हैं।[2] इसी प्रकार श्लेष्मज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण तथा कटुरस प्रधान अन्न पान का सेवन, जौ से निर्मित भोज्य पदार्थों का प्रयोग, स्वेदन, वमन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग, मट्ठा का प्रयोग तथा तिक्त रस प्रधान द्रव्यों से साधित तेल से अभ्यङ्ग एवं पान कराते रहे हैं। इसके साथ ही छोटी इलायची का चूर्ण मधु के साथ खिलाकर कदली दण्ड का स्वरस अथवा महानिम्ब (बकायन) की पत्तियों का स्वरस भी वे रोगी को पिलाना हितकर मानते रहे हैं।[3]

ऊरुस्तम्भ चिकित्सा–

ऊरुस्तम्भ रोग में क्योंकि आम दोष एवं मेदो धातु द्वारा जकड़े हुए वात आदि दोष जांघ तथा उरुप्रदेश में स्थित होते हैं अतः वमन, विरेचन एवं वस्तियों द्वारा निर्हरण संभव नहीं होता, अतः प्राचीन आचार्य इसके लिए पञ्चकर्म का प्रयोग न करके मिट्टी आदि के द्वारा उत्सादन करते रहे हैं। उत्सादन के लिए वे वल्मीक मृत्तिका, करञ्ज की जड़, करञ्ज की छाल, करञ्ज का फल, ईंट का चूरा इन्हें पीस कर इसका प्रयोग करते थे। इनके अतिरिक्त उनका मानना है कि असगन्ध, मदार की जड़ नीम या देवदारु की जड़ इनमें जो भी सुलभ हो उसका चूर्ण पिसी हुई सरसों और वल्मीक की

१. चरक चि० २६।४५

२. चरक चि० २६।४६, ५१

३. चरक चि० २६।५४–५५

मिट्टी और मधु मिलाकर उत्सादन ऊरुस्तम्भ को दूर करता है।[१]

प्राचीन आचार्यों ने प्राकृतिक चिकित्सा का आदर्श रूप ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा में ही निर्दिष्ट किया है। उसके अनुसार इस रोग में बढ़े हुए कफ दोष को क्षीण करने के लिए ऐसे व्यायामों को करने के लिए रोगी को प्रेरित करना चाहिए जिन्हें वह कर सके। उसे प्रातः काल जंगली स्थानों तथा पहाड़ियों पर चढ़ने को प्रेरित करें। कंकरीली या बालुकामय भूमि पर उसे चलाएँ। शीतल जल वाली कल्याण कारक नदी में जिधर बहाव हो उसके विपरीत दिशा की ओर उसे तैरायें अथवा स्वच्छ शीतल बहाव रहित जल वाले सरोवर में उसे बारम्बार तैरायें। इन क्रियाओं के करने से जब ऊरुप्रदेश में फंसा हुआ कफ सूख जाता है, तब ऊरुस्तम्भ रोग शान्त हो जाता है।[२]

वात रोग एवं प्राचीन आचार्यों द्वारा उनकी प्राकृतिक चिकित्सा–

शरीर में वात का सर्वाधिक महत्त्व है। पित्त, कफ और सभी धातुएं स्वयं में पंगु के समान हैं। वात ही उन्हें जिधर ले जाता है, उधर ये मेघ के समान वायु के वेग से चले जाते हैं।[३] वात की इस महिमा के कारण ही आचार्य चरक ने वायु को आयु, बल, प्राणियों को धारण करने वाला और सबका प्रभु स्वीकार किया है।[४] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जिस पुरुष के शरीर में बिना रुकावट वायु का संचार होता रहता है तथा जिसके शरीर में प्राण, अपान आदि सभी वायु अपने–अपने स्थान पर स्थित हों तथा वात दोष अपनी स्वाभाविक स्थिति में हो वह व्यक्ति सौ वर्षों तक नीरोग होकर जीवित रहता है।[५]

यह वायु रुक्ष अर्थात् स्नेहरहित और, शीतवीर्य पदार्थों का सेवन करने से. स्वल्प मात्रा में अथवा अत्यन्त शीघ्र पचने वाले पदार्थों का सेवन करने से, अधिक स्त्री सहवास करने से अथवा रात्रि में अधिक जागरण करने से, विषम चिकित्सा प्रयोगों से अर्थात् वमन–विरेचन आदि शोधन–चिकित्सा विधियों के न्यूनाधिक प्रयोगों से, मल–मूत्र एवं रक्त के अधिक निकल जाने से, अधिक लंघन प्लवन अधिक मार्ग चलने से, अधिक व्यायाम करने से, अन्य चेष्टाओं को उचित रूप से न करने से, रस आदि धातुओं के क्षय होने से अथवा चिन्ता, रोग, शोक तथा चिरकाल तक रोगी रहने से उत्पन्न कृशता, कष्टप्रद, शय्या, कष्टप्रद आसन की बाध्यता, क्रोध, दिन में शयन, भय, अधारणीय वेग को धारण करना, आम दोष, अभिघात (चोट), उपवास, मर्म–स्थल पर चोट लगना, हाथी, घोड़ा आदि से गिरना तथा अवतंसन अर्थात् धातुक्षय आदि कारणों

---

१. चरक चि० २७।४६–५१
२. चरक चि० २७।५८–६०
३. शार्ङ्गधर पूर्व ५।४३–४४
४. चरक चि० २८।३
५. चरक चि० २८।४

से स्रोतों में बलवान् वायु प्रविष्ट होकर कुपित हो जाता है। फलतः वह सर्वांगगत अथवा एकांगगत अस्सी प्रकार के वात रोगों को उत्पन्न करता है।[1]

वात रोगों की चिकित्सा के क्रम में प्राचीन आचार्य चतुर्विध स्नेह अर्थात् घृत, तेल, वसा और मज्जा का बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग, परिषेक, अभ्यङ्ग , वस्ति–प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन, निवातस्थान का सेवन प्रावरण अर्थात् रजाई, कम्बल आदि से शरीर को ढक कर रखना, पौष्टिक, सुपाच्य आहार, दुग्धपान, स्वादु, खट्टे, नमकीन, पौष्टिक आहारों का सेवन आदि को प्रशस्त मानते रहे हैं।[2] इन आचार्यों की मान्यता है कि वात नाशक पत्तियों के क्वाथ को अथवा वातनाशक द्रव्यों के कल्क से सिद्ध दूध तैल आदि को द्रोणी में भर कर अवगाहन कराना वात रोगों को दूर करता है। अवगाहन से पूर्व अभ्यङ्ग अर्थात् मालिश भी अवश्य करनी चाहिए। नाड़ी स्वेदन, उपनाह अर्थात् पुल्टिस एवं वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृत और तेल से अभ्यङ्ग और पान भी अत्यन्त गुणकारी होता है। ऐसी उनकी मान्यता है।[3] उनके अनुसार वात रोगों को दूर करने वाले पदार्थों में तेल सर्वश्रेष्ठ होता है। प्रयोग करने पर वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। यह गुरु, उष्ण तथा स्निग्ध गुणों वाला होता है। अतः इन गुणों से विपरीत गुणवाले वात दोष का नाश करता है। यदि तेल का वातनाशक द्रव्यों से संस्कार कर दिया जाये तो उसके गुणों में और अधिक वृद्धि हो जाती है। जिससे वह और भी शीघ्रता से वात दोष का नाश कर सकता है। यह संस्कार यदि सौ या हजार बार किया जाये तो उसके प्रयोग से सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में स्थित वात विकार भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[4]

वात रोगों की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य मुख्य रूप से पूर्व कर्म अर्थात स्नेहन, स्वेदन सहित पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, वस्ति आदि) का आश्रय लेते रहे हैं।[5] इसकी चर्चा पूर्व अध्याय में विस्तार पूर्वक की गयी है।

वातरक्त की चिकित्सा–

वात–रक्त रोग के निवारणार्थ भी प्राचीन आचार्य प्राकृतिक चिकित्सा को ही सर्वाधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनके अनुसार वातरक्त के रोगी को सर्वप्रथम स्नेहन कराकर स्नेह युक्त विरेचन देना चाहिए। रूक्ष, मृदु विरेचन भी दिया जा सकता है। उसके बाद अनुवासन और निरूह वस्तियाँ परिषेक अभ्यङ्ग प्रदेह अर्थात् लेप आदि का प्रयोग करना चाहिए। बाहर प्रकट वात–रक्त रोग में आलेपन, अभ्यंग, परिषेक,

---

१. चरक चि० २८।१५–१६
२. चरक चि० १८।१०४–१०६
३. चरक चि० २८।१०६–११२
४. चरक चि० २८।१८१–१८२
५. चरक चि० २८।१८७–१९२, १९८, २४०, २४१

उपनाहन (पुल्टिस) द्वारा तथा गम्भीर वात–रक्त में विरेचन, आस्थापनवस्ति तथा स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।[१] वात प्रधान वातरक्त की चिकित्सा हेतु प्राचीन आचार्य स्नेह चतुष्टय अर्थात् घृत तेल वसा और मज्जा का पीने के रूप में मालिश के रूप में और अनुवासन वस्ति के रूप में प्रयोग करते थे तथा रोगाक्रान्त स्थान पर सुखोष्ण उपनाह (पुल्टिस) का प्रयोग भी करते थे। रक्त–पित्त प्रधान वात–रक्त में वे मृदु विचेरन, घृतपान, दुग्धपान, वातहर द्रव्यों के शीतल परिषेक (स्नान), अनुवासन वस्ति–प्रयोग, शीतल एवं निर्वापण प्रलेपों का प्रयोग करके तथा कफ प्रधान वात–रक्त में मृदुवमन तथा सुखोष्ण प्रलेपों का प्रयोग करके चिकित्सा करते थे।[२]

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त प्राचीन आचार्य वातरक्त के निवारणार्थ तेल, दूध, शक्कर को भली प्रकार मथ कर अथवा घृत, तेल, मिश्री और मधु को दूध में मिलाकर रोगी को पिलाते थे। इसी प्रकार शालपर्णी का क्वाथ दूध में मिश्री सहित मिलाकर, पिप्पली और सोंठ का क्वाथं गोमूत्र मिलाकर, धारोष्ण दूध, धारोष्ण दूध के साथ निशोथ का चूर्ण अथवा दूध और एरण्ड का तेल, मुनक्का के रस के साथ निशोथ का चूर्ण अथवा घृत में भून कर हरीतकी के चूर्ण का भी प्रयोग कराते थे।[३] उनके अनुसार त्रिफला का क्वाथ अथवा आंवला, हल्दी और नागरमोथा का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाने से वात–रक्त रोग दूर होता है।[४] इस प्रसंग में घृत एवं दूध की वस्ति को वे सर्वोत्तम चिकित्सा मानते हैं।[५]

योनिव्यापत् चिकित्सा–

पूर्व वर्णित रोग स्त्री और पुरुषों में समान रूप से होते हैं और उनकी चिकित्सा भी समान रूप से ही होती है। स्त्रियों को होने वाले विशेष रोगों में योनि सम्बन्धी रोग मुख्य हैं। प्राचीन आचार्यों ने उसे योनिव्यापद् इस एक नाम से स्मरण किया है। उनकी मान्यता है कि वातज योनि व्यापत्तियों में वातनाशक स्नेहन, स्वेदन और वस्तिप्रयोग बहुत लाभकर होते हैं। पित्तज योनि व्यापत्तियों में रक्त–पित्तनाशक शीतोपचार तथा श्लेष्मज योनिव्यापत्तियों में रूक्ष और उष्ण उपचार करने चाहिए। द्वन्द्वज अथवा त्रिदोषज योनि व्यापत्तियों में मिश्रित प्रयोग हितकर होते हैं। विकृतयोनि की चिकित्सा के लिए स्नेहन, स्वेदन करके योनि को उसके स्थान पर बैठाने की व्यवस्था करनी

---

१. चरक चि० २६।४१–४३
२. चरक चि० २६।४४–४६
३. चरक चि० २६।७६–८४
४. चरक चि० २६।८६
५. चरक चि० २६।८८

चाहिए, क्योंकि स्थान भ्रष्ट योनि स्त्रियों को शल्य की भांति पीड़ाकारी होती है।[1] इसके अतिरिक्त वे कफ प्रधान योनि रोग में कटु रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर, पित्त प्रधान योनि रोग में मधुर रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ में दूध मिला कर तथा वात प्रधान योनि रोग में अम्ल रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ में तेल मिलाकर वस्तियों का प्रयोग करते रहे हैं।[2]

प्रदर चिकित्सा–

स्त्रियों के विशेष रोगों में प्रदर एक मुख्य रोग है। यह श्वेतप्रदर और रक्तप्रदर भेद से दो प्रकार का है। श्वेतप्रदर की चिकित्सा के लिए प्राचीन आचार्य रोहीतक के जड़ की छाल का चूर्ण अथवा आँवले के बीज की गिरी का जल के साथ अथवा आंवले का चूर्ण मधु मिश्री के साथ प्रयोग कराते थे। आंवले के चूर्ण के अतिरिक्त वे आंवले का स्वरस मधु के साथ, पठानी लोध के चूर्ण को बरगद की छाल के क्वाथ के साथ प्रयोग कराते थे। इसी प्रकार कुछ स्थानीय वनस्पतियों का भी वे प्रयोग करते थे।[3]

पुरूषों के धातु रोग एवम् उनकी प्राकृतिक चिकित्सा

पुरुषों के शुक्र सम्बन्धी रोगों में तथा नपुंसकता तक को दूर करने के लिए प्राचीन आचार्य प्राकृतिक उपायों का ही मुख्यतः प्रयोग करते थे। इन उपायों में आस्थापन एवम् अनुवासन वस्तियां, दूध एवं घृत का प्रयोग तथा वृष्य आहार मुख्य रहा है, जिसका प्रयोग वे शरीर वात आदि दोष तथा जठराग्नि के बल को ध्यान में रखकर करते थे। इस क्रम में वे सर्वप्रथम स्नेहन और स्वेदन कराकर स्नेहयुक्त विरेचन देते थे। तदनन्तर उचित पौष्टिक आहार खिलाकर आस्थापन एवम् अनुवासन वस्ति का प्रयोग करते थे।[4] नपुंसकता का कारण यदि ध्वजभङ्ग हो तो वे आचार्य प्रदेह (लेप), परिषेक (स्नान या मेहन स्नान), रक्तमोक्षण, स्नेहपान, स्नेह युक्त विरेचन, अनुवासनवस्ति, पुनः आस्थापन वस्ति आदि उपचार आवश्यक मानते थे।[5] वृद्धावस्था अथवा धातु क्षय के कारण उत्पन्न नपुंसकता के निवारण के लिए भी वे स्नेहन, स्वेदन करके संशोधन करते थे एवम् उसके अनन्तर दूध, घृत तथा उरद गुञ्जा केवांच आदि के बीज आदि वृष्य द्रव्यों का तथा अनुवासन वस्तियों में यापना वस्ति का प्रयोग करते रहे हैं।[6]

---

१. चरक चि० ३० ।४१–४५
२. चरक चि० ३० ।८५–८६
३. चरक चि० ३० ।११६–११८
४. चरक चि० ३० ।१६३–१६७
५. चरक चि० ३० ।१६६–२०१
६. चरक चि० ३० ।२०२–२०३

स्तन्य दोष की प्राकृतिक चिकित्सा

मानव अपने जन्म के अनन्तर पांच छह महीने मुख्य रूप से उसके अनन्तर लगभग इतने ही समय तक गौण रूप से माता अथवा धात्री आया के स्तन्य (दूध) पर ही निर्भर रहता है। यदि आहार विहार के असंयम के कारण स्तन्य दोष हो गया तो शिशु का स्वास्थ्य ही नहीं जीवन भी संकट में पड़ जाता है, अतः चिकित्सा द्वारा स्तन्य शुद्धि अत्यन्त आवश्यक होती है स्तन्य शुद्धि के लिए प्राचीन आचार्य धात्री का स्नेहन और स्वेदन कराकर विधि पूर्वक वमन कराते हुए संशोधन करते थे। वमन के अनन्तर संसर्जन अर्थात् विलेपी पेया आदि के द्वारा उसकी निर्बलता दूर करते थे। उसके अनन्तर दोष काल एवं जठराग्नि के बल को ध्यान में रखते हुए पुनः स्नेहन करके विरेचन दिया करते थे। विरेचन के लिए वे त्रिफला के क्वाथ के साथ निशोथ एवं हरीतकी के चूर्ण को अथवा केवल हरीतकी चूर्ण को मधु के साथ अथवा गोमूत्र के साथ प्रयोग कराते थे। भली प्रकार विरेचन हो जाने पर पुनः संसर्जन कराकर शेष दोष को शालि अथवा साठी के चावल सांवा कोदों अथवा प्रियंगु के चावल अथवा बांस के जौ को छिलके रहित करके भोजन के लिए देते थे। इसके साथ बांस के कोमल अंकुर, वेत के कोमल अंकुर और मटर की पत्तियों का शाक तथा मूंग मसूर और कुलथी की दाल का भी प्रयोग कराते थे। नीम की कोमल पत्तियों, परवल की पत्तियाँ, बैंगन, आँवला एवं त्रिकटु के क्वाथ को भी वे स्तन्यशोधक मानते रहे हैं।[१] उपर्युक्त उपक्रमों के अतिरिक्त गिलोय तथा सप्तपर्ण की छाल का क्वाथ, सोंठ का क्वाथ अथवा चिरायता का क्वाथ पिलाने से भी स्तन्यशुद्धि होती है। यह प्राचीन आचार्य मानते रहे हैं।[२]

प्राचीन आचार्य शरीर के अनेक रोगों का नाम उल्लेख पूर्वक उनके कारण, पूर्वरूप, सम्प्राप्ति, स्वरूप, उपशय की चर्चा करने के अनन्तर भी रोग के मूल को नहीं भूलते। उनका मानना है सभी रोग वात, पित्त और कफ के अप्रकृतिस्थ होने के कारण होते हैं तथा इनके अप्रकृतिस्थ (कुपित) होने के कुछ सुनिश्चित समय सम्बन्धी नियम हैं।[३] जैसे वसन्त में कफ के कुपित होने से उस काल में प्रारम्भ होने वाले रोग प्रायः श्लेष्मज होते हैं। शरद् ऋतु में उत्पन्न रोग पित्तज तथा वर्षा ऋतु में आरम्भ होने वाले रोग प्रायः वातज होते हैं। इसी प्रकार रात्रि और दिन के अन्तिम प्रहरों में प्रारम्भ होने वाले रोग वातज, प्रातः तथा रात्रि के प्रारम्भ में आरम्भ होने वाले रोग कफज तथा मध्य काल में प्रारम्भ होने वाले रोग पित्तज होते हैं।

---

१. चरक चि० ३० ।२५१–२५६
२. चरक चि ३० ।२६१–२६२
३. चरक चि ३० ।३०८–३१२

इसी भांति वृद्धावस्था में वातज बाल्यावस्था में श्लेष्मज एवं यौवन में पित्तज रोग उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भोजन के पच जाने पर वातज रोग बलवान् होते हैं। भोजन के पाक काल में पित्तज तथा भोजन कर लेने के तत्काल बाद श्लेष्मज रोग प्रबल होते हैं।[1] इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि रोग का नाम क्या है। इसकी चिन्ता किये बिना रोग के उदय काल के आधार पर ही वात आदि दोष विशेष की प्रधानता का निश्चय करके उसके अनुकूल चिकित्सा प्रारम्भ कर दे। वे यह भी मानते हैं कि भले ही चिकित्सा के लिए चिकित्सा ग्रन्थों में बड़े–बड़े योगों का वर्णन हुआ है किन्तु उन पर आश्रित न रहकर दोष औषध (उपलब्ध वातादि दोष नाशक द्रव्य) देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, वय और प्रकृति को समझ कर दोषों को प्रकृतिस्थ करने के उपाय रूप चिकित्सा करनी चाहिए। योगों पर आश्रित होना बुद्धिमानी नहीं है।

इन उपर्युक्त अनेकानेक तथ्यों को ध्यान में रखने पर स्पष्ट रूप से विदित होता है कि प्राचीन आचार्य यद्यपि चिकित्सा के प्रसंग में बड़े–बड़े योगों का वर्णन भी करते हैं, किन्तु मूलतः वे स्थानीय रूप से उपलब्ध प्राकृतिक द्रव्यों का उपयोग करते हुए शरीर का शोधन करके ही उसे प्रकृतिस्थ करने का प्रयत्न करते थे। दूसरे शब्दों में उनका सम्पूर्ण चिकित्सा–सिद्धान्त प्राकृतिक चिकित्सा रूप रहा है।

---

१. चरक चि० ३० ।३२६–३२७

८३. १ वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णो मधुरो गुरु :। चरक सू० २७।२४

२ माषो गुरुः स्वादुपाक स्निग्धो रुच्योऽनिलापहः।
भिन्नमूत्रमलः स्तन्योमेदःपित्तकफप्रदः।।
कफपित्तकरो माषः।.................... । भाव प्रकाश नि० ६।१४२–१४४

३ राजमांषः सरो रुच्यः कफशुक्राम्लपित्तमुत्।?
तत्स्वादुर्वातलो रूक्षः।................. चरक सू० २७।२५

४ उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः। कुलत्थाः ....।
चरक सू० २७।२६

५ मुद्गो रूक्षो लघुग्राही कफपित्तहरो हिमः।।
स्वादुरल्पानिलो नेत्र्यो ज्वरघ्नोः वनजस्तथा।। भाव प्र० नि० ६।३६–४०

६ मंकुष्ठो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघु। भाव प्र० नि० ६।५०

८४. १ Garlic prevents and treats a number of diseases without any harm or side-effects provided taken rightly and continuously. A world wide...... into the miracles of garlics has been taking place for a number of years-
Nature Cure : A Way of Life
S.R. Jindal page. 26-27

२ It is stimulating anti-spasmodic, expectorant, laxative and diuretic. It is ideal for treating the respiratory tract problems, skin complaints, leprosy, fever, intestinal disorders, dysentery, colitis, diarrhoea, indigestion, colds, flu, viral and worm infestationns, arthritis, rheumatism, gout, allergy, circulatory problem, obesity, diabetes, stress, tuberculosis and gastric disorders and prevent plague and other epidemics. Nature Cure : A Way of Life by
S.R. Jindal. page 27

३ Garlic......continuosly by cooking or in the form of capsules pearls without the problem of odour and obtain fantastic results. Nature Cure : A Way of life, page 28

८५. १ (क) जीवकर्षभौ मेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णी जीवन्ती मधूकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (१)

(ख) जीवन्तीकाकोल्यौ द्वे मेदे मुद्गमाषपर्ण्यै च।
ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः।। अ० संग्रह सू० १५।६

पृष्ठ सं. २ (क) क्षीरिणी राजक्षवकाश्वगन्धा काकोली क्षीरकाकोली वाट्यायनी भद्रौदनी भारद्वाजी पयस्या ऋष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२)

(ख) वाट्या बला पयस्या काकोल्याविक्षु वाजिगन्धे च।
क्षीरिणी राजक्षवके भारद्वाजी च बृंहणीयोऽयम्।। अ० संग्रह सू० १५।७

३ लेखनम् अनिलानलभूयिष्ठम् सुश्रुत सू० ४१।६

४ (क) मुस्ताकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रावचातिविषाकटुरोहिणीचित्रकचिबिल्वहैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि। चरक सू० ४।६ (३)

(ख) हैमवती चिरबिल्वं मुस्ताकुष्ठवचाहरिद्रे च।
चित्रककटुकाऽतिविषा वर्गोऽयं लेखनीयाख्यः।। अ० सं० सू० १५।८

८६ १ विपक्वं यदपक्वं वा मलादिद्रवतां नयेत्।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा। शार्ङ्गधर पूर्व ४।६,७

२ तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकासीन्यौषधानि।। चरक कल्प १।५

३ विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि। पृथिव्यापो गुर्व्यस्ताः गुरुत्वादधो गच्छन्ति। तस्माद् विरेचनमधो गुणभूयिष्ठमनुमानात्। सुश्रुत सू० ४१।६

४ (क) सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनी शकुलादनी स्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(४)

(ख) अर्कैरण्डौ चित्राचित्रकचिरबिल्वशंखिनी सरलाः।
हेमक्षीरी कटुका बहिर्मुखी भेदनीयानि।। अ० संग्रह सू० १५।६

५ त्रिवृत्सुखविरेचनानां चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्। चरक सू० २५।४०

६ (क) मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकी समङ्गामोचरस धातकी लोध्रप्रियङ्गु–कट्फलानि दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति।। चरक सू० ४।६ (५)

(ख) मधुमधुकपृश्निपर्णीकट्फललोध्रप्रियङ्गुधातक्यः।
अम्बष्ठकीसमङ्गीमोचरसश्चेति सन्धानः। अष्टांग संग्रह सू० १५।१०

८७. १ (क) पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यत्रिकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लात–कास्थिहिंगु निर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(६)

(ख) हिङ्गुमरिचाम्लवेतसदीप्यकभल्लातकास्थिसंयोगात्।
वर्गः सपञ्चकोलो निर्दिष्टो दीपनीयोऽयम्।।अ० संग्रह सू० १५।११

२ (क) ऐन्द्रयृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्ता पयस्याऽश्वगन्धास्थिरारोहिणीबलाऽतिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(७)

(ख) ऐन्द्रयतिरसापयस्या ऋष्यप्रोक्ता स्थिरा बलाऽतिबला।
इति बल्यो दशकोऽयं हयगन्धारोहिणी ऋषभः।।अ० सं० सू० १५।१२

३ (क) चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमञ्जिष्ठा सारिवापयस्यासितालता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(८)

(ख) चन्दनतुङ्गपयस्यासितालतामधुकपद्मकोशीरम्।
वर्ण्यो गणोऽयमुदितो मञ्जिष्ठा सारिवासहितः।। अ० संग्रह सू० १५।१३

८८. १ (क) सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारीकैटर्यहंसपादीबृहतीकण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (६)

(ख) हंसपदी बृहतीद्वयमृद्वीकासारिवेक्षुमूलानि।
कैण्डर्यमधुककृष्णासविदार्यः कण्ठजननानि।।अ० संग्रह सू० १५।१४

२ (क) आम्राम्रातकलिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (१०)

(ख) वृक्षाम्लबदरदाडिमकुवलाम्राम्रातकलिकुचकरमर्दम्।
हृद्यं समातुलुङ्गाम्लवेतसं विद्धि वर्गमिमम्।। अ० संग्रह सू० १५।१५

३ (क) नागरचव्यचित्रकविडङ्गमूर्वागुडूचीवचामुस्तपिप्पलीपटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (११)

(ख) नागरचविका चित्रकविडङ्गमूर्वाऽमृतावचामुस्ताः।
सह पिप्पलीपटोलास्तृप्तिघ्नोऽयं गणः प्रथितः।।अ० संग्रह सू० १५।१६

४ (क) कुटजबिल्वचित्रकनागरातिविषाऽभयाान्वयासकदारुहरिद्रावचाचव्यानीति दशेमानि अर्शोघ्नानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(१२)

(ख) कुटजफलबिल्वचित्रकमहौषधप्रतिविषावचाचविकाः।
धन्वयवासं पथ्या दारुहरिद्रा गणोऽयमर्शोघ्नः।। अ० संग्रह सू० १५।१७

८९. १ (क) तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमाचरेत्। सुश्रुत चि० ६।६

(ख) कुष्ठिनं स्नेहपानेन पूर्वं सर्वमुपाचरेत्। अ० हृदय चि० १९।१

(ग) वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं वाग्रे।। चरक चि० ७।३९

२ (क) खदिराभयामलकहरिद्राऽरुष्कसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातीप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(१३)

(ख) खदिरामलकारुष्कनिशाऽभयासप्तपर्णकरवीराः।
कुष्ठघ्नाश्चतुरङ्गुलविडङ्गजातिप्रवालाश्च ।।अ० संग्रह सू०१५।१८

पृष्ठ सं. ३ (क) चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बकुटजसर्षपमधुकदारुहरिद्रामुस्तानि इति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (१४)

(ख) नलदकृतमालचन्दनसर्षपघननिम्बकुटजमधुकानि।
कण्डूं दारुहरिद्रासननक्तमालानि निघ्नन्ति।।अ० संग्रह सू० १५।१६

४ विंशतिः कृमिजातयः इति यूकाः पिपीलिकाश्चेति द्विविधाः बहिर्मलजाः। केशादा लोमादा लोमद्वीपा सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजाः।। चरक सू० १६।४ (६)

६० १ अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादाश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्त कफजाः, ककेरुका मकेरुका लेलिहा सशूलका सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजाः। चरक सू० १६।४ (६)

२ (क) अक्षीवमरिचगण्डीरकेबुकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणिहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिका इति दशेमानि कृमिघ्नानि। चरक सू० ४।६(१५)

(ख) अक्षीव मरिचकेम्बुकविडङ्गगण्डीरकिणिहिनिर्गुण्ड्यः।
घ्नन्ति कृमीन् श्वदंष्ट्राविषाखुपर्ण्यस्तथा न चिरात्।।अ० संग्रह सू० १५।२०

३ (क) हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकतकशिरीषासिन्धुवार श्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (१६)

(ख) मञ्जिष्ठाश्लेष्मातकरजनीसुवहा शिरीषपालिन्द्य :।
सैलाचन्दनकतकाः ससिन्दुवारा विषं घ्नन्ति।। अ० संग्रह सू० १५।२१

४ (क) वीरण शालिषष्ठिकेक्षुबालिका दुर्भकुशकास गुन्द्रेरकदकत्तृणं मूलानीति दशेमानिस्तन्य जननानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (१७)

(ख) शालिकुशकाशषष्ठिकवीरणदर्भेक्षु बालिकेक्षूणाम्।,
तद्वद् गुन्द्रेत्कटयो र्मूलमलं स्तन्यजननाय।। अ० संग्रह सू० १५।२२

६१. १ (क) पाठामहौषधासुरदारुमुस्तभूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटु–रोहिणीसारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति।

चरक सू० ४।६(१८)

(ख पाठानागरसुरतरुघनाऽमृतासारिवेन्द्रयवमूर्वाः।
कटुकाकिराततिक्तं वर्गोऽयं स्तन्यशुद्धिकरः।। अष्टांग संग्रह सू० १५।२३

२ वचामुस्ताऽतिविषाऽभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति।
हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति।।
एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ।
आमातिसारशमनौ विशेषाद् दोषपाचनाः।। सुश्रुत सू० ३८।२६–२८

३ (क) जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहा जटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति।

चरक सू० ४।६(१६)

(ख) मेदा काकोलीद्वयवृक्षरुहा जीवकर्षभकुलिङ्गा ।
शुक्रजननोगणोऽयं सहजटिलाशूर्पपर्णीभिः । अ० संग्रह सू० १५।२४

४ (क) कुष्ठैलबालुककट्फलसमुद्रफेनकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्ष्विक्षुरकवसुको–
शीराणि दशेमानि शुक्रशोधनानि। चरक सू० ४।६ (२०)

(ख) कुष्ठैलबालुकट्फलकाण्डेक्ष्विक्ष्वब्धिफेनकोशीरैः।
वसुकेक्षुरकैः शुक्रं शुद्धरोत्सकदम्बनिर्यासैः।। अ० संग्रह सू० १५।२५

६२. १ (क) मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवन जीवन्ती
शालपर्ण्यः इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति।चरक सू० ४।६(२१)

(ख) द्राक्षा काकोलीद्वयमधुपर्णीमधुकजीवकविदार्यः।
स्नेहोपगाः समेदा जीवन्ती शालिपर्णिकाः।। अ० संग्रह सू० १५।२६

२ (क) शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति
दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२२)

(ख) शोभाञ्जनकपुनर्नवावृश्चीरवकुलकुलत्थमाषबदराणि।
स्वेदोपगानि विद्यात्सयवतिलार्कोरुबूकानि।। अ० संग्रह सू० १५।२७

३ मधुमधूककोविदारकर्बुदारनीपबिदुलबिम्बीशणपुष्पीप्रत्यक्पुष्पीः इति दशेमानि
वमनोपगानि भवन्ति।। चरक सू० ४।६(२३)

४ द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकबिभीतककुवलबदरकर्कन्धूपीलूनि दशेमानि
विरेचनोपगानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२४)

६३ १ त्रिवृद्बिल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति
दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२५)

२ रास्नासुरदारुबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वादंष्ट्राग्निमन्थश्योनाका इति
दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२६)

३ ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता
इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२७)

४ (क) जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गाम्लबदरदाडिमयवषष्ठिकोशीरमृल्लाजा इति
दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (२८)

(ख) लाजाम्रबदरदाडिमयवषष्ठिकमातुलुङ्गसेव्यानि।
जम्ब्वाम्रपल्लवानि वमिनिग्रहणानि मृत्स्ना च।। अ० संग्रह सू० १५।२८

५ (क) नागरधन्वयवासकमुस्तपर्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीह्रीबेरधान्यक
पटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(२९)

(ख) नागरधन्वयवासकबालकपर्पटकचन्दनगुडूच्यः।

भूनिम्बघनपटोलीकुस्तुम्बर्यस्तृषां घ्नन्ति ।। अ० संग्रह सू० १५ ।२६

६ (क) शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षतरुरुहाऽभयापिप्पलीदुरा–लभाकुलीरशृङ्ग्य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति।

चरक सू० ४ ।६ (३०)

(ख) बृहतीद्वयवृक्षसहापुष्करमूलाभयाकणाशृङ्ग्यः।
हिध्मां निघ्नन्ति शटीदुरालभा बदरबीजं च।। अ० संग्रह सू० १५ ।३०

६४. १ (क) प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरसमङ्गा धातकीपुष्पपद्म केसराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति।। चरक सू० ४ ।६(३१)

(ख) श्यामानन्तापद्माकट्वङ्गः पद्मकेसरं लोध्रम्।
धातकिकुसुमसमङ्गा मोचरसाम्रास्थिविड्ग्रहणम्।। अ० संग्रह सू० १५ ।३१

२ (क) जम्बुशल्लकीत्वक्कच्छुरामधूकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत्पयस्योत्प–लतिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति।

चरक सू० ४ ।६(३२)

(ख) जम्बूसल्लकिमधुकं नीलोत्पलकच्छुरातिलश्रयाह्वम्।
भृष्टा च मृत्पयस्या सशाल्मलीविड्विरजनानि।। अ० संग्रह सू० १५ ।३२

३ (क) जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति। चरक सू० ४ ।६ (३३)

(ख) जम्ब्वाम्रोदुम्बरवटकपीतनप्लक्षपिप्पलाश्मन्तम्।
भल्लातसोमवल्कं मूत्रग्रहणाय निर्दिष्टम्।। अ० संग्रह सू० १५ ।३३

४ (क) पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधुकप्रियङ्गुधातकी पुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति। चरक सू० ४ ।६ (३४)

(ख) कमलनलिनकुमुदमधुकसौगन्धिकधातकीलताकुसुमम्।
मूत्रं नयति विरागं सोत्पलशतपत्रपुण्डरीकं च।। अ० संग्रह सू० १५ ।३४

६५. १ (क) वृक्षादनीश्वदंष्ट्रावसुकवशिरपाषाणभेददर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति। चरक सू० ४ ।६(३५)

(ख) वृक्षादनीश्वदंष्ट्रादर्भेत्कटवसुकवशिरकुशकाशाः।
मूत्रं विरेचयेयु र्गुन्द्रापाषाणभेदश्च।। अ० संग्रह सू० १५ ।३५

२ (क) द्राक्षाभयामलकपिप्पलीदुरालभाशृङ्गीकण्टकारिकावृश्चीर पुनर्नवातामलक्यः इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति। चरक सू० ४ ।६(३६)

(ख) द्राक्षामलकपुनर्नवावृश्चीरदुरालभाऽभयाकृष्णाः।
कासं घ्नन्ति सशृङ्गी तामलकीकण्टकारी च।। अ० संग्रह सू० १५।३६

३ (क) शटीपुष्करमूलाम्ल . लैलाहिंग्वगुरुसुरसातामलकीजीवन्तीचण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति।। चरक सू० ४।६(३७)

(ख) चण्डाम्लवेतसशटीतामलकीसुरसाहिङ्गुजीवन्त्यः।
पुष्करमूलैलाऽगुरु वर्गोऽयं श्वासशमनाय।। अ० संग्रह सू० १५।३७

६६. १ (क) पाटलाग्निमन्थश्योनाकबिल्वकाश्मर्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णी–पृश्निपर्णी गोक्षुरका इति दशेमानि श्वयथुहराणि भवन्ति।चरक सू० ४।६ (३८)

(ख) शमयति.......शोफं दशमूलमाढ्यञ्च।। अ० संग्रह सू० १५।४४

२ शालपर्णीपृश्निपर्णीवार्त्ताकीकण्टकारिका।
गोक्षुरः पञ्चभिश्चैते कनिष्ठं पञ्चमूलकम्।। भाव प्र० नि० ३।४७

३ श्रीफलं सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका।
स्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्तमम्।। भाव प्र० नि० ३।२६

४ उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्।
दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः।
तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडारुचीर्हरेत्।। भाव प्र० नि० ३।४९–५०

५ सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषक अभयाऽमलक बिभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति। चरक सू० ४।६(३९)

६ द्राक्षापीलुपरूषकं मञ्जिष्ठासारिवाऽमृतापाठाः।
त्रिफला चेति गणोऽयं ज्वरस्य शमनाय निर्दिष्टः।। अ० सं० सू० १५।३८

६७. १ (क) द्राक्षाखर्जूरप्रियालबदरदाडिमफल्गुपरूषकेक्षुयवषष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (४०)

(ख) दाडिमफल्गुपरूषकप्रियालयवषष्टिकेक्षुबदराणि।
श्रमनाशनानि विद्याद् द्राक्षाखर्जुरसहितानि।। अ० संग्रह सू० १५।३६

२ (क) लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूचीह्रीवेराणि इति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(४१)

(ख) पद्मकलाजोशीरं मधुकोत्पलसारिवासितोदीच्यम्।
काश्मर्यफलचन्दनमेषगणो दाहहा प्रोक्तः।। अ० संग्रह सू० १५।४०

३ (क) तगरागुरुधान्यकशृङ्गवेरभूतीकवचा कण्टकार्याग्निमन्थश्योनाकपिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति। चरक सू० ४।६ (४२)

(ख) तगरागुरुवचाधान्यकभूतीकपिप्पलीव्याघ्र्यः।
शीतं शमयन्त्यचिरात् स्योनाकः साग्निमन्थश्च।। अ० संग्रह सू० १५।४१

४ शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः।।

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः सञ्जायते बहिः।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्।।
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः।।माधव निदान ५०।१,३–४

५ (क) तिन्दुकप्रियालबदरखदिरकदरसप्तपर्णाश्वाकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमानि भवन्ति।। चरक सू० ४।६ (४३)

(ख) तिन्दुकप्रियालबीजकसप्तच्छदखदिरकदरबदराणि।
अरिमेदवाजिकर्णौ ककुभश्चोदर्दशमनानि।।अ० संग्रह सू० १५।४२

६८. १ (क) विदारीगन्धापृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकैरण्डकाकोलीचन्दनोशीरैलामधु–कानीति दशेमान्यङ्गमर्द प्रशमनानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(४४)

(ख) काकोल्येलासेव्यं निदिग्धिके शालिपृश्निपर्ण्यौ च।
घ्नन्त्यङ्गमर्दमचिराच्चन्दनमधुकोरुबूकं च।। अ० संग्रह सू० १५।४३

२ (क) पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकश्रृंगवेरमरिचाजमोदाजगन्धाऽजाजी। गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(४५)

(ख) दीप्यकमरिचाजाजीगण्डीरं साजगन्धमथ शूलम्
शमयति सपञ्चकोलम्...................... ।। अ० संग्रह सू० १५।४४

३ (क) मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियङ्गुशर्करालाजाः इति दशेमानि शोणितस्थापनानि। चरक सू० ४।६ (४६)

(ख) मधुमधुकलाजागैरिकफलिनीमोचरसमृत्कपालानि।
संस्थापयन्ति रुधिरं च सशर्करं लोध्रम्।। अ० संग्रह सू० १५।४५

४ (क) शालकट्फलकदम्बपक्षकतुम्बमोचरसशिरीषवञ्जुलैवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति। चरक सू० ४।६(४७)

(ख) शैलैलवालुककट्फलमोचरसाशोकपद्मशिरीषम्।
स्थापयति वेदनामथ सह तुङ्कदम्बविदुलं च।। अ० संग्रह सू० १५। ४६

९९. १ (क) हिंगुकैटर्यारिमेदावचाचोरकवयस्थागोलोमी जटिलापलङ्कषाऽशो करोहिण्यः इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति। चरक सू० ४।९(४८)

(ख) कैटर्यहिङ्गुचोरकपलङ्कषाऽशोकरोहिणिवयस्थाः।
पूत्यरिमेदोजटिलागोलोमिवचाश्च संज्ञादाः।। अ० संग्रह सू० १५।४७

२ क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।। अथर्ववेद ४।१७।६

३ (क) ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवाऽरिष्टावाट्यपुष्पी विष्वक्सेनकान्ता इतिदशेमानि प्रजास्थापनानि। चरक सू० ४।९(४९)

(ख) ऐन्द्री दूर्वाऽमोघा विष्वक्सेनाव्यथा शिवाऽरिष्टा।
ब्राह्मी सवाट्यपुष्पी शतवीर्या स्थापयेद् गर्भम्।। अ० संग्रह सू० १५।४८

४ (क) अमृताऽभया धात्री जीवन्ती श्रेयसी स्थिरा युक्ता।
मण्डूकपर्ण्यतिरसा स्थापयति पुनर्नवा च वयः।। अ० संग्रह सू० १५।४९

(ख) अमृता ऽभयाधात्री युक्ता स्वेता जीवन्त्यतिरसा मण्डूकपर्णी स्थिरा पुनर्नवा इति दशेमानि वयः स्थापनानि भवन्ति। चरक सू० ४।९ (५०)

१०१. १ संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौच–मन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते।
चरक वि० १।२२(२)

२ पूर्वेवयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनो सदा।।
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनोः विधिः।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः।। सुश्रुत चि० २७।३–४

३ शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक्पीतं स्थापयेद्वयः ।। सुश्रुत चि २७।६

४ वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसाऽऽलोड्य पिबेत्। जीर्णे पयः सर्पिरोदनः इत्याहारः प्रतिषेधोऽत्र पूर्ववत्। (अलवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्।) प्रयोगमिममुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम्। सुश्रुत चि० २७।११ (१)

५ एतेनैव (वराहीकन्दस्य) चूर्णेन पयोऽवचूर्ण्य शृतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुञ्जीत सायं प्रातरेककालं वा जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः। एवं मासमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति। सुश्रुत चि० २७।११(२)

१०२ १ पयसा सह सिद्धानि नरः शणफलानि यः।
भक्षयेत्पयसा सार्धं वयस्तस्य न शीर्यति।। सुश्रुत चि० २७।१३

२ तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथाबलम् शीततोयेनो– पयुञ्जीत, शीततोयं चानुपिबेत् एवमहरहर्मासम्। तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा मधूद्राक्षाक्वाथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा गुडूचीक्वाथेन वा एवमेते पञ्च प्रयोगः भवन्ति। जीर्णे मुद्गामलक यूषेणालवणे नाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्यनीयात्। एते खल्वर्शांशि क्षपयन्ति, कृमीनुपघ्नन्ति ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति। मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। सुश्रुत चि० २७।७

३ शर्करासिन्धुशुण्ठीभिः कृष्णामधुगुडेन वा।
द्वे द्वे खादेद् हरीतक्यौ जीवेद् वर्षशतं सुखी। अग्निपुराण २८५।६२–६३

४ पथ्यासैन्धवकृष्णानां चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत्।
विरेकः सर्वरोगघ्नः श्रेष्ठो नाराचसंज्ञकः।। अग्निपुराण २८५।७६–७७

५ क्षीरेणमधुना वापि शतायुः खण्डदुग्धभुक्।
मध्वाज्यशुण्ठीं संसेव्य पलं प्रातः स मृत्युजित्।। अग्निपुराण २८६।४–५

६ वलीपलितजिज्जीवेत् माण्डूकीचूर्णदुग्धपाः। अग्निपुराण २८६।५

७ उच्चटां मधुना कर्षं पयपा मृत्युजिन्नरः। अग्निपुराण २८६।६

८ पलाशतैलं कर्षैकं षण्मासं मधुना पिबेत्।
दुग्धभोजी पञ्चशती, सहस्स्रायुर्भवेन्नरः।।
ज्योतिष्मती पत्ररसं पयसा त्रिफलां पिबेत्।। अग्निपुराण २८६।७–८

१०३ १ मधुनाज्यं ततस्तद्वत् शतावर्याः रजः पलम्। अग्निपुराण २८६।८

२ क्षौद्राज्यैः पयसा वापि निर्गुण्डी रोग मृत्युजित्। अग्निपुराण २८६।६

३ पञ्चाङ्गनिम्बचूर्णस्य खदिरक्वाथभावितम्।
कर्षं भृङ्गरसेनापि रोगजिच्चामरो भवेत्।।
रुदन्तिकाज्यमधुभुक् दुग्धभोजी च मृत्युजित्।। अग्निपुराण २८६।६–१०

४ कर्षचूर्णं हरीतक्या भावितं भृङ्गराड्रसैः।
घृतेन मधुना सेव्यस्त्रिशतायुश्च रोगजित्।। अग्निपुराण २८६।११

५ कर्षमक्षं समध्वाज्यं शतायुः पयसा पिबन्।
अभयां सगुडं जग्ध्वा घृतेन मधुरादिमिः।
दुग्धान्नभुक्कृष्णकेशोऽरोगी पञ्चशताब्दवान्।। अग्निपुराण २८६।१६–१७

६ पलं कूष्माण्डिकाचूर्णं मध्वाज्यं पयसा पिबन्।
मासं दुग्धान्नभोजी च सहस्रायुविरोगवान्।। अग्नि पुराण २८६।१८

७ कटुतुम्बीतैलनस्यं कर्षं शतद्वयाब्दवान्।
त्रिफलापिप्पलीशुण्ठीसेविता त्रिशताब्दवान्। अग्नि पुराण २८६।१६–२०

८ तिलस्य तैलं समधु नस्यात् कृष्णकचीशतम्। अग्नि पुराण २८६ ।१६

१०४ १ वस्तिर्विरेको वमनं तैलं सर्पिस्तथा मधु।
वातपित्तबलाशानां क्रमेण परमौषधम्।। अग्नि पुराण २७६ ।६३

२ स्नेहपाने तथा बस्तौ तैलं घृतमनुत्तमम्।
स्वेदनीयः परो वह्निः शीताम्भः स्तम्भनं परम्।।
त्रिवृद्धि रेचने शस्ता वमने मदनं तथा। अग्नि पु० २७६ ।६१–६२

३ रक्षन् बलं हि ज्वरितं लंघितं भोजयेद्भिषक्।
सविश्वं लाजमण्डं तु तृड्ज्वरान्तं शृतं जलम्।।
मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।
षडहे च व्यतिक्रान्ते तिक्तकं पाययेद् ध्रुवम्।।
स्नेहयेत्त्यक्तदोषं तु ततस्तं च विरेचयेत्।
जीर्णाः षष्टिकनीवाररक्तशालिप्रमोदका।।
तद्विधास्ते ज्वरेष्विष्टा यवानां विकृतिस्तथा।। अग्नि पु० २७६ ।३–६

४ मुद्गा मसूराश्चणकाः कुलत्थाश्च सकुष्ठकाः।
आढक्यो नारकाद्याश्च कर्कोटककटोल्वकम्।।
पटोलं सफलं निम्बं पर्पटं दाडिमं ज्वरे।। अग्नि पु० २७६ ।६–७

१०५ १ अधोगे वमनं शस्तमूर्ध्वगे च विरेचनम्।
रक्तपित्ते तथा पानं षडङ्गं शुण्ठिवर्जितम्।।
सक्तुगोधूमलाजाश्च यवशालिमसूरकाः।
सकुष्ठचणका मुद्गाः भक्ष्या गोधूमका हिताः ।। अग्नि पु० २७६ ।८–६

२ शोथवान् सगुडां पथ्यां खादेद् वा गुडनागरम् । अग्नि पु० २७६ ।२४

३ तक्रं च चित्रकञ्चोभौ ग्रहणीरोगनाशनौ। अग्नि पु० २७६ ।२४

४ मधु सर्पिः पयः शक्रं निम्बपर्पटकौ वृषम्।
तक्रारिष्टाश्च शस्यन्ते सततं वातरोगिणाम्।। अग्नि पु० २७६ ।२६

५ हृद्रोगिणो विरेच्यास्तु पिप्पल्यो हिक्किनां हिताः। अग्नि पु० २७६ ।२७

६ सक्षौद्रपयसा लाक्षां पिबेच्च क्षतवान् नरः।। अग्नि पु० २७६ ।२८

७ पथ्या तथैवार्शसां यन् मण्डं तक्रं च वारिणा।
मुस्ताभ्यासस्तथा लेपश्चित्रकेण हरिद्रया।
यवान्नविकृतिः शालिर्वास्तूकं ससुवर्चलम्।। अग्नि पु० २७६ ।३०–३१

८ त्रपुषैवारुगोधूमाः क्षीरेक्षु घृतसंयुताः।
मूत्रकृच्छ्रे च शस्ताः स्युः पाने मण्डसुरादयः।। अग्नि पु० २७६ ।३२

१०६ १ शाल्यन्नं तोयपयसी केवलोष्णे शृतेऽपि वा।
तृष्णाघ्ने मुस्तगुडयोर्गुटिका वा मुखे घृता।। अग्नि पु० २७६।३४

२ यवान्नविकृतिः पूपं शुष्कमूलकजं तथा।
शाकं पटोलवेत्राग्रमुरुस्तम्भविनाशनम्।।
मुद्गाढकं मसूराणां सतिलैः जाङ्गलैः रसैः।
ससैन्धवघृतद्राक्षासुण्ठ्यामलककोलजैः ।
यूषैः पुराणगोधूमयवशाल्यन्नमभ्यसेत्।। अग्नि पु० २७६।३५–३७

३ भृङ्गराजरसे सिद्धं तैलं धात्रीरसेऽपि वा।
नस्यं सर्वामयेष्विष्टं मूर्धजं तद्भवेषु च।।
शीततोयान्नपानं च तिलानां विप्रभक्षणम्।
द्विजदार्ढ्यकरं प्रोक्तं तथा तुष्टिकरं परम्।
गण्डूषं तिलतैलेन द्विजदार्ढ्यकरं परम्।। अग्नि पु० २७६।४०–४२

४ धात्रीफलान्यथाज्यं च शिरोलेपनमुत्तम्।
शिरोरोगविनाशाय स्निग्धमुष्णं च भोजनम्।। अग्नि पु० २७६।४३

५ तैलं वा बस्तमूत्रं वा कर्णपूरणमुत्तमम्।।
कर्णशूलविनाशाय सर्वशुक्तानि वा द्विज।। अग्नि पु० २७६।४४

६ विडङ्गचूर्णगोमूत्रं सर्वत्र कृमिनाशने।। अग्नि पुराण २७६।४२

७ व्योषं त्रिफलया युक्तं तुच्छकञ्च तथा जलम्।
सर्वाक्षिरोगशमनं तथा चैव रसायनम्।। अग्नि पु० २७६।४६

१०७ १ भक्षणं निम्बपत्राणां सर्पदष्टस्य भेषजम्।
वृश्चिकार्त्तस्य कृष्णा वा शिवा च फलसंयुता।
अर्कक्षीरं तिलतैलं पललं च गुडं समम्।
पानाज्जयति दुर्वारं श्वविषं शीघ्रमेव तु।। अग्नि पु० २७६।५६–५७,५६

२ रात्रिभुक्तदिनानां च वयसश्च तथैव च।
आदिमध्यावसानेषु कफपित्तसमीरणाः।।
प्रकोपं यान्ति कोपादौ काले तेषाञ्चयः स्मृतः।
कोपोत्तरके काले शमस्तेषां प्रकीर्त्तितः।। अग्नि पु० २८०।२६–३१

३ अतिभोजनतो विप्र तथा चाभोजनेन च।
रोगा हि सर्वे जायन्ते वेगोदीरणधारणैः।। अग्नि पु० २८०।३१,३२

४ अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशावेकं पानेन पूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां तथैकमवशेषयेत्।। अग्नि पु० २८०।३२,३३

५ कदन्नभोजनाद् वायुर्देहे शोकाच्च कुप्यति।
विदाहिनां तथोल्कानामुष्णान्नाध्वनिसेविनाम्।।
पित्तं प्रकोपमायाति भयेन च तथा द्विज।
अत्यम्बुपानगुर्वन्नभोजिनां भुक्तशायिनाम्।।
श्लेष्मा प्रकोपमायाति तथा ये चालसा जनाः।। अग्नि पु० २७० ।४१–४३

१०८ १ स्निग्धोष्णमन्नमभ्यङ्गस्तैलपानादिवातनुत्।
आज्यं क्षीरं सिताद्यञ्च चन्द्ररश्म्यादिपित्तनुत्।।
सक्षौद्रं त्रिफलातैलं व्यायामादिकफापहम्।
सर्वरोगप्रशान्त्यै स्याद् विष्णोः ध्यानं च पूजनम्।। अग्नि पु० २८० ।४७–४८

२ ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्।। चरक चि० ३ ।१३६–१४०

३ आमेन भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते।
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्।। अ० हृदय चि० १ ।१०

४ लंघनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे।। चरक चि० ३ ।१४२–१४३

५ दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्।। चरक चि० ३ ।१४३–१४४

१०९ १ द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले।
सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया।। शार्ङ्गधर मध्य ३ ।१८७

२ लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम्।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वामल्पाग्निराहितः ।। चरक चि० ३ ।१७९–१८०

३ अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम्।
सृष्टविट्पैत्तिको वाथ शीतां मधुयुतां पिबेत्।। चरक चि० ३ ।१८०–१८१

४ पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्वबस्तिशिरोरुजि।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धा ज्वरहरां पिबेत्।। चरक चि० ३ ।१८१–१८२

५ बिबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम्।
सपिप्पलीं पिबेत् पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम्।। चरक चि० ३ ।१८४–१८५

६ कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत्पेयां शृतां ज्वरी।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः।। चरक चि० ३ ।१८५–१८६

७ अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्त्तः पिबेत् पेयां सशर्कराम्।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम्।। चरक चि० ३ ।१८७–१८८

११०. १ कलिंगकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी।

पटोलः सारिवामुस्तं पाठाकटुकरोहिणी।।
निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीकामुस्तवत्सकौ।
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम्।।
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः।
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधान् ज्वरान्।।
सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान्।। चरक चि० ३।२००–२०३

२ ज्वराः कषायै र्वमनैः लङ्घनै र्लघुभोजनैः।
रूक्षस्य ये न शाम्यंन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्।।
कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिता।
प्रयोज्याः ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणाः शिवाः।। चरक चि० ३। २१६–२१७

३ (क) जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम्।
पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम्।। चरक चि० ३।२३६

(ख) सर्वज्वराणां जीर्णानां क्षीरं भैषज्यमुत्तमम्। शार्ङ्गधर मध्य २।१६२

४ (क) कासाच्छ्वासच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात्।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः।। चरक चि० ३।२३४

(ख) श्वासात्कासाच्छिरः शूलात पार्श्वशूलात्सजीन स्रात्।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पंचमूली शृतंपयः।। शार्ङ्गधर म० २।१६३

५ क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषं कर्त्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः।। शार्ङ्गधर म० २।१६१

६ एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात्सपरिकर्त्तिकात्।
पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद् बिल्वशलाटुभिः।। चरक चि० ३।२३५

७ त्रिकण्टकबलाव्याघ्री गुडनागरसाधितम्।
वर्चो मूत्रविबन्धघ्नं शेफज्वरहरं पयः।। चरक चि० ३।२३६

८ सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षीरशर्करम्।
शृतं पयः सखर्जूरम् पिपासाज्वरनाशनम्।। चरक चि० ३।२३७

६ चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः।
धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत्।। चरक चि० ३।२३८

१० मध्वारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च
सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शवत्वात्। चरक चि० ३।२५६

१११ १ पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च।
कदलीनां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च।।

चन्दनोदकशीतेषु शीते धारागृहेऽपि वा।

हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्त्तः संविशेत्सुखम्।। चरक चि० ३।२६०–२६१

२ हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च।
चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत्।। चरक चि० ३।२६२

३ स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनै र्विविधैरपि।
शीतवातवहै र्व्यज्येत् चन्दनोदकवर्षिभिः।। चरक चि० ३।२६३

४ नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः।
अवगाहे हिताः दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः।। चरक चि० ३।२६४

५ प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः।
सान्त्वयेषुः परैः कामै र्मणिमौक्तिकभूषणाः।।
शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च।
वायवश्चन्द्रपादाश्च शीताः दाहज्वरापहाः।। चरक चि० ३।२६५–२६६

११२. १ महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत्।।
तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च।
घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः।। चरक चि० ४।५–६

२ प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्।
वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लंघ्यमादितः।।
ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः श्रृतम्।
केवलं श्रृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे।। चरक चि० ४।२६,३१

३ ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते।
कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृतिकल्पवित्।। चरक चि० ४।३२

(४) जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः।
शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम्।।
तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजाचूर्णैः प्रदापयेत्।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति।।
मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत्।
दाडिमामलकैर्विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत्।। चरक चि० ४।३३–३५

११३ १ शालिषष्ठिकनीवारकोरदूषप्रशन्तिकाः।
श्यामकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम्।।
मुद्गाःमसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः।
प्रशस्ता सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम्।।
पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः।

किराततिक्तकं शाकं गण्डीरसकदिल्लकः।।

कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्यस्याथ शाल्मलेः।
अन्नपाकविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत्।।
स्विन्नं वा सर्पिषा सृष्टं यूषवद्वा विपाचितम्। चरक चि० ४।३६–४०

२ रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते।
चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत्सनागरे।।
किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च।
धातकी धन्वया साम्बुबिल्वानां वा रसे शृता।।
मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरा मुद्गरसेऽथवा।
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे।।
सिद्धा पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक् पृथक्।
इत्युक्ताः रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः।
यवाग्वः कल्पना चैषा कार्या मांसरसेष्वपि।। चरक चि० ४।४३,४५–४८

३ पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः।
जले साध्या रसे तस्मिन्पेया स्याद् रक्तपित्तिनाम्।। चरक चि० ४।४४

४ (क) द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले।
सिद्धा पेया बुधै र्ज्ञेया यूषः किञ्चिद् घनस्ततः।।
शार्ङ्गधर मध्य २।१६७–१६८

(ख) यवागू षड्गुणजले सिद्धा स्यात् कृशरा घना।
तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलै र्वा साधिता हिता।
यवागू ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशनी।। शार्ङ्गधर मध्य २।१६५–१६६

५ किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
ह्रीवेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम्।।
धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वङ् न्यग्रोधशालेययवासकत्वक्।
तुगालता वेत। सतण्डुलीयं ससारिवं मोचरसः समङ्गा।।
पृथक्पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र।।
चरक चि० ४।७४–७६

११४ १ निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्की कृता वा मृदिताः शृता वा।
एते समस्ताः गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः।।
चरक चि० ४।७७

२ मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।
बलाजले पर्युषिताः कषायाः रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम्।।
चरक चि० ४।७८

३ उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्ठस्य च यः प्रसादः।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगमप्रशमाय देयः।।

प्रियङ्गुका चन्दनलोध्रसारिवा मधूकमुस्ताभयधातकी जलम्।
समृत्प्रसादं सह यष्टिकाम्बुना सशर्करं रक्तनिबर्हणं परम्।।

चरक चि० ४।८०–८१

४ द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।
सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा। चरक चि० ४।८४

११५ १ शतावरी गोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाप्यथ पर्णिनीभिः।
रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात्सरुजं प्रयाति।
विशेषतो विट् पथसम्प्रवृत्ते पयो मतं मोचरसेन सिद्धम्।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा।। चरक चि० ४।८५–८६

२ वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तद् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम्।।

चरक चि० ४।८८

३ पलाशवृन्तं स्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत् समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम्।।
स्यात् त्रायमाणा विधिरेष एव सोदुम्बरं चैव पटोलपत्रे।
सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते।।

चरक चि० ४।८९–९०

४ रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः।
रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः।।

चरक चि० ४।९८

११६ १ नीलोत्पलं गौरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन।
नस्यं तथाम्रास्थिरसः समङ्गाः सधातकीमोचरस सलोध्रः।।
द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम्।
प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजिकं च।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं ससारिवैः स्यात्कमलोत्पलैश्च।।

चरक चि० ४।९९–१०१

२ भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या।।
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः।।
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणी मृदश्च।

उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे।।
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथावगाहे घृततैलसिद्धौ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक्प्रयुञ्ज्यात्।।
चरक चि० ४।१०२–१०५

३ धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः।।
चरक चि० ४।१०६

११७ १ विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैः परिपीडनाद् वा।
वेगैरुदीर्णै र्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनै र्वा।।
रूक्षान्नपानैरतिसेवितै र्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा।
विचेष्टितै र्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः।।
कफञ्च पित्तञ्च सदुष्टवायुरुद्धूय मार्गान् विनिबध्य ताभ्याम्।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः।।
पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रये वा।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथा दोषमुपैति नाम।।
बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयो र्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।।
चरक चि० ५।४–८

२ पिबेदेरण्डजं तैलं वारुणीमण्डमिश्रितम्।
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः।
श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम्।। चरक चि० ५।६२–६३

३ साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम्।
क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत्।।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्।
हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः।। चरक चि० ५।६४–६५

४ तैलं प्रसन्नागोमूत्रमारनालं यवाग्रजम्।
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत्।। चरक चि० ५।६६

५ वाट्यं पिप्पलीयूषेण मूलकानां रसेन वा।
भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद् वातगुल्माद् विमुच्यते।। चरक चि० ५।६८

११८ १ रसोनामलकेक्षूणां घृतपादं विपाचयेत्।
पथ्यापानं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत्।। चरक चि० ५।१२२

२ वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले।
शेषेष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत्।।
तेन सिद्धं धृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत्।
रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम्।। चरक चि० ५।१२७

३ मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति।

तस्मान्नानातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलंघनम्।। चरक चि० ५।११२

४ (क) आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्।। चरक चि० ६।४

(ख) दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरममेध्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेहीं भविष्यतीति।। सुश्रुत नि० ६।३

५ मेदश्च मांसञ्च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि।।
क्षीणेषु दोषेष्ववकृत्य बस्तौ धातून्प्रमेहाननिलः करोति।
दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्रं सन्दूष्य मेहाञ्जनयेद् यथास्वम्।। चरक चि० ६।५–६

६ साध्याः कफोत्थाः पित्तजाः षड् याप्याः न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते।। चरक चि० ६।७

११६ १ जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनञ्चोपरि विप्रसन्नम्।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा बालुया युतं वा।।
विद्यात्प्रमेहान्कफजान्दशैतान् क्षारोपमं कालमथापि नीलम्।।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तम् एतान्प्रमेहान् षडुशन्ति पित्तात्।।
मज्जौजसा वा वसयान्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं मूत्रयतीह वातात् शेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु।। चरक चि० ६।९–११

२ स्वेदाङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वा श्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः।।
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च।। चरक चि० ६।१३–१४

३ सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्याः भवन्ति हि।। चरक चि० ७।२७

४ संशोधनोल्लेखनलंघनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति पित्तप्रभवान् विरेकः सन्तर्पणः संशमनो विधिश्च।। चरक चि० ६।२५

१२० १ हरीतकी कट्फलमुस्तलोध्रं पाठा विडङ्गार्जुनधन्वनाश्च।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च।।
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि।
दार्वग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा।।
यवान्युशीराण्यभयागुडूची चव्याभया चित्रकसप्तपर्णः।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपादिष्टाः मधुसम्प्रयुक्ताः।।
चरक चि० ६।२७–२९

२ उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानाम् उशीरमुस्तामलकाभयानाम्।

पटोलनिम्बामलकामृतानाम् मुस्ताभयापक्षकवृक्षकाणाम्।।
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम्।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणाम् प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम्।।
अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम्।
पैत्तेषु मेहेषु दश प्रदिष्टाः पादैः कषायाः मधु सम्प्रयुक्ताः।।

चरक चि० ६।३०–३२

३ कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात् कफपित्तमेही।।

चरक चि० ६।३५, अष्टांग सं० चि० १४।१

४ सारोदकं वाथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा।
सीधुं पिबेद् वा निगदं प्रमेही माध्वीकमग्रयं चिरसंस्थितं वा।।

चरक चि० ६।४६

१२१. १ सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम्।।

चरक चि० ६।३४

२ फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निःक्वाथ्य निशां सकल्काम्।
पिबेत्कषायं मधुसम्प्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु।। चरक चि० ६।४०

३ (क) व्यायामयोगैः विविधैः प्रगाढैरुद्वर्त्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यं त्वगेलागुरुचन्दनाद्यै र्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः।।

चरक चि० ६।५०

(ख) यै र्हेतुभि र्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः।
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा।

चरक चि० ६।५३

४ विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम्।।
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वोपसेविनाम्।
शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्।।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्।
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्।।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा।
विप्रान्गुरून्धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्।।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्य संग्रहः।
अतः कुष्ठानि जायन्तेसप्त चैकादशैव च। चरक चि० ७।४–५,७–१०

१२२ १ अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्म। काकणकैककुष्ठचर्माख्यकिटिमविपादिकाऽलसकदद्रुचर्मदलपामाविस्फोटकशतारु विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः—। चरक चि० ७।१३

२ तत्र सप्त महाकुष्ठानि एकादश क्षुद्रकुष्ठानि एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति। तत्र महाकुष्ठानि अरुणोदुम्बर्य्यजिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानि इति। क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेकं कुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्म विचर्चिका किटिमं पामा रकसा चेति। सुश्रुत नि० ५।५

३ (क) वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे।।
वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः।
प्रच्छर्दनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं शिराव्यधनम्।।
बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायु र्हन्यादबलमाशु।। चरक चि० ७।३९—४१

(ख) तत्र कुष्ठेषु पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत। तत्र त्वक्प्राप्ते शोधनालेपनानि। शोणिते प्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणिताव सेचनानि मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितासेचनारिष्ट मन्थप्राशा.। सुश्रुत चि० ६।६

४ (क) दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबोधते कुष्ठम्।
अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला।। चरक चि० ७।६१

(ख) पथ्या व्योषं चेक्षुजातं सतैलं लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात्।
धात्रीपथ्याऽक्षेपकुल्याविडङ्गान् क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वावलिह्यात्।।
पीत्वा मासं वा पलाशां हरिद्रां मूत्रेणान्तं पापरोगस्य गच्छेत्।
एवं पेयश्चित्रकः श्लक्ष्णपिष्टः पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्रयुक्ताः।।
तद्वत्तार्क्ष्यं मासमात्रं च पेयं तेनाजस्रं देहमालेपयेच्च।।
सुश्रुत चि० ६।४४—४६

५. लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः।
सप्त दशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण।। चरक चि० ७।७०

१२३ १ निम्बक्वाथं जातसत्त्वः पिबेद्वा क्वाथं वाऽर्कालर्कसप्तच्छदानाम्।
जग्धेष्वङ्गेष्वश्वमारस्य मूलं लेपो युक्तः स्याद् विडङ्गै : समूत्रैः।।
मूत्रैश्चैनं सेचयेद् भोजयेच्च सर्वाहारान्संप्रयुक्तान् विडङ्गैः।।
सुश्रुत चि० ६।५१—५२

२ दार्व्याः रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य।
आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य।।
इति षट् कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य।
स्नाने पाने हितास्तथाष्टमश्चाश्वमारस्य।।
आलेपनं प्रधर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः।
तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम्।। चरक चि० ७।९७–९९

१२४ १ कारभं वा पिबेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम्।
जातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षडभिरपोहति।। सुश्रुत चि० ९।६९

२ (क) दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः।
सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु।।
यथा हन्ति प्रवृद्धत्वात्कुष्ठमातुरमोजसा।
तथा हन्त्युपयुक्तस्त खदिरः कुष्ठमोजसा।।सुश्रुत चि० ९।७०–७१

(ख) यच्चान्यत्कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्।
खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा।। चरक चि० ७।१६६

३ प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान्वैरेचनान् शुभान्।
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा यैरुत्थानं न गच्छति।। सुश्रुत चि० ९।६८

१२५ १ ततः स्नेहक्षयाद् वायुर्वृद्धो दोषानुदीरयन्।
प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गभर्दं शिरोरुजम्।।
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्।
करोति चांससन्तापमेकादशगदानिमान्।।
लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादशमहागदम्।
सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात्प्राणक्षयप्रदम्।। चरक चि० ८।२४,२७

२ अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्यात् चतुर्थं विषमासनम्।।
युद्धाध्ययनभाराध्वलंघनप्लवनादिभिः।
पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथा परैः।।
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते।
वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति।।
ह्रीमत्वाद्वा धृतित्वाद् वा भयाद् वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणाम् निगह्णाति यदा नरः।।
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान्कुरुतेऽनिलः।।
प्रतिश्यायं च......................त्रिलक्षणम्।

रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्।

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात्।

अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते।।

ततः स्नेहक्षयाद् वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्।

प्रतिश्यायं.....................एकादश गदानिमान्।। २६

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।

जनयन्त्यामयान्घोरान् विषमान्मारुतादयः।।२८

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः।

रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः।। २६

इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम्।

रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः।।

चरक चि० ८।१३–१५, २०–२६, २८, २६, ३१

३ .... यावकं वाट्यमेव च। ६५

लवणाम्लकटूष्णाँश्च रसान् स्नेहोपबृंहितान्।।

लावतित्तिरिदक्षाणां वर्त्तकाणां च कल्पयेत्। ६६

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्।। ६७

दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्।

मूलकानां कुलत्थानां यूषै र्वा सूपकल्पितैः।। ६८

यवगोधूमशाल्यन्नैः यथासात्म्यमुपाचरेत्।

पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम्।। ६६

धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा श्रृतम्।

पर्णिनीभिश्चतसृभिः तेन चान्नानि कल्पयेत्।। ७० चरक चि० ८।६५–७०

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च।

परिषेकावगाहांश्च (यावकं वाट्यमेवच)।। चरक चि० ८।६५

४ कृशरोत्करिकामाषकुलत्थयवपायसैः।

सङ्करस्वेदविधिना कण्ठपार्श्वमुरः शिरः।। ७१

स्वेदयेत् पत्रभङ्गेन शिरश्च परिषेचयेत्।

बलागुडूचीमधुकश्रृतै र्वा वारिभिः सुखैः। ७२

बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।

कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभि र्वा सवातिकैः।। ७३

औदकानूपमांसानि सलिलं पञ्चमूलिकम्।

सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदे प्रयोजयेत्।। ७४ चरक चि० ८।७१–७४

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चोत्तरभक्तिकाः।
तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि बस्तिकर्म तथा परम्।। ८१
शृङ्गालाबुजलौकाभिः प्रदुष्टं व्यधनेन वा।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत्।। ८२

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्शनम्।। ८७
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि।
अबलापेक्षिणी मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते।। ८८
योगान् संशुद्धकोष्ठानां श्वासे कासे स्वरक्षये।
शिरः पार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत्।। ८९

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद् यक्ष्मणः सप्तकं बलम्।। ९९

आजस्य पयसश्चैवं प्रयोगी जाङ्गलाः रसाः।
यूषार्थे चणकाः मुद्गाः मकुठाश्चोपकल्पिताः।।११९

यवगोधूममाध्वीकसीध्वरिष्टसुराऽऽसवान्।.
जाङ्गलानि च शूलानि सेवमानः कफं जयेत्।।१२०

चरक चि० ८।७१–७४,८१–८२,८७,८९,९९,११९,१२०

१२९ १ सनागरानिन्द्रयवान् पाययेत् तण्डुलाम्बुना।
सिद्धां यवागूं जीर्णे च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः।
पाठा बिल्वं यवानी च पातव्यं तक्रसंयुतम्।
दुरालभा शृङ्गवेरं पाठां च सुरया सह।।
जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम्।
पेया मण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये।। चरक चि० ८।१२५–१२७

२ एतानेव च योगांस्त्रीन् पाठादीन् कारयेत् खडान्।
ससूप्यधान्यान्सस्नेहान् साम्लान्संग्रहणान्परम्।। चरक चि० ८।१२८

३ स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं श्रृतं जलम्।
तक्रं सुरा स चुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः।। चरक चि० ८।१३३

४ स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत्।
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च।।
उत्तीर्णमिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः।
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम्।। चरक चि० ८।१७३–१७५
अ० हृदय चि० ५।७७–७८

५ जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां स पुनर्नवाम्।
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम्।।
विदारीं सर्षपं कुष्ठं तुण्डुलानतसीफलम्।
माषांस्तिलाँश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत्।।
यवचूर्णं त्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम्।
एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम्।। चरक चि० ८।१७५–१७८,
अ० हृदय चि० ५।७८–८१

१२७ १ गौरसर्षपकल्केन कल्कैश्चापि सुगन्धिभिः।
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः।।
गन्धैः समाल्यैर्वासोभिः भूषणैश्च विभूषितः।
स्पृश्यान्संस्पृश्य सम्पूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः।।
इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत्पानभोजनम्।
इष्टमिष्टैरुपहितं सुखमद्यात्सुखप्रदम्।।
समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम्।
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च।
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि। चरक चि० ८।१७८–१८२
अष्टांग हृदय चि० ५।८१,८२

२ सुहृदां दर्शनं गीतवादित्रोत्सवसंश्रुतिः।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि मद्यमांससुशीलता।।
दैवव्यपाश्रयं तत्तदथर्वोक्तं च पूजितम्।। अ० हृदय चि० ५।८३–८४

३ अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव वासोभिरहतैः प्रियैः।
यथर्तुविहितैः स्नानैरवगाहै र्विमार्जनैः।।
बस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैः मांसरसौदनैः।
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः।।
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च।।
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः।।
सत्येनाचारयोगेन माङ्गल्यैरप्यहिंसया।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते।। चरक चि० ८।१८४–१८८

१२८ १ धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुलादृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्।।
स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम्।
विन्दन्त्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च।। चरक चि० ६।६–७

२ समुद्भ्रमं बुद्धिमनस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः।

तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक्तु वक्ष्यामि.......................।। चरक चि० ६।८

३ (क) स्निग्धं स्विन्नं तु मनुजमुन्मादार्तं विशोधयेत्।
तीक्ष्णैरुभयतो भागैः शिरसश्च विरेचनैः।।
विविधैरवपीडैश्च सर्षपस्नेहसंयुतैः।
योजयित्वा तु तच्चूर्णं घ्राणे तस्य प्रयोजयेत्।।
सततं धूपयेच्चैनं श्वगोमांसैः सुपूतिभिः।
सर्षपानां च तैलेन नस्याभ्यङ्गौ हितौ सदा। सुश्रुत उ० ६२।१४–१६,३४

(ख) उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्।।
कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदुशोधनम्।
कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।।
स्निग्धस्विन्नस्य कर्त्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः।
निरूहं स्नेहवबस्तिं च शिरसश्च विरेचनम्।।
ततः कुर्याद् यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत्।
शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्।।
प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम्।। चरक चि० ६।२५–२६,३२

१२६. १ विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद् भिषक्।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद् विशेषाद् ग्रहनाशनम्।।
गुणकर्माधिकं पानादास्वादात् कटुतिक्तकम्।
उग्रगन्धं पुराणं स्याद् दशवर्षस्थितं घृतम्।।
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम्।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम्।।
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद् वर्षशतस्थितम्।
दृष्टं स्पृष्टमथाघातं तद्धि सर्वग्रहापहम्।।
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः।। चरक चि० ६।५६–६३

२ (क) शल्लकोलूकमार्जारजम्बुकवृकबस्तजैः।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च।।
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत्।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः ....।। चरक चि० ६।७४–७६

(ख) श्रृगालशल्यकोलूकजलौकावृकबस्तजः।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्मभिराचेरत्।।
धूपधूमाञ्जनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेचनम्।। अ० हृदय उ० ६।४२–४३

३ धूपवत्सततं चैनं श्वगोमत्स्यैः सुपूतिभिः।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः.................... ।। अ० हृदय उ० ६ ।४४

४ अवपीडाश्च विविधाः सर्षपाः स्नेहसंयुताः।
कटुतैलेन चाभ्यङ्गो ध्मापयेच्चास्य तद्रजः।।
सहिङ्गुस्तीक्ष्णधूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः।। अ० हृदय उ० ६ ।४१–४२

५ इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते।
तस्य तत्सदृशप्राप्तिः सान्त्वाश्वासैः शमं नयेत्।।
कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान्।
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत्।। चरक चि० ६ ।८५–८६,
अ० हृदय उ० ६ ।५३–५४

६ (क) स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जने।
अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्।। सुश्रुत उ० ६१ ।३

(ख) स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः।
तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसम्प्लवात्।। चरक चि० १० ।३

१३० १ बिभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात्।
रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि।।
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा।
मनस्याभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्त्तते।। चरक चि० १० ।४–५

२ धमनीभिः श्रिताः दोषाः हृदयं पीडयन्ति हि।
सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा।।
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि।
जिह्वाक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन्।।
दोषवेगे च विगते सुप्तवत्प्रतिबुध्यते।। चरक चि० १० ।६–८

३ तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां सम्प्रबोधनम्। (केवल चरक)
अथावृतानां धीचित्तहृत्खानां प्राक्प्रबोधनम्।। (केवल अ० हृ०)
तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभि र्वमनादिभिः।
वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्।।
सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च।
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनाच्छृणु।।
चरक चि० १० ।१४–१६, अ० हृदय उ० ७ ।१५–१७

४ गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैः घृतम्।
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम्।।

चरक चि० १० ।१७, अ० हृदय उ० १७ ।१८,१६

५ ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च।
पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपापनुत्।।

चरक चि० १० ।२५, अ० हृदय उ० ७ ।२४,२५

६ अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे।
सिद्धं स्याद् गोशकृन्मूत्रैः स्नानोत्सादनमेव च।। चरक चि० १० ।३२

७ अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः।
उत्सादनं मूत्रपिष्टैः मूत्रैरेवावसेचनम्।।

जलौकः शकृता तद्वद् दग्धैर्वा बस्तरोमभिः।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः।। चरक चि १० ।३६–४०

१३१ १ कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्।
श्वशृगालविडालानां सिंहादीनां च शस्यते।। चरक चि० १० ।४१

२ भांर्गी वचा नागदन्ती श्वेता श्वेता विषाणिका।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ताः मूत्रपेषिताः।।
योगास्त्रयोऽतः षड्विन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक्।। चरक चि० १० ।४२–४३

३ पुष्यनक्षत्रोद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्।
तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम्।। चरक चि० १० ।५०

४ नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः।
तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद् भिषक्।। चरक चि० १० ।५१

५ आभिः क्रियाभिः सिद्धाभि हृदयं सम्प्रबुध्यते।
स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति ततः संज्ञां च विन्दति।। चरक चि० १० ।५२

६ रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते।
हृदये व्याकुले दौषैरथ मूढोल्पचेतनः।।
विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्।। चरक चि० १० ।५६–६०

१३२. १ मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान् निगृह्णतः।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः।।
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजो मोहावृतात्मनः।।

रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ताः महागदम्।। चरक चि० १० ।५७–५६

२ स्नेहस्वेदोपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरैन्नपानैरुपाचरेत्।। चरक चि० १० ।६५

३ ब्राह्मी स्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्।
तत्सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम्।।
प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधु संयुताम्।। चरक चि० १० ।६२,६४

४ सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्ताः धर्मार्थवादिनः।
संयोजयेयु विज्ञानं धैर्यस्मृतिसमाधिभिः।। चरक चि० १० ।६३

१३३. १ धनुषाऽऽयास्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वतो गुरुम्।
पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः।।
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातात् क्षिपतो निघ्नतः परान्।।
अधीयानस्य वात्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्।
महानदीं वा तरतो हयै र्वा सह धावतः।।
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चाति प्रनृत्यतः।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च।।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः।
उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते।।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते।
क्रमाद् वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधादपि।
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।।
कासमानस्य च श्लेष्मा सरक्तः सम्प्रवर्त्तते।
स ततः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।। चरक चि० ११ ।४–१२

२ उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयस्या मधु संयुताम्।
सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात्सशर्कराम्।। चरक चि० ११ ।१५

३ पार्श्वबस्तिरुजो चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषां पाठां सवत्सकम्। चरक चि० ११ ।१६

४ लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम्।

त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत्।। चरक चि० ११।१७

५ यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम्।
ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत्।। चरक चि० ११।१६

६ चूर्णं पुनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम्।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतम्।। चरक चि० ११।२६

७ मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम्।
मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम्।। चरक चि० ११।२७

८ शर्करां यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु।
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः।। चरक चि ११।२६

१३४ १ यद्यत्सन्तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु।
अन्नपानं निषेव्यं तत् क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः।।
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम्।
तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यं बलं तथा। चरक चि० ११।६३—६४

२ बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक् पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पत्युत्सेधलिङ्गश्वयथुं करोति।।चरक चि० १२।८

१३५ १ अथामजं लंघनपाचनक्रमैः विशोधनैरुल्वणदोषमादितः।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम्।।
उपाचरेत्स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे।
विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम्।।
पयश्च मूर्छाऽरतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत्।।
चरक चि १२।१७—१६

२ पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोथं गव्येन मूत्रेण हरीतकी च।
हरीतकी नागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्।।
चरक चि०१२।२१—२२

१३६. १ तक्रं पिबेद् वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं च।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः।।चरक चि० १२।२३

२ विड्वातसङ्गे पयसा रसै वा प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्।
स्रोतो विबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत् सुजातान्।।
चरक चि० १२।२७

३ प्रयोजयेदार्द्रकनागरे वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या।
मात्रा परं पञ्च पलानि मासं जीर्णे पयोयूषरसाश्च भक्तम्।।
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहान् श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्।
सकामलाशोषमनोविकारान्कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः।।
चरक चि० १२।४७–४८

४ रसैस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्।
जत्वश्मजं च त्रिफलारसेन हन्यात् त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य।।
चरक चि० १२।४६

५ पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
पञ्चभिः कोलमात्रं तत्पञ्चकोलं तदुच्यते।। भावप्रकाश नि० १।७१–७२

६ या पञ्चकोलै र्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत्सा च समा तयैव।चरक चि० १२।६१

१३७. १ जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणै र्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा।।
अर्शोऽतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागू।।
चरक चि १२।६०,६१

२ कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सत्र्यूषणयावशूकः।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकीनाम्।।
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसी मूलकवेत्रनिम्बम्।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्यं पुराणश्च यवः सशालिः।।
चरक चि० १२।६२–६३

३ भैषज्यरत्नावली –चरक चन्द्रिका पृ० ४५५ से उद्धृत।

४ जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः।
स्विन्नो मृदूष्णैः रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः।।
चरक चि० १२।६७

१३८ १ आक्तस्य तेनाम्बुरविप्रतप्तं सचन्दनं सांभयपद्मकं च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपञ्च।। चरक चि० १२।६६

२ गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः।।

तेषां सिराव्यधशिरोविरेकाः धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्।

स्याल्लङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि प्रघर्षणं स्यात्कवलग्रहश्च।।

चरक चि० १२।७६–८०

३ ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च।
मूत्रेण पूर्णं मृदुमेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात्कठिनं च शोथम्।।
विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
स्यान्मूत्रमेदःकफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद् व्रणवच्च पक्वम्।।

चरक चि० १२।६४–६५

४ भगवन्नुदरैर्दुःखैः दृश्यन्ते ह्यर्दिताः नराः।
शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः।
प्रणष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः।
दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत्।। चरक चि० १३।५–६

१३६ १ अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः।
मलवृद्ध्या प्रवर्त्तन्ते विशेषेणोदराणि तु।।
मन्देऽग्नौ मलिनै र्भुक्तैरपाकाद् दोषसञ्चयः।
प्राणाग्न्यपानान्सन्दूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान्।।
त्वङ्मांसाभ्यन्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्।
जनयत्युदरं तस्य………………। चरक चि० १३।६–११

२ अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्।
मिथ्या संसर्जनाद् रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात्।।
प्लीहार्शो ग्रहणीदोषकर्शनात्कर्मविभ्रमात्।
क्लिष्टा नाम प्रतीकारात् रौक्ष्याद्वेगविधारणात्।।
स्रोतसां दूषणादामात् संक्षोभादति पूरणात्।
अर्शोबालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात्।।
अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः।। चरक चि० १३।१२–१५

३ कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च।
मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम्।। चरक चि० १३।२१

४ पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः।
सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु।। चरक चि० १३।२२

५ वातात्पित्तात्कफात्प्लीहः सन्निपातात्तथोदकात्।
परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत्।।
पश्चाद् बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं यथा।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम्।। चरक चि० १३।५०–५१

१४०. १ वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत्।

स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात्स्नेहविरेचनम्।।
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद् वाससोदरम्।
तथास्यानवकाशत्वात् वायु र्नाध्मापयेत् पुनः।।
दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात्।
सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत्।।
शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम्।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्य च बले लब्धे क्रमात्पयः।।
यूषैः रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम्।
सोदावर्त्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम्।
स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्त्तिषु।
दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत्।।
तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽवातं निरूहो दाशमूलिकः।
वातघ्नाम्लश्रृतैरण्डतिलतैलानुवासनम्।।
अविरेच्यं तु यं विद्यात् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्।
सुकुमारं प्रकृत्याल्पदोषं वाऽथोल्वणानिलम्।।
तं भिषक् शमनैः सर्पि र्यूषमांसरसौदनैः।
बस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः। चरक चि० १३।५६–६७

२ पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत्।
दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना।।
सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्।
पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकश्रृतेन वा।।
सातलात्रायमणाभ्यां श्रृतेनारग्वधेन वा।
सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा।।
पुनः क्षीरप्रयोगं च ब॒स्तिकर्मविरेचनम्।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन्युक्तः पित्तोदरं जयेत्।।
स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्।
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः।।
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा।
सक्षारैः स्नेहपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम्।। चरक चि० १२।६८–७३

३ सन्निपातोदरे सर्वाः यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः।
सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता।। चरक चि० १३।७४

४ स्नेहस्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम्।
समीक्ष्य कारयेद् बाहौ वामे वा व्यधयेत्सिराम्।। चरक चि० १३।७७

५ तैलोन्मिश्रैः बदरपत्रैः सम्मर्दितैः समुपनद्धः।
मुसलेन पीडितोऽनु च याति प्लीहा पयोभुजाम्।।
अ० हृदय चि० १५।६०,६१

६ षट्पलं पाययेत्सर्पिः पिप्पलीं वा प्रयोजयेत्।
सगुडामभयां वापि क्षारारिष्टगणांस्तथा।। चरक चि० १३।७८

७ रोहीतकलतानां तु काण्डकान्भया जले।
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत्।।
कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरकृमीन्।
स हन्याज्जाङ्गलरसै जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम्।। चरक चि० १३।८१–८३

८ स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रं तीक्ष्णौषधान्वितम्।
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम्।।
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम्।। चरक चि० १३।८६–९०

१४१. १ दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति।
तस्माद् भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च।।
रक्तशालीन् यवान्मुद्गान् जाङ्गलाँश्च मृगद्विजान्।
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधु सीद्यु तथा सुराम्।।
यवागूमोदनं चापि यूषैरद्याद् रसैरपि।
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः।। चरक चि० १३।९६–९९

२ छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत्।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद् यापयेद् भिषक्।।
अपां दोषहराण्यादौ योजयेदुदकोदरे।
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च।।
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत्।
इत्यौषधैरप्रशमे त्रिषु बद्धोदरादिषु।।
प्रयुञ्जीत भिषक् शस्त्रमार्तबन्धुनृपार्थितः।। अ० हृदय चि० १५।१०१–१०३, १०७

३ क्षीरानुपानां गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत्।
सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चानन्नभुक् पिबेत्।।
मासमौष्ट्रम्पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम्।
हरीतकी सहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु।।
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत्।
शृङ्गबेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो हितः।।
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा।। चरक चि० १३।१५१–१५४

४ सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च।
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे। चरक चि० १३।१५५–१५६

१४२. १ भावितानां गवां मूत्रे षष्ठिकानां तु तण्डुलैः।

यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्।।
पिबेदिक्षुरसं चानुजठराणां निवृत्तये।
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं तथा पित्तकफानिलाः।। चरक चि० १३।१६५–१६७

२ शङ्खिनी स्नुक् त्रिवृद् दन्ती चिरबिल्वादिपल्लवैः।
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद् भिषक्।।
ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चो दोषाय शास्त्रवित्।
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम्।। चरक चि० १३।१६७–१६९

३ कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाप्यनिलावृते।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम्।।
सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत्।
सुस्निग्धैरम्ललवणै र्निरूहैस्तमुपाचरेत्।।
सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्।
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत्।। चरक चि० १३।१७२–१७५

४ यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्।
भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः।।
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः।
विषेणाशु प्रमाथित्वात्दाशु भिन्नः प्रवर्त्तते।
विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम्।
पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम्।।
त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयववास्तुकम्।
भक्षयेत् कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम्।।
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्।
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत्।।
एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात्परं ततः।
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः।। चरक चि० १३।१७८–१८४

१४३ १ तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्।
निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्।।
अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः।
त्रीन्मासान् पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापि भोजयेत्।।
श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेणालवणं लघु।
नरः संवत्सरेणैवं जयेत्प्राप्तं जलोदरम्।।
प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत्।। चरक चि० १३।१९०–१९३

२ दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते।

अग्नौ मलेऽतिनिचिते पुनश्चातिव्यवायतः।।
यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात्।
बस्तिनेत्राश्मलोष्ठोर्वीतलचैलादिघट्टनात्।।
भृशं शीताम्बुसंस्पर्शात् प्रततातिप्रवाहणात्।
वातमूत्रशकृद्वेगधारणात् तदुदीरणात्।।
ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशोफपाण्डुभिः।
कर्शनाद् विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो योषितां पुनः।।
आमगर्भप्रपतनाद् गर्भवृद्धिप्रपीडनात्।
ईदृशैश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम्।।
पायोर्बलीषु तं धत्ते ताष्वभिष्यणमूर्त्तिषु।
जायन्तेऽर्शांसि तत्पूर्वलक्षणं मन्दवहिन्ता। अ० हृदय नि० ७।१०–१५

३ मूल में उद्धृत अष्टांग हृदय नि० ७।१

४ (क) महान्ति च प्राणवतश्छित्वा दहेत् निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद् विनास्वेदाभ्यङ्गस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणालेपक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत्......। वद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेन वा। सुश्रुत चि० ६।७

(ख) तत्र वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषिद्धम्, पित्तजेषु विरेचनम्, रक्तजेषु संशमनम्, कफजेषु शृङ्गवेरकुलत्थोपयोगः, सर्वदोषहरं यथोक्तं सर्वजेषु। यथास्वौषधिसिद्धं च पयः सर्वेषु इति। सुश्रुत चि० ६।१६

(ग) स्वेदयेदनु पिण्डेन द्रवस्वेदेन वा पुनः।
सक्तूनां पिण्डिकाभि र्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा।।
रास्नायाः हपुषाया वा पिण्डै र्वा कार्ष्ण्यगन्धिकैः।। अ० हृदय चि० ८।१६–१७

(घ) अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ताः य एते परिकीर्त्तिताः।
स्तम्भश्वयथुकण्ड्वार्त्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः।।
प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि।
सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखी।।
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत्।।
चरक चि० १४।५८–६०

१४४. १ पाचनं पाययेद् वा तद् यदुक्तं ह्यतिसारिके।
सगुडामभयां वापि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकीम्।। चरक चि० १४।६५

२ पाययेद् वा त्रिवृत् चूर्णं त्रिफलारससंयुतम्।
ह्रते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम्।। चरक चि० १४।६६

३ गोमूत्राध्युषितां दद्यात् सगुडां वा हरीतकीम्।
हरीतकीं तक्रयुक्तां त्रिफलां वा प्रयोजयेत्।।
सनागरं चित्रकं वा सीधुयुक्तं प्रयोजयेत्।
दापयेच्चव्ययुक्तं वा सीधु साजाजिचित्रकम्।।
सुरां सहपुषापाठां दद्यात्सौवर्चलान्विताम्।
दधित्थबिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यत्रिकैः।।
भल्लातकयुतं वापि प्रदद्यात् तक्रतर्पणम्।
बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च।। चरक चि० १४।६७–७०

४ चित्रकं हपुषां हिङ्गु दद्यात् वा तक्रसंयुतम्।
पञ्चकोलयुतं वापि तक्रमस्मै प्रदापयेत्।। चरक चि० १४।७१

५ त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत्।।
वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्परं नास्तीह भेषजम्।
तत्प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा।।
सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा।
बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत्।। चरक चि० १४।७६–७८

१४५. १ अशीति र्वातविकाराः चत्वारिंशत्पित्तविकाराः विंशतिः श्लेष्मविकाराः। तत्रादौ वातविकारानु व्याख्यास्यामः। तद्यथा–नखभेदश्च विपादिका च पादशूलं च पादभ्रंशश्च पादसुप्तता च .... अस्वप्नश्च अनवस्थितचित्तत्वं च इत्यशीतिर्वातविकाराः वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमाः।।

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः। तद्यथा–तृप्तिश्च तन्द्रा च निद्राधिक्यं च स्तैमित्यं च गुरुगात्रता च आलस्यं च मुखमाधुर्यं च मुखस्त्रावश्च श्लेष्मोद्‌गिरणञ्च मलस्याधिक्यं च बलासकश्च (अपक्तिश्च) हृदयोपलेपश्च कण्ठोपलेपश्च धमनीप्रतिचयश्च गलगण्डश्च अतिस्थौल्यं च शीताग्निता च उदर्दश्च श्वेतावभासता च श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः। चरक सू० २०।१०–११,१७

२ अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्।
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात् तक्रावलेहिकाम्।।
जीर्णे तक्रं प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम्।
तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम्।।
यूषैर्मांसरसैर्वापि भोजयेत् तक्रसंयुतैः।

यूषै रसेन वाप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत्।।
कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवर्त्तयेत्।
तत्र प्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः।।
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते।
शक्त्यागमनरक्षार्थं दाढ्यार्थमनलस्य च।।
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः।
रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं ततश्चानुद्धृतं घृतम्।।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत्।
हतानि न प्ररोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु।।
भूमावपि निषिक्तं यद् दहेत्तक्रं तृणोलुपम्।
किम्पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः।।
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते।।
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्त्तते।
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे।। चरक चि० १४।७६–८८

३ शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा।
दद्याद् यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम्।। चरक चि० १४।६२

४ शुष्क मूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेववा।
दधित्थ बिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम्।।
छागलं वा रसं दद्यात् यूषैरेभिर्विमिश्रितम्।
लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम्। चरक चि० १४।६३–६४

५ रक्तशालिर्महाशालिः कलमो लाङ्गुलः सितः।
शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम्।। चरक चि० १४।६५

६ सस्नेहैः सक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम्।
दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम्।।
गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम्।
गुडं घृतयवक्षारयुक्तं वापि प्रयोजयेत्।। चरक चि० १४।६७,६८

१४६ १ दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा।
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम्।।
प्राग्भक्तं यमके भृष्टान्सक्तुभिश्चावचूर्णितान्।
करञ्जपल्लवान्दद्याद् वातवर्चोऽनुलोमनान्। चरक चि० १४।१००,१०१

२ मदिरां वा सलवणां सीधुं सौवीरकं तथा।
गुडनागरसंयुक्तं पिबेद् वा पौर्वभक्तिकम्।। चरक चि० १४।१०३

३ चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम्।
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम्।। चरक चि० १४।१०५

४ सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम्।
त्रिवृद्दन्तीयुतां वापि भक्षयेदानुलोमिकीम्।।
विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येऽथ निर्वृते।
गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यान्ति पावकश्चाभिवर्धते।। चरक चि० १४।११६—१२०

५ मदिरां शार्करं जातं सीधुं तक्रं तुषोदकम्।
अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम्।।
कण्टकार्याः शृतं वापि शृतं नागरधान्यकैः।
अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम्।। चरक चि० १४।१२८—१२६

६ रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम्। चरक चि० १४।१६६

७ सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम्।
रुधिरस्रावे प्रदद्यान्मसूरसूपं च तक्राम्लम्।। चरक चि० १४।२०४

८ सर्पिःसदाडिमरसं सयावशूकं जयत्याशु।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिका दुग्धिका सिद्धम्।। चरक चि० १४।१६८

६ सरखडयूषयवागूसंयोगतः केवलाऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्त्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः।। चरक चि० १४।२०८

१४७. १ नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासात् अर्शांस्यिपयान्ति रक्तानि। चरक चि० १४।२१०

२ कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पक्षोत्पलदलैश्च।।
दूर्वाघृतप्रदेहः, शतधौतसहस्रधौतमपिसर्पिः।
व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु।। चरक चि० १४।२१८—२१६

३ समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम्।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां वा।
दार्वीत्वक्सर्पिभ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम्।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः।। चरक चि० १४।२२०—२२१

४ षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता।
पक्वाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्त्तिता।। सुश्रुत उ० ४०।१६६

१४८ १ (क) अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरुपर्यग्निबलेनोपष्टब्धोपबृंहिता।।
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।

दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ।।
वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात् तद्रोगस्त्रिम्य एव च ।। चरक चि० १५।५६–५८

(ख) एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ।।
पक्वं सरुजं पूतिं मुहु र्बद्धं मुहु र्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ।। सुश्रुत उ० ४० ।१७१–१७२

२ आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ताः देहाग्निहेतुकाः ।।
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
रोगी स्याद् विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुचयते ।। चरक चि० १५।३–४

३ सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ।। चरक चि० १५।१५

१४६. १ रसाद्रक्तं ततो मासं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ।।
रसात्स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः ।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ।।
किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः ।
पित्तं, मांसस्य खमला, मलः स्वेदस्तु मेदसः ।।
स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्जस्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम् ।
प्रसादकिट्टं धातूनां पाकादेवं विधर्च्छतः ।। चरक चि० १५।१६–१९

२ अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद् वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ।।
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ।। चरक चि० १५।३९–४०

३ (क) अभोजनादजीर्णेतिभोजनाद् विषमाशनात् ।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात् ।।
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात् ।।
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ।। चरक चि० १५।४२–४४

(ख) अत्यम्बुपानाद् विषमाशनाच्च सन्धारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ।।
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ।।

माधव निदान ६ ।७,८

(ग) मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्या प्रजागरैः ।। चरक वि० २ ।६

(घ) दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः ।
अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशनः ।।
भूयः सन्दूषितो वह्नि र्ग्रहणीमभि दूषयेत् ।। सुश्रुत ४० ।१६६–१६७

४ अधस्तु पक्वामामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः ।
उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायोह्यस्य विदह्यते ।। चरक चि० १५ ।५२

१५० १ विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् ।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः ।।
युक्तं भुक्तवतो भुक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ।। चरक चि० १५ ।५०–५१

२ वातत्पित्तात्कफाच्च स्यात् तद्रोगस्त्रिभ्य एव च ।। चरक चि० १५ ।५८

३ किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संलेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ।।
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ।।
शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत् ।।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ।। चरक चि १५ ।७८–८०

४ निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम् ।
लघ्वन्नं प्रतिसम्भुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ।। चरक चि० १५ ।८१

५ ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम् ।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ।।
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत् ।
फलानां वा कषायेण पिप्पली सर्षपैस्तथा ।। चरक चि १५ ।७३–७४

६ नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः ।
मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा । चरक चि० १५ ।९८

१५१. १ छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा ।
पथ्या सौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ।। चरक चि० १५ ।१०२

२ पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ।।
क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे च दीपनः ।

तक्रा[illegible]रिष्टं एवं च।। चरक चि० १५।११५–११७

३ तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात्।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्।।
कषायोष्णविकासित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे हितम्।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत्।।
तस्मात् तक्रप्रयोगाय जठराणां तथार्शसाम्।
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान्प्रयोजयेत्।। चरक चि० १५।११७–१२०

४ .... तक्रारिष्टं पिबेन्नरः।
दीपनं शोथगुल्मार्शः कृमिमेदोदरापहम्।। चरक चि० १५।१२१

५ स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्।
पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद् वमनेन वा।।
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः।
जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि।।
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैः दीपनग्राहि संयुतैः।
तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः।। चरक चि० १५।१२२–१२४

६ ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि।
कट्वम्ललवणक्षारैः तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत्।। चरक चि० १५।१४१

१५२ १ त्रिदोषं विधिवद् वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्।
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान्।।
क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीम्प्रति।
व्यत्यासात्तां समस्तां वा कुर्याद् दोषविशेषवित्।। चरक चि० १५।१६४–१६५

२ स्नेहनं स्वेदनं शुद्धि र्लघनं दीपनं च यत्।
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः।।
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम्।
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः क्रियां चावस्थिकीं शृणु।।
ष्ठीवनं श्लेष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम्।
सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम्।
परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम्।।
बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम्।
सन्धुक्षति तथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः। चरक चि० १५।१९६–२०१

३ हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। मनु २।९४

४ स्नेहमेव परं विद्यात् दुर्बलानलदीपनम्।
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।।
चरक चि० १५।२०१, २०२, अ० हृदय चि० १०।६८–६९

५ मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते।
दीपनीयौषधै र्युक्तां घृतमात्रां पिबेतु सः।। चरक चि० १५।२०२–२०३

१५३ १ काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः।
सघृतं लवणै र्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्।।
चरक चि० १५।२०४–२०५, अ० हृदय चि० १०।७१–७२

२ योल्पाग्नित्वात्कफे क्षीणे वर्चः पक्वमपि श्लथम्।
मुञ्चेत्पट्वौषधयुतं स पिबेदल्पशो घृतम्।
तैन स्वमार्गमानीतः स्वकर्मणि नियोजितः।
समानो दीपयत्यग्निमग्नेः सन्धुक्षको हि सः।। अ० हृदय चि० १०।६९–७१

३ (क) रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत् सर्पिस्तैलं वा दीपनै र्युतम्।
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवाः हिताः।।
व्याधिमुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्।
उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेत् घृतम्।।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत्।।
चरक चि० १५। २०५–२०६, २०८– २०९

(ख) रौक्ष्यान्मन्देऽनले सर्पिस्तैलं वा दीपनैः पिबेत्।
क्षारचूर्णासवारिष्टान्मन्दे स्नेहातिपानतः।।
व्याधिमुक्तस्य मन्देऽग्नौ सर्पिरेव तु दीपनम्।।
अ० हृदय चि० १०।७२–७४

४ (क) नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः।।
स्नेहान्नविविधैश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः।
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्नेः प्रवर्धते।।
यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम्।।
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्नि र्भवेत् स्थिरः।। चरक चि० १५।२११–२१४

(ख) स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः।
सम्यक्प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते।।
दीप्तो यथैव स्थाणुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः।

सन्नोतैर्वर्ध्यते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः।।

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्।
यथा निरिन्धनो बह्निरल्पो वातीन्धनावृतः।।

अ० हृदय चि० १० ।७८–८०

५ हितं जीर्णे मितं चाश्नन् चिरमारोग्यमश्नुते।
अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत वा।।
समैः दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः।
पचत्यन्नं तदाऽरोग्यं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये।।
दोषै र्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमै र्जनयेद्गदान्।।

चरक चि० १५ ।२१४–२१६

६ समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सुश्रुत सू० १५ ।४१

१५४ १ (क) नरे क्षीणकफे पित्ते कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति।।
तदा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः।।
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम्।।
भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्याः व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः।।

चरक चि० १५ ।२१७–२२०

(ख) आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून्क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये।। अ० हृदय चि० १० ।९१

२ तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैः मधुरविज्जलैः।
अन्नपानै र्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः।।
मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत्।
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्।
पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम्।
अद्यात्तथौदकानूपपिशितानि भृतानि च।।
मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरांस्तथा।
आविकं च भृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम्।।
यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत्।

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत्।।
पयो वा शर्करा सर्पिजीवनीयौषधैः श्रृतम्।
फलानां तैलयोनीनामुत्कुञ्चांश्च सशर्कराः।।
मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धाः मांसरसास्तथा।
गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः।। चरक चि० १५।२२१–२२८

३ नारीस्तन्येन संयुक्तं पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्।
ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये।। चरक चि० १५।२३०

४ (क) श्यामां त्रिवृद्विपक्वां वा पयो दद्याद्विरेचनम्।
असकृत् पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम्।
यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मणं गुरुभोजनम्।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा।।
मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः समश्नुते।
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च।।
कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः।
समधातोः पचत्यन्नं पुष्टयायुर्बलवृद्धये।। चरक चि० १५।२३१–२३५

(ख) श्यामा त्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विवेचनम्।
असकृत्पित्तहरणं पायसप्रतिभोजनम्।।
यत्किञ्चिद् गुरुमेद्यं च श्लेष्मकारि च भोजनम्।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा च स्वपनं दिवा।।
अ० हृदय चि० १०।८६–६०

१५५ १ पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः।। चरक चि० १६।३

२ पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक् समस्तैर्युगपच्च दोषैः।
सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः।।
सुश्रुत उ० ४४।४

३ वातेन पित्तेन कफेन चापि त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवः स्यात्।
द्वे कामले चैकहलीमकश्च स चाष्टधैवं त्विह पाण्डुरोगः।। हारीत संहिता

४ (क) तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः।।
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत्।
शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान्।। चरक चि० १६।४०–४१

(ख) स्नेहितं वामयेत्तीक्ष्णैः पुनः स्निग्धं च शोधयेत्।
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा।। अ० हृदय १६।५

५ मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः।
यथादोषं विशिष्टं च तयो भैषज्यमाचरेत्।। चरक चि० १६।४१

६ (क) पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे।। चरक चि० १६।४३

(ख) गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समै र्घृतम्।
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम्।। चरक चि० १०।१७

७ दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा।
कामलीं त्रिवृतां वापि त्रिफलायाः रसैः पिबेत्।। चरक चि० १६।५६–६०

१५६. १ त्रिफलायाः गुडूच्या वा दार्व्याः निम्बस्य वा रसम्।
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्त्तः पिबेन्नरः।।
क्षीरमूत्रं पिबेत्पक्षं गव्यं माहिषमेव वा।
पाण्डुगे मूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफला रसम्।। चरक चि० १६।६३–६५

२ हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत्।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा।। चरक चि० १६।६८

३ तरुजान् ज्वलितान् मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान्।
मातुलुङ्गस्य तत्पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत्।। चरक चि० १६।६५–६६

४ तुल्या अयोरजः पथ्या हरिद्रा क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभया।।
त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययो रजः।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां सलेहः कामलापहः।। चरक चि० १६।६८–६६

५ स्थिरादिभिः श्रृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते।
पाण्डूनां कामलार्त्तानां मृद्वीकामलकीरसः।। चरक चि० १६।११४–११५

६ वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम्।
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके।। चरक चि० १६।११६–११७

७ निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक्।
शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत्।। चरक चि० १६।११७–११८

१५७ १ कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्वै र्वा दोषकोपनैः।
आमातिसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि।।
रजोधूमानिलै र्मर्मघातादति हिमाम्बुना।। अष्टांग हृ०नि० ४।१–२

२ कामं प्राणहराः रोगाः बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः।।

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः।

अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः।। चरक चि० १७।६–७

३ कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ।
हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणी।
तस्मात्साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ।
मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हतआशीविषाविव।। चरक चि० १७।८–९

४ क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चमः। अ० हृदय नि० ४।२

५ हिध्मा भक्तोद्भवा क्षुद्रायमला महतीति च।
गम्भीरा च मरुत्तत्र.................. । अ० हृदय नि० ४।१९

६ (क) हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्।
आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः।।
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते।
खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता।।
यथाद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम्।
श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा।।
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम्।
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम्।।
पिप्पली सैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत्।
निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे।।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः।। चरक चि० १७।७१–७६

(ख) श्वासहिध्मा यतस्तुल्यहेत्वाद्याः, साधनं ततः।
तुल्यमेव, तदार्त्तं च पूर्वं स्वेदैरूपाचेरत्।।
स्निग्धैर्लवणतैलाक्तं तैः खेषु ग्रथितः कफः।
सुलीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः।।
स्रोतसां स्यान्मृदुत्वं च मरुतश्चानुलोमता।
स्विन्नं च भोजयेदन्नं स्निग्धमानूपजैः रसैः।।
दध्युत्तरेण वा दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु।
निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे।।
स्रोतः सु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः।। अ० हृदय चि० ४।१–६

७ (क) न स्वेद्याः पित्तदाहार्त्ता रक्तस्वेदातिवर्त्तिनः।
क्षीणधातुबलाः रूक्षाः गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः।।
कोष्णैः काममुरः कण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः।
उत्करिकोपनाहैश्च स्वेदयेन्मृदुभिः क्षणम्।।चरक चि० १७।८२–८३

(ख) अवश्यं स्वेदनीयानामस्वेद्यानामपि क्षणम्।
स्वेदयेत्ससिताक्षीरसुखोष्णस्नेहसेचनैः।।
उत्करिकोपनाहैश्च स्वेदाध्यायोक्तभेषजैः।
उरः कण्ठं च मृदुभिः सामे त्वामविधिं चरेत्।।अ० हृदय चि० ४।१४–१६

१५८ १ तिलोमामाषगोधूमचूर्णै र्वातहरैः सह।
स्नेहैश्चोत्करिकासाम्लैः सक्षीरै र्वा कृता हिता।। चरक चि० १७।८४

२ अशान्तौ कृतसंशुद्धेःधूमैर्लीनं मलं हरेत्। अ० हृदय चि० ४।१०

३ हरिद्रापत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम्।
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्त्तिं प्रकल्पयेत्।।
तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवान् वा घृतसंयुतान्।
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं वा गुरु वाऽगुरु।।
चन्दनं वा तथा शृङ्गं बालान्वा स्नाववागवाम्।
ऋक्षगोधकुरङ्गैणचर्मशृङ्गखुराणि वा।
शल्लकीं गुग्गुलुं लोहं पद्मकं वा घृतप्लुतम्।। अ० हृदय चि० ४।१०–१४

४ शालिषष्ठिकगोधूमयवमुद्गकुलत्थभुक्।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिध्माश्वासप्रशान्तये।।
सक्तून् वाऽर्काङ्कुरक्षीरभावितानां समाक्षिकान्।
यवानां दशमूलादिनिष्क्वाथलुलितान् पिबेत्।। अ० हृदय चि० ४।२५–२७

५ कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च।
शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः।।
सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्त्ताकजो हितः।
शालिषष्ठिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च।।
सिद्धा कर्कटशृङ्ग्या च यवागूः श्वासकासिनाम्।। चरक चि० १७।९९–१०१

६ सौवर्चलं नागरं च भांर्गी द्विशर्करायुतम्।
उष्णाम्बुना पिबेदेतत् हिक्काश्वासविकारनुत्।।
भांर्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा।
पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत्।। चरक चि० १७।१०९–११०

१५९ १ सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम्।
शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम्।।
शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः।
पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः।।
खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च।
शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत्।। चरक चि० १७।११३–११४, ११६

२ यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने।।
वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वानिलापहम्।
कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम्।। चरक चि० १७।१४७–१४८

३ (क) वातादिजास्त्रयो ये च क्षयजः क्षतजस्तथा।
पञ्चैते स्यु नृणां कासाः वर्धमानाः क्षयप्रदाः।। चरक चि० १८।४

(ख) पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः। अ० हृदय नि० ३।१७

४ रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्त्तकाः।। चरक चि० १८।१०

५ कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्।
पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः।। चरक चि० १८।१४

६ गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नादिचेष्टितैः।
वृद्धः श्लेष्मानिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि।। चरक चि० १८।१७

१६० १ (क) त्रीन् साध्यान्साधयेत्पूर्वान्पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत्।
रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।।
सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः।
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यै धूमै र्लेहैश्च युक्तितः।।
अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान्।
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः।।
घृतैः सपित्तं सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः।। चरक चि० १८।३१–३४

(ख) केवलानिलजं कासं स्नेहैरादावुपाचरेत्।
वातघ्नसिद्धैः स्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभिः।।
लेहै धूमैस्तथाऽभ्यङ्गस्वेदसेकावगाहनैः।
घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः।। अ० हृदय चि० ३।१–३

२ पिबेत्खदिरसारं वा मदिरां दधिमस्तुभिः।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम्।। चरक चि० १८।६४

३ महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समम्।
सर्पिःसिद्धं भवेद् युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम्।। चरक चि० १८।१०७

४ कुलत्थरससंयुक्तं व्योषतैलगुडान्वितम्।
लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम्।। चरक चि० १८।१२६

५ द्राक्षापद्मकवार्त्ताकपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा।
लिह्यात्त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा।। चरक चि० १८।१७१–१७२

६ लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्।
बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।। चरक चि० १८।१८०

१६१ १ दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम्।
व्यत्यासात् क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत्।। चरक चि १८।१८७

२ वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्ण–मद्यव्यवायनित्यस्योदावर्त्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते। पक्ता चोपहन्यते, स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहत्य ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य अतीसाराय कल्पते।..पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्य सन्तापोष्ण–मारुतोपहतगाात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपितं........................अतिसाराय कल्पते।.....................श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्माप्रकोपमापद्यते। स स्वभावाद् गुरुमधुरस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात्पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसराय कल्पते।
चरक चि० १६।५–७

३ (क) दोषाः सन्निचिताः यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः।
अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्त्तयेत्।।
तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्त्तमानान्स्वयं मलान्।
कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम्।।
पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत्।। चरक चि० १६।१४,१७

(ख) योजयेत्स्नेहबस्तिं वा दशमूलेन साधितम्।
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाप्यनुवासनम्।।अ० हृदय चि० ६।५०,५२

४ प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद् दीपनपाचनीम्।
लंघनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम्। चरक चि० १६।१६

५ वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा।
हीबेरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा पाययेत् जलम्।। चरक चि० १६।२२

६ दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत्।।
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा।
लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा।।
चरक चि० १६।३७–३८

७ पित्तातिसारी....................रक्तमाशु प्रदूषयेत्।
तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्।।

तत्र छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्।

पानार्थं भोजनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा। चरक चि० १६।६६–७१

१६२ १ प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः।
त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षुरभुक्तथा।। चरक चि० १६।७७

२ कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करा पञ्चभागिकः।।
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति।।
चरक चि० १६।८४, अ० हृदय चि० ६।६२–६३

३ धातकी लोध्रचूर्णै र्वा समांशैः प्रतिसारयेत्।
तथा स्रवति नो रक्तं गुदं तैः प्रतिसारितम्।।
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति।। चरक चि० १६।६०– ६१

४ प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः।
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत्।। चरक चि० १६।६५–६६

५ रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत्।।
शर्करार्धांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम्।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः।। चरक चि० १६।६७–६६

६ न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत्।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत्।।
तदर्धं शर्करायुक्तं लिह्यात्सक्षौद्रपादिकम्।
अधो वा यदि वाप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्त्तते।।
चरक चि० १६।६६–१०१, अ० हृदय चि० ६।१०१–१०२

७ पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्बुना।
दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते।। अ० हृदय चि० ६।६३,६४

८ कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम्।
कट्फलं मधुसंयुक्तं मुच्यते जठरामयात्।।
कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम्।
जग्ध्वा वा बालविल्वानि मुच्यते जठरामयात्।।चरक चि० १६।११२–११४
अ० हृदय ६।१०७–१०६

६ पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट् पलं वा यथाबलम्।
पुराणं वा घृतं दद्यात् यवागूमण्डमिश्रितम्।। चरक चि० १६।११६

१६३. १ वातश्लेष्मविबन्धे वा, कफे वातिक्षवत्यपि।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिं प्रयोजयेत्। चरक चि० १६।११७

२ (क) पिप्पली बिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि।
कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत्।।
प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये।
बिल्वतैलेन मतिमान् सुखोष्णोनानुवासयेत्।
वचान्तरैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वानुवासयेत्।।
बहुशः कफवातार्त्तस्तथा स लभते सुखम्।। चरक चि० १६।११८–१२०

(ख) बिल्वतैलेन तैलेन वचाद्यैः साधितेन वा।
बहुशः कफवातार्ते कोष्णेनान्वासनं हितम्।। अ० हृदय चि० ६।११६–१२०

३ व्यायामतीक्ष्णौषोधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्शितस्य।
वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन्।।
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत्तु।। चरक चि० २०।७–८

४ (क) दोषैः पृथक्त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।।
चरक चि० २०।६

(ख) बीभत्सजा दौहृदजात्मजा च सात्म्यप्रकोपात् कृमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तां च विभावयेत्तु दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ।।
सुश्रुत उ० ४६।१२

५ (क) आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लंघनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि।।
चरक चि० २०।२०

(ख) आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु।
वमीषु बहुदोषासु छर्दनं हितमुच्यते।
विरेचनं वा कुर्वीत यथादोषोच्छ्रयं भिषक्। सुश्रुत उ० ४६।१५–१६

१६४ १ (क) हन्यात्क्षीरघृतं पीतं छर्दिं पवनसम्भवाम्।
ससैन्धवं पिबेत्सर्पि र्वातछर्दिनिवारणम्।। सुश्रुत उ० ४६।१८,१६

(ख) वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो नरः पिबेत् सैन्धवद् घृतं तु।
चरक चि० २०।२४

२ चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि।
मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम्।।
वातात्मिकायां हृदयद्रवार्त्तो नरः पिबेत् सैन्धववद् घृतं तु।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य।।
व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्यमात्रामथवा विदध्यात्।
स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैः दधिदाडिमाम्लैः।।
चरक चि० २०।२१, २४–२५

३ पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत्स्यात्।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत्स्वादुभिरूर्ध्वमेव।।
शुद्धाय काले मधु शर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वापि पेयम्।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वापि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा।।
सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान्।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात्।।

चरक चि० २० ।२६–२८

४ (क) ....लिह्यान्मधुनाऽभयाञ्च।
द्राक्षारसं वापि पिबेत्सुशीतं मृद्भृष्टलोष्ठप्रमवं जलं वा।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं पिबेत्सुशीतं मधु संयुतं वा।

चरक चि० २० ।२६,३०

(ख) मृद्भृष्टलोष्ठप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत्।। अ० संग्रह चि० ८ ।१३

१६५ १ जम्ब्बाम्रपल्लवोशीरवटाश्वत्थाङ्कुरोद्भवः।
क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा विनियच्छति।।
छर्दिं ज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम्।। अ० संग्रह चि० ४ ।१४

२ निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्णां सोशीरधान्यं चणकोदकं वा।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा।।
सेव्यं पिबेत् काञ्चन गैरिकं वा सबालकं तुण्डुलधावनेन।
धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि।।
शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वां तथा तुण्डुलधावनेन।।

चरक चि० २० ।३१–३३

३ सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्।
दुरालभां वा मधुसम्प्रयुक्तां लिह्यात्कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम्।।

चरक चि० २० ।३८

१६६. १ (क) मनोभिघाते तु मनोऽनुकूलाः वाचः समाश्वासनहर्षणानि।
लोकप्रसिद्धा श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः।।
गन्धा विचित्राः मनसोऽनुकूलाः मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम्।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंकृता षाडवरागलेहाः।।
यूषाः रसाः काम्बलिका खडाश्च मांसानि धानाः विविधाश्च भक्ष्याः।
फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति।।
गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम्।
तदेव दद्यात्प्रशमाय तस्याः तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम्।।

चरक चि० २० ।४१–४४

(ख) यद्यस्य प्रियमस्य नरस्य असात्म्यञ्च तदेव तस्य प्रशमे दद्यात् कस्मात्?

हि यस्मात् तज्जो यस्य यत्प्रियमथ च असात्म्यं तदसात्म्यजो रोगः तदसात्म्यस्य प्रियस्य गन्धादेर्दानेन जेतुं सुखम् एव भवति।

चरक चि० २० ।४१—४४ पृ० ३११६

२ घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात्केवलेन वा।
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना।।
पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा।
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशो भिषक्।।
सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः।
दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद् व्रणरोपणम्।। चरक चि० २१।६३—६६

३ बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं तृष्यमद्याच्च।
सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान्।।
अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः।
स्निग्धेऽन्ने भुक्तं या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत्।।
तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहै र्हन्यात्।
तृड्दाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्त्रविषपित्ते।।
शस्तं स्वभावशीतं श्रृतशीतं सन्निपातेऽम्भः।। चरक चि० २२।५४—५७

४ तस्माद्धान्याम्बु पिबेत् तृष्यन् रोगी सशर्करा क्षौद्रम्।
यद्वा तस्यान्यत्स्यात्सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम्।। चरक चि० २२।६१

१६७ १ मन्त्रारिष्टोत्कर्त्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः।
अवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि।।
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनानि।
प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः।।
मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः।। चरक चि० २३।३५—३७

२ व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम्।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैबस्तिभिरेव च।
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः। चरक चि० २५।३८—३९

३ शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम्।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम्।।
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ।
द्वे तैले च घृते पत्रं छादने द्वे च बन्धने।।
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः।

काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे।।
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम्।
इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः।। चरक चि० २५।४०–४३

१६८ १ अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान्।
स्थिरादिभि र्वातहरैश्च सिद्धान् दद्याद् रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे।।

चरक चि० २६।४५

२ सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहाः ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविरेकाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः।।
पिबेत्काषायं कमलोत्पलानां श्रृङ्गाटकानामथवा विदार्याः।
दण्डैरकाणामथवापि मूलं पूर्वेण कल्पेन तथाम्बुशीतम्।।

चरक चि० २६।४६,५१

३ क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे।।
पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैडर्यरसेन वापि।।

चरक चि० २६।५४–५५

१६६ १ वल्मीकमृत्तिकां मूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्।
इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम्।।
मूलैर्वाप्यश्वगन्धायाः मूलैरर्कस्य वा भिषक्।
पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः।।
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिका संयुतैर्भिषक्।
गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम्।। चरक चि० २७।४६–५१

२ कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्।
स्थलान्याक्रामयेत् कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा।।
प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शुभाम्।
सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः।।
तथा शुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।। चरक चि० २७।५८–६०

३ पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवः सर्वधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।। शार्ङ्गधर पूर्व ५।४३–४४

४ वायुरायुर्बलं वायु र्वायु र्धाता शरीरिणाम्।
वायु र्विश्वमिदं सर्वं प्रभु वायुश्च कीर्त्तितः।। चरक चि० २८।३

५ अव्याहतगति र्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगः समाः शतम्।। चरक चि० २८।४

१७०. १ रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः।

विषमादुपचाराच्च दोषासृक् स्रवणादति।।
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात्।।
दुःखशय्यासनाद् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद् भयादपि।
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात्।।
मर्मघाताद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनाद्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वानिलो बली।।
करोति विविधान् व्याधीन्सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान्।। चरक चि० २८।१५–१६

२ सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनबस्तयः।
स्निग्धाः स्वेदाः निवातं च स्थानं प्रावरणनि च।।
रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च।
बृंहणं यच्च तत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्।। चरक चि० २८।१०४–१०६

३ पत्रोत्क्वाथपयस्तैलद्रोण्यः स्युरवगाहने।
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम्।।
वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत्।
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम्।।
तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गं पानमेव च।। चरक चि० २८।१०६–११२

४ नास्ति तैलात्परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्।
व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम्।।
गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः।
सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान्।। चरक चि० २८।१८१–१८२

५ स्वेदास्तीक्ष्णाः निरूहाश्च वमनं सविरेचनम्।
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्।।
संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्।
आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत्।।
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा।
स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः।।
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं बस्तिभित्तौ विनिर्हरेत्।
श्लेष्मणानुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्र संयुतैः।।
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः।
मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत।
स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरौषधैर्जयेत्।
वमनै र्वा विरेकै र्वा बस्तिभिः शमनेन वा।।

चरक चि० २८।१८७–१९२,१९८

यापनाबस्तयः प्रायो मधुरा सानुवासनाः।

प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम्।। चरक चि० २८।२४०–२४१

१७१ १ विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।
रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद् वस्तिकर्म च।।
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहा प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते विशेषं तु निबोध मे।
बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः।
विरेकास्थापनस्नेहपानैः गम्भीरमाचरेत्।। चरक चि० २६।४१–४३

२ सर्पिस्तैलवसामज्जापानाभ्यञ्जनबस्तिभिः।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचेरत्।।
विरेचनैः घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः।
शीतैः निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत्।।
वमनं मृदु, नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्।
कोष्णाः लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे।। चरक चि० २६।४४–४६

३ तैलं पयः शर्कराञ्च पाययेद् वा सुमूर्छिताम्।
सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैः मिश्रं वापि पिबेत्पयः।।
धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्।
पिबेद् वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः।।
क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः।।
कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा। चरक चि० २६।७६–८४

४ त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत् क्षौद्रेण संयुतम्।
धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिकः।। चरक चि० २६।८६

५ निर्हरेद्वा मलं तस्य स घृतैः क्षीरबस्तिभिः।
नहि बस्तिसमं किञ्चद् वातरक्तचिकित्सितम्।। चरक चि० २६।८८

१७२. १ स्नेहनस्वेदनबस्त्यादिवातजास्वनिलापहम्।
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च।।
श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद् विचक्षणः।
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत्।।
स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः।

पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत्पुनः।।
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्त्तयेत्।
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः।। चरक चि० ३० ।४१–४५

२ श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्राः बस्तयो हिताः।
पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः।।
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम्।। चरक चि० ३० ।८५–८६

३ रोहीतकान्मूलकल्कं पाण्डुरेऽसृग्दरे पिबेत्।
जलेनामलकी बीजं कल्कं वा ससितामधु।
मधुनामलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम्।
न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत्।। चरक चि० ३० ।११६–११८

४ बस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वनितान्प्रयोजयेत्।।
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित्।
सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम्।।
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः।
प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यः ततस्तमनुवासयेत्।। चरक चि० ३० ।१६३–१६७

५ ध्वजभङ्गकृतं क्लैव्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत्क्रियाम्।
प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्।।
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम्।
अनुवासनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थानं पुनः।। चरक चि० ३० ।१६६–२०१

६ जरासम्भवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम्।।
क्षीरसर्पि वृष्ययोगाः बस्तयश्चैव यापनाः।
रसायनप्रयोगाश्च तयो भैषज्यमुच्यते।। चरक चि० ३० ।२०२–२०३

१७३ १ तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम्।
संस्वेद्य विधिवद् वैद्यो वमनेनोपपादयेत्।।
सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः।
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत्।।
त्रिवृतामभयां वापि त्रिफलारससंयुताम्।
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वापि केवलाम्।।
सम्यग्विरिक्तां मतिमान् कृतसंसर्जनां पुनः।
ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत्।।
शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाकाः भोजने हिताः।

प्रियङ्गवः कोरदूषः यथा वेणुयवास्तथा।

वंशवेत्रकलायाश्च शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः।
मुद्गान्मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत्।।
निम्बवेत्राग्रकुलकवार्त्ताकामलकैः शृतान्।।
सव्योषसैन्धवान् यूषान्दापयेत्स्तन्यशोधनान्।। चरक चि. ३० ।२५१–२५६

२ अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं चैव सनागरम्।
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत्।।
त्रीनेतान्स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम्।। चरक चि० ३० ।२६१–२६२

३ व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते।।
वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।।
वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि।।
निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजाः गदाः।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः।।
वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम्।।
जीर्णान्ते वातजाः रोगाः जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम्।। चरक चि० ३० ।३०८–३१२

१७४. १ तस्माद् दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।।चरक चि० ३० ।३२६–३२७

ग्यारहवां अध्याय

एकल प्राकृतिक द्रव्यों से स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा

एकल प्राकृतिक द्रव्यों से स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा

इससे पूर्व के अध्यायों में शरीर–शोधन और स्वास्थ्य तथा प्राकृतिक चिकित्सा एवं प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग शीर्षकों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों द्वारा अपनायी गयी प्राकृतिक चिकित्सा विधि पर विस्तार से प्रमाणों सहित चर्चा की जा चुकी है, क्योंकि प्रकृति में विद्यमान कोई भी पदार्थ चाहे वे बाह्य प्रयोग के हों अथवा आहार द्रव्य औषध गुणों से रहित नहीं है। अग्नि जल एवं सूर्य की किरणें तक औषधीय प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं। अतः प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ औषधीय प्रभाव वाले पदार्थों के उपयोग से दूर रहना तो है नहीं। वर्त्तमानकालीन भारतीय एवं विदेशी प्राकृतिक चिकित्सक भी सहज सुलभ द्रव्यों एवं वनस्पति आदि का प्रयोग करते ही हैं। प्राचीन आचार्य भी विभिन्न क्षेत्रों में सहज रूप से उपलब्ध होने वाले प्राकृतिक पदार्थों और वनस्पतियों का प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में ही उपयोग करते थे, जिसका विवरण हमें महर्षि आत्रेय कृत चरकसंहिता के सूत्रस्थान के सत्ताइसवें (अन्नपान विधि अध्याय) एवं राज निघण्टु, सोढ्वल निघण्टु, भावप्रकाश निघण्टु आदि ग्रन्थों से प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्याय में भावप्रकाश विघण्टु के संदर्भ देते हुए प्राचीन आचार्यों द्वारा सैकड़ों हजारों वर्षों से पौष्टिकता अङ्गविशेष पर प्रभाव वात आदि दोषों पर उनका प्रभाव एवं विविध रोगों के निवारण हेतु उनके प्रयोग का विवरण अत्यन्त संक्षेप में संकलित किया जा रहा है। सुस्पष्टता की दृष्टि से हम इस पूरे प्रकरण को ऊपर संकेतित शीषकों के अन्तर्गत कालमों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है इससे प्राचीन आचार्यों की प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि को समझने में सुविधा होगी।

औषध द्रव्यों के कुछ विशिष्ट गुण धर्म

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता	विशेष
हरीतकी	१।१०				सर्वरोगहर	
हरी.विजया रोहि.	१।१०				व्रणरोपणी	
हरीतकी रोहिणी	२।२०					
हरीतकी पूतना	१।१०				प्रलेप–उपयोगी	
हरीतकी अमृता					शुद्धिकरी	
हरीतकी अभया				नेत्ररोग		
हरीतकी जीवन्ती					सर्वरोगहर	
चेतकी हरीतकी	१।१४–१५		भेदक, विरेचन		कब्ज	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
हरीतकी	१।१८–२४	रसायन बृंहण	चक्षुष्या, मेध्या	कफपित्तहर वातहर	श्वास, कास, प्रमेह अर्श, कुष्ठ, शोथ, उदर रोग, कृमि वैस्वर्य ग्रहणी विबन्ध विषमज्वर गुल्म आध्मानव्रण छर्दि हिक्का कण्ठरोग हृदयरोग कामलाशूल आनाह यकृत् प्लीहा अश्मरी मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात
बिभीतक	१/३४ ३६		नेत्र्य, केश्य	कफपित्तहर वातहर	कास कृमि वैस्वर्य प्यास छर्दि
आंवला	१/३६–४१	रसायन, वृष्य			त्रिदोषहर रक्तपित्त, प्रमेह
त्रिफला[1]	१/४३		चक्षुष्य, रूच्य	कफपित्तहर	प्रमेह कुष्ठ विषम ज्वर मन्दाग्नि
सोंठ	१/४५–४८	वृष्य	स्वर्य	कफवातहर	कब्ज, वमन श्वास शूल कास हृदय रोग श्लीपद शोफ, आनाह वातोदर जलोदर
अदरक	१/४६–५२	दीपन,	रूच्य जिह्वाकण्ठ शोधक	कफवातहर	कब्ज आदि
पिप्पली	१/५४–५६	वृष्य, मेध्य		आर्द्र–कफ–कारक पित्तशामक सूखी, कफमेदहर पित्त–प्रकोपनी	कब्ज श्वास कास उदर रोग ज्वर कुष्ठ प्रमेह गुल्म अर्श प्लीहा शूल आमवात, श्वास कास ज्वर मन्दाग्नि, जीर्ण ज्वर अतिसार (गुडपिप्पली) कास अजीर्ण अरुचि श्वास पाण्डु कृमि

---

१. त्रिफला – आँवला हरड़ बहेड़ा

औषध द्रव्य	संदर्भ	यौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
काली मिर्च	१/५६–६१			कफवातजित् पित्तकर	श्वास शूल कृमि
त्रिकटु[1]	१/६२–६३			कफवातहर	श्वास कास चर्म रोग गुल्म प्रमेह स्थूलता श्लीपद पीनस
पिप्पलीमूल	१/६३–६५		पाचन	पित्तकर कफवातहर	उदर रोग आनाह गुल्म कृमि प्लीहा श्वास कफ रोग
चव्य	१/६७			गुदा के रोग	
गजपिप्पली	१/६८–६६		पाचन	कफवातहर	अतिसार कण्ठरोग श्वास कृमि
चित्रक	१/६६–७१		पाचन	कफवातहर पित्तवर्धक	ग्रहणी कुष्ठ शोथ अर्शकृमि कास
पञ्चकोल[2]	१/७२–७३		रुच्य, पाचन	कफवातहर पित्त प्रकोपक	गुल्म प्लीहा उदररोग आनाह शूल
षड्रूषण[3]	१/७४				विषहर, गुल्म प्लीहा आनाह शूल
अजवाइन	१/७६–७७		पाचन, रुच्य	कफवातहर	शुक्रशूल, उदररोग आनाह गुल्म प्लीहा कृमि
अजमोदा	१/७८–७६	वृष्य बलकारी	पाचन हृद्य	कफवातहर	नेत्ररोग कफरोग वमन हिक्का बस्तिरोग
अजवाइन खुरासाणी	१/८०		पाचन		ग्राही
जीरा	१/८३–८५	वृष्य, बल्य	दीपन मेध्य चक्षुष्य	पित्तल कफवातहर	गर्भाशय शोधक, ज्वर, आध्मान, गुल्म वमन, अतिसार
धनिया	१/८६–८८	वृष्य	पाचन	त्रिदोषहर विशेषतःपित्तहर	ज्वर, तृष्णा, दाह वमन कास श्वास कृशता कृमि

१. त्रिकटु–काली मिर्च पिप्पली सोंठ
२. पंचकोल–पिप्पली पिप्पलीमूल चव्य चित्रक सोंठ
३. षड्रूषण–पञ्चकोल, कालीमिर्च

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
सौंफ सोया	१/६०–६२		पाचन,हृद्य	पित्तवर्द्धक वातकफहर	ज्वर व्रण शूल नेत्ररोग योनिशूल मन्दाग्नि कब्ज कृमि वमन
मेथी	१/६५			वातशामक, कफहर	ज्वर वातरोग
चमसुर	१/६७	बलपुष्टिकर		कफवातहर	हिचकी वातरोग कफ–रोग,अतिसार, रक्तविकार
चतुर्बीज[1]	१/६६				वातरोग, अजीर्ण, आध्मान पार्श्वशूल कमरदर्द
हींग	१/१००		पाचन रुच्य	कफवातनाशक पित्तवर्धक	शूल गुल्म आनाह उदररोग कृमिरोग
वचा	१/१०२–१०३			दीपन, वमनकर वातनाशक	कब्ज अफारा, शूल, अपस्मार, कफज, उन्माद मलमूत्र शोधक, वातरोग
बालवचा	१/१०४			वातनाशक	वातरोग
कुलिंजन	१/१०५		स्वर्य, रुच्य	कफनाशक	कास, हृदय, कण्ठ,
चोपचीनी	१/१०७ १०८		दीपन		मुख–शोधक कब्ज अफारा शूल वातरोग अपस्पार उन्माद, फिरंग मलमूत्र शोधक
हाऊवेर	१/१११ –११२		दीपन		पित्तोदर वातरोग अर्श ग्रहणी गुल्म शूल
विडंग	१/११३		दीपन	कफवातहर	शूल अफारा उदररोग कृमि कब्ज
नेपाली धनियां	१/११५––११६		दीपन रुच्य	कफवातहर	नेत्र रोग कर्ण रोग, ओष्ठ रोग शिरो रोग, कृमि कुष्ठ शूल अरुचि श्वास प्लीहा मूत्रकृच्छ्र
वंशलोचन	१/११७		बृंहण, वृष्य बल्य	वातपित्तहर	तृष्णा कास ज्वर श्वास क्षय रक्त पित्त कामला कुष्ठ व्रण पाण्डू वातज मूत्रकृच्छ्र

---

१. चतुर्बीज–मेथी चमसुर कालाजीरा अजवाइन

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
समुद्र फेन	१/११६ –१२०		चक्षुष्य	कफपित्तहर	विष कर्ण रोग हृदयरोग
जीवक ऋषभक	१/१२५ –१२६		शुक्रद बल्य	कफकर पित्तहर	दाह रक्ताल्पता, कृशता
रास्ना	१/१६६– –१६७			आमपाचन	वात रोग कफवातहर शोथ श्वास वातरक्तवात शूल उदर रोग कास ज्वर विष सिध्म एवं अस्सी प्रकार के वातरोग
नाकुली (सर्पाक्षी)	१/१६६			त्रिदोषनाशक	ज्वर कृमि व्रण एवं सर्पविष बिच्छू मकडी चूहा का विष
पटसन	१/१७१			पित्तकफहर	पक्वातिसार, रक्त दोष खुजली
तेजबल	१/१७२ –१७३		रुच्य, दीपन	कफहर वात रोग अरुचि	कास श्वास मुख रोग
ज्योतिष्मती	१/१७४ –१७५	बुद्धिवर्धक दीपन	वमनकारी		मन्दाग्नि, बुद्धि दौर्बल्य
कुष्ठ (कुठ)	१/१७६	शुक्रल		कफवातहर	वातरक्त वीसर्पकासकुष्ठ
पुष्कर मूल	१/१७८			कफवातहर	ज्वर कास अरुचि श्वास पार्श्व शूल
स्वर्णक्षीरी	१/१८०		रेचक, वमन–कारी	कफपित्तहर	कृमि रोग खुजली विष कुष्ठ अफारा रक्त दोष
काकड़ासिंगी	१/१८२			कफवातहर	ज्वर श्वास ऊर्ध्ववात तृषा, कास हिक्का अरुचि वमन
कायफल	१/१८४			कफवातहर	ज्वर श्वास प्रमेह अर्श कास खुजली अरुचि
भंगरैया	१/१८६ –१८७		पाचक, दीपन	कफवातहर	अपच मन्दाग्नि गुल्म रक्त दोष, शोथ कास श्वास ज्वर पीनस, वातरोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
पाषाण भेद	१/१८८ –१८६		वस्तिशोधक भेदन		अर्श गुल्म मूत्रकृच्छ्र पथरी हृदयरोग योनि रोग प्रमेह प्लीहा शूलव्रण
जीवक	१/१२३–१२६		शुक्रद	कफकर	
ऋषभक	१/१२५–१२६			बल्य	पित्तहर
मेदा	१/१३०	वृष्य, बृंहण	स्तन्य	कफकारक	वात रक्त ज्वर पित्तज
महामेदा	–१३१			पित्तवातहर	रोग
काकोली	२/१३६	शुक्रल		वातहर	वात रोग दाह रक्त–
क्षीरकाकोली	–१३७	बृंहण			पित्त शोथ ज्वर
ऋद्धि	१/१४०	बल्या शुक्रल	प्राण–ऐश्वर्य–कृत्	त्रिदोषहर	मूर्च्छा रक्तपित्तहर क्षत
वृद्धि	–१४१	बृंहण–वृष्य	गर्भप्रद		कास क्षय रोग हर
अष्टवर्ग[१]	१/१२१ –१२२	बृहंणशुक्रल बलवर्धक	कामवर्धक	कफकर वातपित्तहर	भग्नसन्धानकर कृशता रक्तापित्त रक्त दोष तृषा दाह ज्वर प्रमेहक्षय
मुलहठी	१/१४७ –१४८	बल्य, वर्णकर शुक्रल	चक्षुष्या– स्वर्य, केश्य	वातपित्तहर	व्रण शोथ विष वमन ग्लानि क्षय
कबीला	१/१४६		विरेचक	कफपित्तहर	रक्त दोष कृमि गुल्म उदररोग व्रण प्रमेह अफारा विष अश्मरी
अमलतास	१/१५१ –१५३		रुच्य, कोष्ठगत कफ–पित्तहर		ज्वर हृदयरोग, रक्तपित्त वात रोग उदावर्त शूल कोष्ठगत कफपित्त हर कोष्ठशोधक अरूचि
कुटकी	१/१५५ –१५६		दीपन भेदन हृद्य	कफपित्तहर	ज्वर प्रमेह कास श्वास रक्तदोष, दाह, कुष्ठ कृमिरोग
इन्द्र जौ	१/१६१– १६२			संग्राही खूनी बवासीर कृमि	त्रिदोषहर अतिसार नाशक ज्वर वीसर्प कुष्ठ गुदकील अर्श रक्त दोष वात रक्त कफज शूल
मदन फल	१/१६४ –१६५		लेखन, वमन कर	कफनाशक	विद्रधि प्रतिश्याय व्रण कुष्ठ अफारा शोथ गुल्म व्रण

---

१ अष्टवर्ग–जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
धाय के फूल	१/१६०		मदकारी	पित्तहर	तृषा, अतिसार, रक्तदोष विष कृमिरोग विसर्परोग
मजीठ	१/१६३ –१६४		स्वर्य, वर्णकर	कफहर	विष शोथ योनिरोग नेत्ररोग कर्णरोग रक्तदोष अतिसार कुष्ठवीसर्प व्रण प्रमेह
कुसुम्भ	१/१६५			वातल	मूत्रकृच्छ्र रक्तापित्त
लाक्षा	१/१६६ –१६७	बल्य	वर्णकर	कफपित्तहर	रक्त दोष हिचकी कास ज्वर व्रण उरूक्षत वीसर्प कृमि रोग कुष्ठ व्यंग्यरोग
हल्दी	१/१६६		वर्णकर	कफपित्तहर	चर्म रोग प्रमेह रक्त दोष शोष पाण्डु व्रण
आमाहल्दी	१/२०१			वातल, पित्तहर	खुजली सर्वविधकण्डु
वनहल्दी	१/२०२				कुष्ठ वातरक्त
दारूहल्दी	१/२०५			कफपित्तहर	चर्म रोग प्रमेह रक्त–हल्दी के सदृश दोष शोष पाण्डु व्रण गुण नेत्र कर्ण रोग मुखरोग
रसांजन	१/२०६ –२०७	रसायन	छेदन	कफहर	विष नेत्र रोग व्रणदोष
बाकुची	१/२०६ –२१०	रसायन	रुच्य, विरेचक हृद्य	कफपित्तहर	कब्ज अरुचि, रक्तपित्त कफ रोग श्वास कुष्ठ प्रमेह ज्वर कृमि
बाकुचीफल	१/२१०		केश्य,त्वच्य	पित्तल कफवातहर	वमन श्वास कास शोथ आमदोष पाण्डु
चकवड़	१/२१० –२१३		हृद्य	वातपित्तहर वातहर	श्वास कास कुष्ठ दाद कृमि
चकवड़ का फल	१/२१३			वातहर	कुष्ठ कण्डू दद्रु विष गुल्म कास श्वास कृमि रोग
अतिविषा	१/२१५ –२१६		पाचन, दीपन	कफपित्तहर	अतिसार आम विष कास वमन कृमिरोग
लोध	१/२१८		चक्षुष्य, ग्राही	कफपित्तहर	रक्त पित्त रक्तदोष ज्वर शोथ अतिसार

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
लशुन	१/२२३ –२२५	बृंहणवृष्य रसायन बलदायी	पाचन, सारक कण्ठ्य, वर्ण–कर, मेध्य नेत्र्य	पित्तरक्त–वर्धक वातकफहर	भग्नसंधानकृत् हृदय रोग जीर्णज्वर, कुक्षि शूल, कब्ज गुल्म अरूचि कास श्वास शोथ दुर्नाम कुष्ठ, मन्दाग्नि
प्याज	१/२२६ –२२७	बलवीर्य कर	उपर्युक्त	कफकारक वातहर	उपर्युक्त लसुन सदृशगुण
भिलावा	१/२३०		पाचन,भेदक मेध्य	कफवातहर	स्थूलताहर, मन्दाग्नि व्रण उदररोग कुष्ठ अर्श ग्रहणी गुल्म शोथ अफारा ज्वर कृमि
भिलावा की मज्जा	१/२३१ –२३२	बृंहण, वृष्य शुक्रल	केश्य, दीपन	वातपित्तहर	वातज कफज उदर रोग अफारा कुष्ठअर्श ग्रहणी गुल्मज्वर श्वित्र मन्दाग्नि कृमि व्रण
विजया (भांग)	१/२३४	ग्राहिणी, पाचन अग्निदीपक मोहकर मन्दवाक्		पित्तल, कफहर	मन्दाग्नि
पोस्तदाना	१/२३६ –२३७	धातुशोषक पुंस्त्व नाशक	ग्राही,मादक वाग्वृद्धिकर रूच्य	वातकर, कफहर	कास, अरूचि
अफीम	१/२३८		शोषक, ग्राही	कफहर वातपित्तल	
पोस्ता बीज	१/२३९ –२४०	बल्य, वृष्य		कफशामक वातहर	
सेंधानमक	१/२४१	वृष्य	दीपक पाचन चक्षुष्य	त्रिदोषहर	मन्दाग्नि नेत्र रोग
सांभर नमक	१/२४२ –२४३		भेदक	वातहर, पित्तल	शीतहर कब्ज
समुद्र नमक	१/२४४ –२४५		भेदक दीपन	श्लेष्मल वातहर	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
सोंचर नमक	१/२४७		दीपन, रुच्य व्यवायी	कफवात अनुलोमन	अरुचि, कब्ज, अफारा, पीड़ा, शूल
काला नमक	१/२४६		रुच्य, मेदक दीपन–पाचन	वातहर	स्नेह सहित–वात रोग नाशक
ऊषर नमक	१/२५०			वातहर	वात रोग
चणकाम्ल	१/२५१		रुच्य		अरुचि, शूल, अजीर्ण कब्ज
यवक्षार (सज्जी)	१/२५३ –२५४			कफहर	शूल आमवात श्वास पाण्डु कण्ठ रोग अर्श ग्रहणी गुल्म अफारा प्लीहा हृदयरोग
सोहागा	१/२५६		वह्निकर	कफहर,वात–पित्तकर	मन्दाग्नि
क्षाराष्टक[1]	१/२५६				गुल्म शूल
चुक्र	१/२६०		दीपन पाचन	कफहर	शूल गुल्म कब्ज आम वात वमन प्यास, मुख–वैरस्य, हृदय पीड़ा मन्दाग्नि
कपूर	२/२–४	वृष्य	चक्षुष्य, लेखन	कफपित्तहर	विष, दाह, तृष्णा, मुख–वैरस्य मोटापा, दुर्गन्धि
चीनियाकपूर	२/४,५			कफहर	कुष्ठ कण्डू वमन
कस्तूरी	२/८,६	शुक्रल		कफवातहर	विष वमन शीत दुर्गन्धि शोष
लताकस्तूरी	१/६, १०	वृष्य	चक्षुष्य, छेदनी	कफहर	तृषा वस्तिरोग मुखरोग
गन्धमार्जार का वीर्य	२/१०, ११	वीर्य वर्धक	चक्षुष्य	कफवात हर	कण्डु कूष्ठ, स्वेदगन्ध
चन्दन	२/१३, १४		आह्लादन	कफ पित्तहर	थकावट शोष विष तृषा, रक्तपित, दाह
लालचन्दन	२/१३,	वृष्य	चक्षुष्य	पित्तशामक	ज्वरव्रण, विषदोष वमन तृषा, रक्त पित
हरिचन्दन	२/१७	वृष्य	चक्षुष्य	उपर्युक्त व्यंग्यदोष	लालचन्दन के
पतंग	२/१६			पित्तश्लेष्मनुत्	दाह व्रण रक्तदोष समान

१. क्षाराष्टक – सेंधा नमक, सांभर नमक, समुद्र नमक, सोचर, काला नमक, ऊषर नमक यवक्षार (सज्जी) चणकाम्ल

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
अगर	२/२२–२३		त्वच्य	पित्तल वातकफहर	कर्णरोग नेत्ररोग शीत
देवदारू	२/२५ २६			कफवातहर	कब्ज अफारा शोथ आम तन्द्रा हिचकी ज्वर रक्त–विकार प्रमेह पीनस, कास खुजली
सरल	२/२७, २८			कफवातहर	कर्णरोग नेत्ररोग कण्ठ रोग स्वेद दाह कास मूर्च्छा व्रण
तगर	२/३०			त्रिदोषहर	विष अपस्मार शूल नेत्र रोग
छोटी इलायची	२/६३ ६६			वातकफहर	श्वास कास अर्श मूत्रकृच्छ्र
दालचीनी	२/६५, ६६			पित्तल कफवातहर	खुजली आमदोष अरूचि हृदय रोग वस्ति रोग, वात रोग अर्श कृमि पीनस शुक्रहर
दारुसिता	२/६७	शुक्रल	वर्ण्य	वातपित्तहर	मुखशोष , तृषा
तमालपत्र	२/६८			कफवातहर	अर्श ह्ल्लास अरूचि पीनस
नागकेसर	२/७०, ७१		आमपाचन	कफपित्तहर	दुर्गन्ध कुष्ठ वीसर्प विषदोष
चतुर्जातक[1]	२/७३		वर्ण्य	पित्तवर्धक कफवातहर	मुखगन्धहर, विषदोषहर
कुंकुम	२/७८		वर्ण्य	त्रिदोषहर	शिरो रोग व्रण कृमि–रोग वमन व्यंग्य
गोरोचन	२/७६, ८०		वर्ण्य, कान्तिकर	विषदोष उन्माद	गर्भस्राव, क्षत, रक्त दोष
नख (व्याघ्रनख)	२/८१, ८२	शुक्रल	वर्ण्य	कफवातहर	ग्रह दोष रक्तदोष ज्वर कुष्ठ व्रण विष मुखगन्ध

१. चतुर्जातक–दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
ह्रीवेर	२/८३, ८४		दीपन पाचन		हृल्लास अरूचि वीसर्प हृदय रोग आमातिसार
वीरण	२/८५		पाचन,शामक स्तम्भन	कफपित्तहर	ज्वर वमन मद, तृषा रक्त दोष वीसर्प मूत्र–कृच्छ्र दाह व्रण
उशीर	२/८७, ८८		पाचन शीत सतम्भन	कफपित्तहर	ज्वर वमन मद तृषा रक्त दोष विषदोष विसर्प दाह मूत्र–कृच्छ्र व्रण
जटामांसी	२/८६, ६०	बलप्रद	मेध्य, कान्तिकर	त्रिदोषहर	रक्तदोष दाह वीसर्प कुष्ठ
पद्माक्ष	२/३१, ३२	वृष्य	गर्भस्थापन	कफहर	विसर्प दाह फोड़े कुष्ठ वमन रक्तपित्त व्रण तृषा
गुग्गुल	२/३८, ४२	वृष्य, रसायन बलप्रद बृहंण	सारक स्वर्य दीपन, पिच्छिल लेखन (पुराना)	पित्तल कफवातहर त्रिदोषहर	व्रण अपच मोटापा प्रमेह अश्मरी वात रोग क्लेद कुष्ठ आमवात, पिण्डिका ग्रंथि–शोथ अर्श गण्डमाला कृमि भग्नसन्धान कृत्
गन्धविरोजा	२/४७			पित्तल, वातहर	मूर्धारोग, नेत्ररोग, स्वरदोष दोषक्षय स्वेददुर्गन्ध यूका व्रण खुजली
राल	२/४६		ग्राही	त्रिदोषहर	रक्तदोष, स्वेद, वीसर्प, ज्वर व्रण, विपादि का ग्रहदोष दग्ध, अस्थिभङ्ग आमशूल एवम् अतिसार
कुन्दुरू	२/५१		त्वच्य	कफवातहर	ज्वर स्वेद ग्रहदोषया अलसी मुखरोग मधुमेह वृषणपीडा
शिलाजतु	२/५३	शुक्रवर्धक वृष्य	कान्तिकर कण्ठ्य		स्वेद कुष्ठ ज्वर दाह ग्रहदोष
जायफल	२/५५		दीपन, रुच्य ग्राही, स्वर्य	कफवातहर	मुखवैरस्य, मल दुर्गन्ध कृष्णता कृमिकास श्वास वमन शोष पीनस हृदय रोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
जावित्री	२/५७		रूच्य, वर्णकर	कफहर	कासश्वास वमन तृषा कृमिरोग विषदोष
लवंग	२/५६, ६०		दीपन, पाचन रुच्य	कफपित्तहर	वमन, रक्तपित्त, अफारा, तृषा शूल, कासश्वास, हिक्का, क्षय
बड़ी इलायची	२/६१, ६२			वातकर कफपित्तहर	रक्तपित्त रक्तदोष खुजली श्वास तृषा हृल्लास विष वस्तिरोग मुख रोग शिरो–रोग वमन कास
छरीला	२/६१		हृद्य	कफपित्तहर	खुजली कुष्ठ पथरी दाह विष हृल्लास रक्तदोष
नागरमोथा	२/६३, ६४		पाचन, दीपन ग्राही	कफपित्तहर	रक्तदोष तृषा ज्वर अरुचि कृमि
कचूर	२/६५		दीपन, रुच्य	वातकफहर	अरुचिकुष्ठ, अर्श, व्रण कास रोग
शालपर्णी (मुरा)	२/६७, ६८			पित्तवातहर	ज्वर रक्त दोष भूतदोष कुष्ठ कास
कपूरकचरी	२/६६, १००		ग्राही		मुखमल, शोथ कास श्वास व्रण शूल हिध्म ग्रहदोष
प्रियंगु	२/१०२ –१०४			वातपित्तहर	दुर्गन्ध रक्तातिसार स्वेद दाह ज्वर गुल्म तृषा विष प्रमेह
प्रियंगुफल	२/१०४	बलकारी		कफपित्तहर	कब्ज अफाराकरी
रेणुका	२/१०६		दीपन, पाचन मेध्य	पित्तल कफवातहर	तृषा खुजली विषदोष दाह (गर्भपातक)
गठिवन	२/१०७		दीपन	कफवातकर	विष श्वास खुजली दुर्गन्ध
शुकबर्ह (स्थौणेयक)	२/११० –१११	शुक्रकर	मेध्य, रूच्य	त्रिदोषहर	ज्वर कृमि कुष्ठ रक्त कालेतिल दोष, तृषा, दाह, दुर्गन्ध
ग्रन्थिपर्ण (भटेउर)	२/११२, ११३		हृद्य	कफवातहर	कुष्ठ खुजली अलक्ष्मी स्वेद मोटापा रक्त दोष ज्वर दुर्गन्ध विषदोषव्रण

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
तालीसपत्र	२/११४, ११५		रुच्य	कफवातहर	श्वास कास अरुचि गुल्म क्षय आमदोष मन्दाग्नि
कंक्कोल (शीतलचीनी)	२/११६		हृद्य, रुच्य	कफवातहर	मुख दुर्गन्ध, हृदयरोग कफरोग, वातरोग, अन्धापन
गन्ध कोकिला	२/११७			कफहर	कफरोग
गन्धमालती	२/११७			कफहर	कफजन्यरोग
लामज्जक	२/११६			त्रिदोषहर	रक्तदोष, चर्म रोग स्वेद दाह मूत्रकृच्छ्र रक्त पित्त
सुगन्धकोकिला	२/१२१, १२२			कफपित्तहर	खुजलीव्रण वमन तृष कास अरुचि हृदय रोग कफरोग विष रक्तपित्त रक्त दोष कुष्ठ कृमि मूत्र रोग
कुन्नट	२/१२३		कान्तिप्रद	कफपित्तहर	रक्तपित्त, रक्तदोष वीसर्प, कुष्ठ, खुजली विषदोष
एलुवा	२/१२६			त्रिदोषहर	कुष्ठ, खुजली, विषदोष स्वेद दाह रक्तदोष रक्त ज्वर
पनडी	२/१२८		वर्णकर	कफपित्तहर	विषदोष व्रण खुजली रक्त दोष कुष्ठ विषव्रण
नलिका (नटी)	२/१३०		चक्षुष्य	कफपित्तहर वातहर	मूत्रकृच्छ्र पथरी तृषा रक्त दोष कुष्ठ खुजली ज्वर
पौण्डरीयक	२/१३१	शुक्रल	चक्षुष्य, वर्ण्य	पित्तकफहर	नेत्ररोग
पोदीना	२/१३३ १३५		हृद्य, रुच्य	कफहर	कफरोग खांसी मद, मन्दाग्नि मल मूत्रस्तम्भक, हैजा, संग्रहणी, अतिसार, जीर्णज्वर, कृमि रोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
गिलोय	३/८ –१०	रसायन बलकारी	ग्राही, बलकर दीपन	त्रिदोषहर	आमदोष, तृषा, दाह, प्रमेह कास, पाण्डु, कामला, वात–रक्तज्वर, कृमि वमन प्रमेह श्वास अर्श मूत्र–कृच्छ्र हृदय रोग वातरोग
ताम्बूल	३/११ –१२	बलकारी		रक्तपित्तकर कफवातहर	मुखदुर्गन्ध, मल थकावट
बिल्व	३/१३ १४ ६/६०	बलकारी	ग्राही, दीपन, पाचन मेधाकर	पित्तकर, कफवातहर	मन्दाग्नि, ग्रहणी आम शूल
गम्भारी श्रीपर्णी	३/१६ –१६	रसायन, वृष्य बृहंण	दीपन, पाचन मेध्य भेदन, शोधक	वातपित्तहर	भ्रमशोथ तृषा आमशूल अर्श विष दाह ज्वर तृषा रक्त–दोष क्षय मूत्ररोग कब्ज क्षय
पाटला	३/२१ –२३		हृद्य, कण्ठ्य	त्रिदोषहर	अरुचि, श्वास, शोथ, अर्श वमन, हिचकी, तृषा पित्तातिसार हृदयरोग फल=रक्त पित्तहर
अरणी	३/२४, २५		दीपन	कफवातहर	शोथ पाण्डु मन्दाग्नि
श्योनाक	३/२७		दीपन, ग्राही	त्रिदोषहर	कास आमदोष
श्योनाकफल	३/२६		हृद्यदीपन	कफवातहर	श्वास, कास, कृमि
बृहत्पंचमूल[1]	३/३०		दीपन	वातकोयन	गुल्मअर्श,
शालपर्णी (सरिवन)	३/३२ –३३	रसायन बृहंण		त्रिदोषहर	वमन ज्वर श्वास अतिसार शोष विषदोष क्षत कास कृमिरोग
पृश्निपर्णी (पिठवन)	३/३४ –३५	वृष्य	सारक	त्रिदोषहर	दाहज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा, वमन

१. बृहत्पंचमूल – बिल्व, गम्भारी, पाटला, अरणि, श्योनाक

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
बृहती (वरहंठा)	३/३६ –३७		हृद्यग्राही पाचन	कफवातहर	मुखवैरस्य, मल अरूचि कुष्ठ ज्वर श्वास कास शूल मन्दाग्नि
कण्टकारी	३/४० –४३	शुक्ररेचक	दीपन, पाचन, गर्भकरी, भेदक	कफवातहर पित्तकर	कास,श्वास,ज्वर,पीनस कृमि पार्श्व शूल हृदय रोग खुजली मोटापा
लक्ष्मणा (श्वेतपुष्पा कण्टकारी)	३/४३		गर्भकरी		पूर्ववत्
गोखरू	३/४५ –४६	बलकारी वृष्य पुष्टिद	वस्तिशोधक दीपन	वातहर	पथरी प्रमेह श्वास लघुपञ्चमूल कास अर्श मूत्रकृच्छ्र हृदयरोग, वातरोग
लघुपंचमूल[1]	३/४८	बृंहण	ग्राही	वातपित्तहर	ज्वर, पथरी
दशमूल[2]	३/४६ –५०			त्रिदोषहर	श्वास कास शिरोरोग तन्द्रा शोथ ज्वर अफारा पार्श्वशूल अरूचि
जीवन्ती	३/५१ –५२	रसायन बल्य	चक्षुष्य, ग्राही	त्रिदोषहर	क्षत, शोथ, ज्वर, दाह
मुद्गपर्णी	३/५३ –५४	शुक्रल	चक्षुष्या, ग्राही		ग्रहणी, अर्श, अतिसार
माषपर्णी	३/५६	शुक्रकर	ग्राही	कफकर वातपित्तहर	शोथ,वातरोग,रक्तदोष
जीवनीयगण	३/५७ –५६	शुक्रकर बृंहण	स्तन्य गर्भकर पित्तहर	कफकर ज्वर,दाह,	रक्त पित्त तृषा शोष रक्तदोष
एरण्ड	३/६२ –६६			कफवातहर	शूल, शोथ, कटिवस्ति शिर की पीड़ा, उदर रोग ज्वर ब्रध्न
एरण्ड पत्र	३/६३ –६४	धातुवर्धक (सप्त)		वातहर,कफहर पित्तरक्तदोषकर	कृमिरोग, मूत्रकृच्छ्र पत्राग्र–गुल्म, बस्तिशूल, कृमि
एरण्डफल	३/६५ –६६	दीपन, भेदक		वातहर	गुल्म शूल वातरोग यकृत्प्लीहा के रोग, उदर रोग अर्श कब्ज वातोदर कफोदर

१. लघुपंचमूल–शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहती, कण्टकारी, गोखरु

२. दशमूल–बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
आकारकरभ	३/६७ –६८	बलकारी			प्रतिश्याय, शोथ, वातरोग
अर्क (मदार)	३/७०–७४	सारक			वातरोग कुष्ठ खुजली विषदोष व्रण प्लीहा रोग गुल्म अर्श कृमि
अर्क पुष्प	३/७१ –७२	वृष्य	ग्राही		श्लेष्मोदर, अरूचि, अर्श कास, श्वास, कुष्ठ, रक्त–पित्त गुल्म शोथ
अर्क दुग्ध	३/७४		श्रेष्ठ विरेचन		कुष्ठ,उदर रोग, गुल्म
सेहुण्ड	३/७६ –७७		रेचन, दीपन	कफवातहर	शूल अष्ठीला अफारा गुल्म उदर रोग उन्माद प्रमेह अर्श कुष्ठशोथ मोटापा पथरी पाण्डुरोग व्रण ज्वर प्लीहारोग विष मकड़ी आदि का विष
सेहुड़ का दूध	३/७८		तीक्ष्ण विरेचन		गुल्म कुष्ठ उदररोग जीर्ण रोग
शातला	३/८०		शीतल	वातल, कफहर पित्तहर	शोथ, अफारा, उदावर्त्त रक्त दोष
कलिहारी (विशल्या)	३/८३ –८४		सारक गर्भपातन	कफहर पित्तल	कुष्ठ, शोथ अर्श, व्रण, शूल कृमिरोग (गर्भपातक)
कनेर (लालश्वेत)	३/८५ –८६		विषवत्		व्रण मोटापा नेत्र कोप कुष्ठ व्रण कृमि रोग खुजली
धतूर	३/८८ –८६		मदवर्णकर दीपन	वातहर श्लेष्महर	ज्वर, कुष्ठ, जुंआ, लीख व्रण, खुजली, कृमिरोग, विष दोष
वासा	३/६१ –६२		स्वर्य, हृद्य	वातकर कफपित्तहर	रक्तदोष, तृषा, श्वास कास ज्वर वमन प्रमेह कुष्ठ क्षय
पित्त पापडा	३/ ६३ –६४		संग्राही शीतल	पित्तहर,वातल	रक्तदोष, भ्रम तृषा कफ ज्वर दाह डर

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
निम्ब	३/९५ –९८		ग्राही, अहृद्य अग्निनाशक	वातहर पित्तकफहर	थकावट तृषा कासज्वर अरुचि कृमिरोग व्रण वमन, कुष्ठ हृल्लास प्रमेह
निम्ब पत्र	३/९७		नेत्र्य	वातल	कृमि पित्त विष अरुचि कुष्ठ
निम्बफल	३/९८		भेदन		कुष्ठ गुल्म अर्श कृमि प्रमेह
बकायन (महानिम्ब)	३/१०० –१०१		ग्राही	कफपित्तहर	भ्रम वमन कुष्ठ हृल्लास रक्तदोष प्रमेह श्वास गुल्म अर्श मूषिका विष
पारिभद्र (फरहद)	३/१०२			वातकफहर	शोथ मोटापा कृमिरोग
पारिभद्र–पुष्प	३/१०२				पुष्प=पित्तरोग कर्णरोग
कचनार	३/१०४ –१०५		ग्राही	कफपित्तहर	कृमिरोग कुष्ठ गुदभ्रंश व्रण, गण्डमाला
कोविदार	३/१०५ –१०६		ग्राही	पित्तहर	कृमिरोग कुष्ठ गुदभ्रंश व्रण, गण्डमाला रक्तप्रदर, क्षय कास
सहिजन	३/१०७ –११२	शुक्रल	सारक दीपन रुच्य, दाहकर संग्राही, हृद्य चक्षुष्य	पित्तरक्त प्रकोपण कफवातहर	विद्रधि सूजन कृमिरोग मोटापा अपच विषदोष प्लीहा रोग गुल्म गण्डमाला व्रण
सफेद सहिजन	३/११०		दीपन, सारक	पित्तरक्तकर	प्लीहा विद्रधि व्रण
मीठा सहिजन	३/१११		अतिदीपनसर		मन्दाग्नि विबन्ध
मीठे सहिजन की छाल	३/१११		चक्षुष्य		पीड़ाहारी
पत्ते का रस	३/११२				
मीठे सहिजन का बीज	३/११२	अवृष्य	चक्षुष्य	कफवातहर	विषनाशक, नस्यद्वारा शिरोरोगहर
अपराजिता	३/११३ –११४		मेध्य, कण्ठ्य नेत्र्य, स्मृतिप्रद बुद्धिप्रद		कुष्ठ मूत्रदोष आम शोथ व्रण विष

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
निर्गुण्डी	३/११६ –११७		स्मृतिप्रद, केश्य चक्षुष्य	श्लेष्महर	शूलशोथ आमवात कृमि कुष्ठ अरुचि व्रण
निर्गुण्डीपत्र	३/११६			वातश्लेष्महर	कृमिरोग
कुटज	३/११६ –१२०	वृष्य	दीपन	पित्तरक्त कफहर	अर्श, अतिसार, तृषा, आम दोष कुष्ठ
छोटा करंज	३/१२२			कफहर	योनिदोष कुष्ठ उदावर्त गुल्म अर्शव्रण कृमिरोग
करंजपत्र	३/१२३		भेदन	कफवातहर पित्तल	अर्श कृमिरोग शोथ
करंजफल	३/१२४			कफवातहर	प्रमेह अर्श कृमिरोग कुष्ठ
तृतीय करंजी	३/१२६		स्तम्भन	पित्तहर	वमन अर्श कृमि कुष्ठ प्रमेह
गुञ्जा	३/१२६ –१३०	वृष्य बल्य		वातपित्तहर	ज्वर, मुखशोष भ्रम श्वास तृषा मद नेत्ररोग खुजली व्रण कृमिरोग प्रसुप्त कुष्ठ
केंवाच	३/१३२	अतिवृष्य बृंहण, बल्य		त्रिदोषहर	वातरोग, कफरोग, पित्तरोग रक्तपित्त
केंवाच के बीज	३/१३३	वाजीकरण			वातशामक
रोहिणी	३/१३४	वृष्य	सरा	त्रिदोषहर	व्रण रक्तपित्त संग्रहणी (निघण्टु रहस्ये)
चिल्लक	३/१३५	धातुपुष्टिकर		वातकफहर	शीघ्रपतन शोष
टंकारी	३/१३६		दीपन	वातकफहर	शोथ उदररोग विसर्प
वेतस	३/१३८			कफवातहर	दाह शोथ अर्श योनिरोग वीसर्प मूत्रकृच्छ्र रक्तदोष पित्ताश्मरी
जलवेतस	३/१३६			वातकोपन	कुष्ठ
इज्जल (निचुल)	३/१४०			वातकोपन	कुष्ठ विषदोष
अंकोट	३/१४१ –१४३		रेचन		कब्ज कृमिशूल आमदोष शोथ ग्रहदोष विषदोष
बला	३/१४६ –१४८	बलकारी	कान्तिकर ग्राही	वातानुलोमन	वातरक्त रक्तपित्त क्षत मूत्रातिसार, मूत्रकृच्छ्र प्रमेह (दुग्ध शर्करा के साथ)
महाबला		बलकारी			
अतिबला	३/१४८	बलकारी			
नागबला		बलकारी			

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
लक्ष्मणा	३/१४६ –१५०		पुत्रदा		
स्वर्णवल्ली	१५०		दुग्धदा	त्रिदोषहर	शिर की पीड़ा
कपासपत्र	३/१५२ –१५३		रक्तकृत् मूत्रवर्धन	वातनाशक	कर्णपीड़ा, नाद, पूयस्राव
कपासबीज	३/१५३	वृष्य	स्तन्यद	कफकर	
बांस	३/१५५		छेदन, बस्तिशोधन	कफपित्तहर	कुष्ठ रक्तदोष व्रण शोथ
बांस के यव	३/१५६ –१५७		सर विदाही मूत्ररोधक	कफकर वातपित्तल	
नल	३/१५८			कफहर	रक्तदोष
मूंज	३/१५६	वृष्य		त्रिदोषहर	दाह, तृषा, विसर्प, रक्तदोष मूत्रकृच्छ्र, नेत्ररोग
कास	३/१६२		सारक	पित्तहर	मूत्रकृच्छ्र पथरी दाह रक्त–दोष क्षत नेत्र रोग
गुन्द्र	३/१६४	शुक्र,रज–शोधक	स्तन्य, मुत्रशोधन	पित्तरक्त,	मूत्रकृच्छ्र
एरक	३/१६५ –१६६	वृष्य	चक्षुष्य	वातकोपन पित्तहर	मूत्रकृच्छ्र पथरी दाह पित्तरक्त
कुश	३/१६७			त्रिदोषहर	मूत्रकृच्छ्र, पथरी, तृषा, प्रदर वस्तिरोग, रक्तदोष
कतृण (रसघास)	३/१६६ –१७०			पित्तकफहर	हृदयरोग, खुजली, कण्ठरोग रक्तपित्त शूलकास ज्वर
भूतृण	३/१७१ –१७२	अवृष्य	रेचन, बिदाही दीपन, मुख–शोधन, नेत्ररोग रक्तदोषकारी	रक्तपित्त–दूषक	
नीलदूर्वा	३/१७४			कफपित्तहर	रक्तदोष वीसर्प तृष्णा दाह चर्मरोग
श्वेतदूर्वा	३/१७५ –१७६		दीपन	पित्तकफहर	व्रणविसर्प तृषा दाह

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
गण्डदूर्वा	३/१७७ –१७८		ग्राही	वातकर कफपित्तहर	दाह, तृषा रक्तदोष कुष्ठ पित्तज्वर
विदारीकन्द	३/१८१ –१८२	बृंहण शुक्रद	स्तन्य, स्वर्य	पित्तवातहर	रक्तापित्त दाह
बाराहीकन्द	३/१८१ –१८२	बलद, रसायन	मूत्रल वर्णकर		
मूसली	३/१८३	रसायन वृंहण वृष्य	वातहर		गुदारोग (अर्श–भगन्दर)
शतावरी	३/१८४, १८५	रसायन बल्य शुक्रकर	मेध्य, दीपन चक्षुष्य स्तन्य	वातपित्तहर	गुल्म अतिसार रक्तपित्त शोथ
महाशतावरी	३/१८५ –१८६	रसायन वृष्य	हृद्य		अर्श ग्रहणी नेत्ररोग
शतावरी–अंकुर	३/१८६			त्रिदोषहर	अर्श, क्षयरोग
अश्वगन्धा	३/१८८	रसायन बल्य, शुक्रल		वातकफहर	श्वित्र, शोथ, क्षयरोग
पाठा	३/१९० –१९१			कफवातहर	शूल ज्वर वमन कुष्ठ हृदयरोग दाह खुजली कृमि श्वास गुल्मगर व्रण
श्वेत निशोथ	३/१९२ –१९३		रेचक	वातपित्तहर श्लेष्महर	ज्वर श्लेष्मपित्तशोथ उदररोग
श्यामानिशोथ	३/१९४		तीव्ररेचक		मूर्च्छा, दाह, मद, भ्रान्ति
दन्ती	३/१९७ –१९८		सर दीपन	पित्तकफहर	अर्श पथरी शूल कुष्ठ खुजली गुदांकुर रक्तदोष शोथ कृमि उदर रोग
लघुदन्तीफल	३/१९९		मूत्रल सारक	कफहर	गर शोथ कफरोग
जमालगोटा	३/२००		रेचक	कफपित्तहर	
इन्द्रायण	३/२०२ –२०४		सारक	कफपित्तहर	कामला, प्लीहारोग, उदररोग श्वास कास कुष्ठ गुल्म व्रण ग्रन्थिरोग, प्रमेह मूढ गर्भ आमदोष गण्डरोग विषदोष

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
नीली	३/२०६ –२०७		रेचक केश्य	वातकफहर	मोहभ्रम उदररोग प्लीहारोग वातरक्त आमवात उदावर्त मद विषदोष
सरफोंका	३/२०७ –२०८				प्लीहारोग, यकृत् रोग गुल्म व्रण विषदोष रक्तदोष कास श्वास ज्वर
विधारा	३/२०६	रसायन वृष्य, बल्य शुक्रद आयुष्य	मेध्य स्वर्य दीपन कान्तिकर	वातकफहर	आमवात अर्श शोथ प्रमेह
जवासा	३/२१२ –२१४		सर	त्रिदोषहर	मोटापा मदभ्रान्ति रक्तदोष कुष्ठ कास तृषा वीसर्प वमन रक्तवमन ज्वर
मुण्डी	३/२१६ –२१८		मेध्य		गलगण्ड अपची कुष्ठ कृमि योनिरोग पाण्डु श्लीपद अरूचि अपस्मार प्लीहा–रोग मोटापा गुदा रोग
अपामार्ग (श्वेत)	३/२२० –२२१		विष्टम्भी, सर दीपन, पाचन	वातकफहर कफहर	अरूचि वमन मोटापा हृदय रोग अफारा अर्श शूल अपची
अपामार्ग (लाल)	३/२२२ –२२३		विष्टम्भी	वातल पित्तशामक	रक्तदोष, रक्तपित्त
कोकिलाक्ष	३/२२५ –२२६	वृष्य		वातहर	आमवात शोथ पथरी तृषा अन्धापन रक्तदोष
अस्थिसंहारी	३/२२७ –२२६	वृष्य	अस्थियोजक सर, पाचन	वातकफहर पित्तल	अस्थिभंग कृमि नेत्ररोग वातरोग
महाजालनी	३/२३१		रेचक	कफपित्तहर	दाह उदररोग अफारा कुष्ठ कफज्वर
कुमारी	३/२३३ –२३४	बृंहण वृष्य		वातहर कफहर	विषदोष गुल्म यकृत् प्लीहा के रोग, कफज्वर ग्रन्थि दग्ध, फोड़े, पीले, लाल, चर्म रोग
पुनर्नवा (श्वेत)	३/२३५		दीपन, सारक	वातश्लेष्महर	पाण्डु शोथ वातरोग व्रण उदररोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
पुनर्नवा (लाल)	३/२३७		ग्राही	वातल, श्लेष्महर पित्तहर	शोथ–रक्तपित्त
प्रसारिणी	३/२३६ –२४०	वृष्य बल्य		वातकफहर	वातरक्त वातरोग
अनन्तमूल (सारिवा)	३/२४२ –२४३	शुक्रकर		त्रिदोषहर	मन्दाग्नि अरूचि श्वास कास आमदोष विषदोष रक्तदोष प्रदर ज्वर अतिसार
भृंगराज	३/२४४ –२४५	रसायन बलकर	केश्य,त्वच्य दन्त्य	कफवातहर	कृमिरोग श्वास कासशोथ आमदोष पाण्डु कासशोथ नेत्ररोग शिरोरोग
शंखपुष्पी	३/२४६		वमनकर	कफपित्तहर	
त्रायमाणा	३/२४७ –२४८		सारक	कफपित्तहर	ज्वर हृदयरोग गुल्म अर्श भ्रम शूल विषदोष
मूर्वा	३/२४६ –२५०		सारक	त्रिदोषहर	रक्तपित्त प्रमेह तृषा खुजली हृदय रोग कुष्ठ ज्वर
मकोय	३/२५१ –२५२	शुक्रद रसायन	स्वर्य चक्षुष्य	त्रिदोषहर	शोथ कुष्ठ अर्श प्रमेह ज्वर हिचकी वमन हृदयरोग
काकनासा	३/२५३		वमनकारी	कफहर	शोथ कुष्ठ अर्श प्रमेह
काकजंघा	३/२५५			कफपित्तहर	ज्वर कुष्ठ रक्तदोष कृमि–रोग खुजली विषदोष
नागपुष्पी	३/२५६ –२५७		रुच्य	कफपित्तहर	विषदोष शूल योनिरोग वमन कृमिरोग
मेषशृंगी	३/२५८			वातल,कफहर	श्वास कास व्रण नेत्र पीड़ा
मेषशृंगी का फल	३/२५६				कुष्ठ प्रमेह कास कृमि व्रण विषदोष
हंसपदी	३/२६० –२६१				रक्तदोष विषदोष व्रण वीसर्प दाह अतिसार लूताविष
सोमलता	३/२६२	रसायन		त्रिदोषहर	
अमरबेल	३/२६३		दीपन, हृद्य	कफपित्तहर	नेत्ररोग मन्दाग्नि आमदोष
छिरेंटा	३/२६४	वृष्य		वातकफहर	
वन्दा	३/२६६		मांगलिक	वातकफहर	वातरक्त व्रण विषदोष
वटपंत्री	३/२६७				योनिरोग मूत्र रोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
हिंगुपत्री	३/२६८		रूच्य, पाचन	कफवातहर	अरूचि मन्दाग्नि हृदयरोग
वंशपत्री	३/२६९		रूच्य पाचन		बस्तिदोष कब्ज गुल्म वातरोग अरूचिमन्दाग्नि हृदय रोग वस्ति रोग कब्ज गुल्म वातरोग
मत्स्याक्षी	३/२७०		ग्राही	कफपित्तहर	कुष्ठ रक्त दोष कफरोग पित्तदोष
सर्पाक्षी	३/२७२				कृमिरोग, चूहा, बिच्छू–सर्प के विष को हरने वाला व्रण
शंखपुष्पी	३/२७३ –२७४	वृष्य, बल्य रसायन	सारक, मेध्य स्मृति, कान्ति–प्रद, दीपन	त्रिदोषहर	मंदाग्नि अपस्मार कुष्ठ कृमि, विषदोष, मानस रोग
अर्कपुष्पी	३/२७५			कफपित्तहर	कृमिरोग प्रमेह पित्तविकार
लज्जालु	३/२७७			कफपित्तहर	रक्तपित्त, अतिसार योनिरोग
अलम्बुषा	३/२७८			कफपित्तहर	कृमिरोग
दुग्धिका	३/२७९ –२८०	वृष्या	गर्भकर, मूत्रल मलहर, विष्टम्भी	वातल, कफहर	उदररोग कृमिरोग
भूमिआंवला	३/२८२			वातकर कफहर	तृषा कास रक्तपित्त पाण्डू व्रण क्षत
ब्राह्मी	३/२८४ –२८५	रसायनी	स्वर्य, स्मृतिप्रद		कुष्ठ, पाण्डू, प्रमेह, रक्त–दोष, कास
ब्रह्ममण्डूकी	३/२८४ –२८५	मेध्य, सारक			विषदोष, शोथ, ज्वर
द्रोणपुष्पी	३/२८६–२८७		भेदन,	वातपित्तकर कफहर	आमदोष, कामला, शोथ कफरोग, तमक श्वास कृमिरोग
सुवर्चला (हुरहुर)	३/२८९ –२९१		सरा	कफवातहर	कब्ज, कफरोग, रक्तपित्त–श्वास, कास, अरूचि, ज्वर फोड़ा, कुष्ठ, प्रमेह, रक्त दोष, योनिरोग, पाण्डु, . कृमिरोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
बन्ध्या, कर्कोटकी	३/२६२, –२६३			कफहर	व्रणशोधक, विसर्प–विष
मार्कण्डिका	३/२६४		वमन विरेचनकर		कुष्ठ, दुर्गन्ध, कास, गुल्म, उदररोग
देवदाली	३/२६६		वमनकर	कफहर	विषदोष, अर्श, शोथ, पाण्डूक्षय, हिचकी, कृमि रोग, ज्वर
देवदाली फल	३/२६६ –२६८			कफवातजित्	कृमिरोग,गुल्म, शुल,अर्श
जलपिप्पली	३/२६६ –३००	शुक्रल	हृद्य, चक्षुष्य संग्राही दीपन		रक्तदोष दाह, व्रण अरूचि मन्दाग्नि अपच
गोजिह्वा	३/३०१ –३०२		संग्राही, हृद्य	वातल, कफ–पित्तहर	प्रमेह कास रक्तदोष ज्वर
नागदमनी	३/३०४ –३०५	बलकर	सुमतिदा धनदा	कफपित्तहर	मूत्रकृच्छ्र व्रण जाल... गदर्भ ग्रहदोष विषदोष
वेल्लन्तर	३/३०७		ग्राही कफवातहर		तृषा, मूत्राघात, पथरी, मूत्र–रोग योनिरोग, वातरोग
छिक्कनी	३/३०६		रुच्य दीपन	पित्तहर वातकफहर	वातरक्त कुष्ठ कृमि–रोग वातरोग
वर्बरी	३/३१०		रुच्य हृद्य	कफवातहर	वातरोग कफरोग
ककुन्दर	३/३११ –३१२			कफहर	ज्वर, रक्तदोष
ककुन्दर की जड़	३/३१२				मुख शोषहर (चूसना)
सुदर्शन	३/३१३			कफवातहर	शोथ रक्तदोष वातरोग
मूसाकानी	३/३१४		शीतल	कफहर	मूत्ररोग कफरोग कृमिरोग
मयूरशिखा	३/३१५			पित्तकफहर	अतिसार, कफरोग, पित्तरोग
कमल	४/३ –४		वर्णकर	कफपित्तहर	तृषादाह रक्तदोष विष दोष, विसर्प
पद्मिनी (कुमुद)	४/८		वातविष्टम्भक	पित्तकफहर	रक्तापित्त
नवकमलपत्र	४/१० –११				दाह, तृषा, मूत्रकृच्छ्र, गद–रोग, रक्तपित्त
कमलकर्णिका	४/११ –१३		मुखशोधक	कफपित्तहर	तृषा, रक्तदोष, कफपित्त जन्यरोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
किञ्जल्क	४/१२ –१३	वृष्य	ग्राही	कफपित्तहर	तृषा, दाह, खूनी बवासीर विषदोष, शोथ
मृणाल कमलकन्द	४/१३ –१४	वृष्य	स्तन्य, संग्राही	पित्तहर वातकफकर	दाह रक्तदोष
स्थलकमल	४/१५			कफवातहर	मूत्रकृच्छ्र, पथरी शूल श्वास, कास, विषदोह
शैवल	४/१६ –२१		सर	त्रिदोषहर	रक्तदोष, अपच तृषा, पित्तज्वर
गुलाब	४/२२ –२३	शुक्रल	हृद्य, ग्राही वर्ण्य पाचन	त्रिदोषहर	रक्तदोष, अपच मन्दाग्नि
वासन्ती	४/२४			त्रिदोषहर	रक्त दोष
बेला	४/२५			त्रिदोषहर	कान नेत्र मुखरोग
चमेली	४/२७			त्रिदोषहर	शिर नेत्र मुख दांत के रोग, कुष्ठ, विषदोष, व्रण, रक्तदोष
जूही	४/२८–२९		हृद्य	पित्तहर कफवातल	व्रण रक्तदोष मुख दांत नेत्र एवं शिर के रोग विषदोष
चम्पा	४/३१			त्रिदोषहर	विषदोष कृमिरोग मूत्रकृच्छ्र वातरक्त
बकुल	४/३२ –३३			कफपित्तहर	विषदोष श्वित्र कृमि रोग दन्त रोग
वनहुला	४/३४			कफपित्तहर	विषदोष योनिदोष तृषा दाह कुष्ठ शोथ, रक्त दोष
कदम्ब	४/३५–३६		स्तन्य	सर विष्टम्भी	कफवातहर
कुब्जक(गुलाब)	४/३७–३८	वृष्य		त्रिदोषशामक	शीतहर
मल्लिका	४/३९	वृष्य		वातपित्तहर	विषदोष योनिदोष तृषा, दाह, कुष्ठ, शोथ रक्तदोष
माधवी	४/४१		शीत	त्रिदोषहर	तृषा
केतकी	४/४२ –४३		चक्षुष्य	कफहर	नेत्ररोग कफरोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
किंकिरात	४/४४			कफपित्तहर	तृषा रक्तदोष दाह शोष वमन कृमिरोग
कनेर	४/४५ –४६		शोधन	कफहर	शोथ रक्त दोष व्रण कुष्ठ
अशोक	४/४७ –४८		ग्राही वर्ण्य	त्रिदोषहर	अपची, तृषा, दाह, कृमिरोग, शोथ, विषदोष, रक्तदोष
सैरेयक	४/५२		केशरंजन	कफहर	कुष्ठ वातरक्त खुजली विषदोष
कुन्द	४/५३			कफपित्तहर	कफरोग शिरोरोग विषदोष
मुचकुन्द	४/५४			पित्तदोषकर	शिरोवेदना, रक्तपित्त विषदोष
तिलक	४/५५ –५६	रसायन		कफहर	कुष्ठ, कृमिरोग, बस्ति, मुख एवं दन्तरोग
बन्धूक	४/५७		ग्राही	कफकारी वातपित्तहर	वातरोग पित्तजरोग
गुड़हल	४/५८		ग्राही, केश्य	कफवातहर	
सिन्दूरी	४/५९				विषदोष रक्तापित्त तृषा वमन
अगस्त्य	४/६०			कफपित्तहर वातकर	चातुर्थिक ज्वर प्रतिश्याय
तुलसी	४/६२–६३		हृद्या, दाहकरी दीपनी	पित्तकर कफवातहर	कुष्ठ मूत्रकृच्छ्र रक्तदोष,पार्श्वरोग
मरूवक	४/६४ –६५		दीपन, हृद्य रुच्य	पित्तल कफवातहर	अरूचि, बिच्छू आदि का विष
दमनक	४/६७	वृष्य	हृद्य	त्रिदोषहर	ग्रहणी, विषदोष कुष्ठ, स्वेद; रक्त–दोष, खुजली
वनतुलसी	४/६९ –७०		विदाही, रुच्य हृद्य, दीपन	पित्तल कफवातहर	अरूचि, वातरक्त रक्तदोष खुजली कृमिरोग विषदोष
वट	५/२		वर्ण्य	कफपित्तहर	व्रण विसर्प दाह योनिदोष

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
अश्वत्थ	५/३ –४		वर्ण्य	कफपित्तहर	व्रण, रक्तदोष, योनि–शोधन
पारिष	५/५–६	शुक्रप्रद	कृमिकर	कफहर	विषदोष रक्त दोष
वेलिया	५/७–८		ग्राही	कफपित्तहर	विषदोष रक्तदोष
गूलर	५/६		वर्ण्य	कफपित्तहर	रक्तदोष व्रण (शोधन, रोपण)
मलयू	५/१० –११		स्तम्भक	कफपित्तहर	व्रण श्वित्र पाण्डु अर्श कुष्ठ कामला
प्लक्ष	५/१२			कफपित्तहर	व्रण, योनिरोग, दाह, रक्त–दोष शोथ, रक्तापित्त
शिरीष	५/१४			त्रिदोषहर	शोष, विसर्प, कास व्रण, विषदोष
पंचवल्कल*	५/१६		स्तन्य	पित्तकफहर	योनिरोग, व्रण, मोटापा
पंचक्षीरी रक्तदोष	५/१६–१६			भग्नसन्धान	
			लेखन		विष्टम्भ, अफारा, कब्ज
शाल	५/२०			कफहर	व्रण स्वेद कृमिरोग व्रध्न विद्रधि वाधिर्य योनिरोग, कर्णरोग
सर्जक	५/२१ –२२			कफहर	पाण्डु, कर्णरोग, प्रमेह कुष्ठ विषदोष व्रण
शल्लकी	५/२३	पुष्टिकर बृंहण		पित्तश्लेष्महर	अतिसार, रक्तपित्त, व्रण
शीशम	५/२५ –२६		गर्भपातन	कफहर	शोथ मोटापा कुष्ठ श्वित्र वमन कृमिरोग बस्तिरोग व्रण दाह रक्तदोष
अर्जुन	५/२७ –२८		हृद्य	कफपितहर	क्षत–क्षय, विषदोष, रक्त दोष, मोटापा, प्रमेह, व्रण
विजयसार	५/२६ –३०	रसायन	त्वच्य,केश्य	कफहर	कुष्ठ वीसर्प श्वित्र प्रमेह गुदकृमि रक्त पित्त
खदिर	५/३१		दन्त्य	कफहर	खुजली कास अरूचि मोटापा कृमिरोग प्रमेह
			वट,पीतल,गूलर पारिष पाकड़		ज्वर व्रण श्वित्र शोथ आमदोष, रक्तपित्त, पाण्ड्, कुष्ठ, कफरोग

*पंचवल्कल – वट,पीपल,गूलर,पारिष,पाकड़

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
श्वेत खदिर	५/३३		वर्ण्य	कफहर	मुखरोग, रक्तदोष, कफरोग
इरिमेद	५/३५			कफहर	खुजली, विषदोष, कृमि रोग, कुष्ठ, विषव्रण
रोहीतक	५/३६		रुच्य		रक्तदोष, प्लीहारोग
बबूल	५/३७			कफहर	कुष्ठ कृमिरोग विषदोष
रीठा	५/३६		मांगल्य गर्भपातन	त्रिदोषहर	कब्ज
पुत्रजीव	५/४०	वृष्य	गर्भकर	कफवातहर	कब्ज
इंगुद	५/४१				कुष्ठ भूतदोषव्रण विषदोष कृमिरोग श्वित्र शूल
जिंगिनी	५/४३			वातहर	योनिदोष व्रण हृदयरोग वातातिसार
तमाल	५/४४				दाह फोड़ा
तुणी	५/४५–४६	वृष्य	ग्राही	पित्तहर	व्रण, कुष्ठ, रक्तपित्त
भोजपत्र	५/४७			कफपित्तहर	भूतग्रह, कर्णरोग, रक्त–पित्त, मोटापा, विषदोष
पलाश	५/४६ –५२	वृष्य	दीपन,सारक भग्नसन्धानकर	त्रिदोषहर	व्रणगुल्म, गुदजरोग ग्रहणी अर्श कृमिरोग
पलाशपुष्प	५/५० –५१			वातल कफपित्तहर	रक्तपित्त, मूत्रकृच्छ्र, तृषा, दाह, कुष्ठ
पलाशफल	५/५२			कफवातहर	प्रमेह, अर्श, कृमिरोग, कुष्ठ गुल्म, उदररोग
सेमर	५/५४ –५५	रसायन		श्लेष्मल वातपित्तहर	रक्तपित्त
सेमर का गोंद	५/५६	वृष्य	ग्राही	कफपित्तहर	प्रवाहिका, अतिसार, आम–दोष, रक्तपित्त, दाह
कूठशाल्मली	५/५८ –५६		भेदी	कफवातहर	प्लीहारोग यकृत् रोग उदर रोग गुल्म विषदोष अफारा कब्ज रक्तदोष मोटापा शूल कफरोग
धव	५/६०			कफपित्तहर	प्रमेह अर्श पाण्डु
धामन (धन्व)	५/६१	बृंहण बलकर	सन्धानकर	कफपित्तहर	रक्तपित्त, कास हृदय–रोग व्रण

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
करीर	५/६३		स्वेद्य	कफवातहर	दुनार्म आमवात शोथव्रण
शाखोट (सहोरा)	५/६१			वातश्लेष्महर	रक्तपित्त, अर्श, अतिसार
वरूण	५/६२ –६३		भेदक, दीपन	पित्तल कफहर	मूत्रकृच्छ्र,आमवात, गुल्म, वातरक्त, कृमिरोग
कटभी	५/६५	शुक्रहर		कफहर	प्रमेह अर्श नासूर विष कृमिरोग, कुष्ठ
मोखा	५/६७	शुक्रहर		कफवातहर	विषदोष मोटापा गुल्म खुजली वस्ति रोग कृमि रोग उत्पन्न करता है।
जलसिरस	५/६८			त्रिदोषहर	विषदोष कुष्ठ अर्श
शमी	५/७०		रेचक	कफहर	कास श्वास भ्रमि कुष्ठ अर्श कृमि
सप्तपर्ण	५/७१ –७२		दीपन, सारक	कफवातहर	व्रण कुष्ठ रक्तदोष श्वास गुल्म
तिनिश	५/७३			कफपितहर	रक्तपित मोटापा कुष्ठ प्रमेह श्वित्र दाह व्रण पाण्डु कृमिरोग
भूमिसह	५/७४				रक्तपित्त शामक
आमबौर	६/२		रुच्य	वातपित्तकर वातल	अतिसार प्रमेह रक्त प्रदर
आमटिकोरा	६/३		रुच्य	वातपितकर	
कच्चा आम	६/३		रक्तदोषकर	त्रिदोषकर	
अमचुर	६/४		भेदन	कफवातहर	
पकाआम	६/४ –७	वृष्य, बल्य शुक्रवर्धक	हृद्य, वर्णकर दीपन	वातहर, कफकर पित्तनाशक	वात रोग (वृक्षपक्व) पित्तरोगहर (पालपक्व)
आमचूषित	६/८	बलवीर्य – कर	रुच्य	वातपित्तहर	
आम का रस	६/६	बलकर बृंहण	सर (अहृद्य)	वातहर कफहर	
आमखण्ड	६/११	बृंहण, बलकर वृष्य	वर्णकर	वातहर पितहर	वातरोग
अमावट	६/१७		सर, रुच्य	वातपित्तहर	तृषा वमन अरुचि
आम्रबीज	६/१८				वमन अतिसार दाह हृदय रोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
नवपल्लव	६/१६			कफपित्तनाशक	
आमड़ा	६/२० –२१	वृष्य, बल्य	रुच्य सर तृप्तिकर विष्टम्भी	श्लेष्मल वातपित्तहर	क्षत दाह क्षय रक्तदोष
कोशम्भ	६/२४		ग्राही	कफपित्तहर	कुष्ठ, शोथ, रक्तपित्त, व्रण
कोशम्भ का फल	६/२४–२५			वातहर,पित्तल	वातरोग
पनस	६/२६ –२८	बृंहण शुक्रप्रद	मांसल	वातपित्तहर	रक्त पित्तक्षतव्रण
कच्चा पनस	६/२७ –२८	बलकर	मेदवर्धक	श्लेष्मल, कफहर वातल	दाह
पनसबीज	६/२८	वृष्य	विष्टाम्भी	त्रिदोषहर	
पनस मज्जा	६/२६	वृष्य			
लकुच	६/३१ –३२		विष्टम्भी, दीपन, रक्तकर	त्रिदोषकर	
लकुच पक्व	६/३२	वृष्य	रुच्यविष्टभी	वातपित्तहर कफकर	
केला	६/३४ –३५	वृष्य बृंहण	विष्टम्भी मांसकर	कफकर वातहर	रक्तपित्त, तृषा, दाह, क्षय, क्षत क्षुधा नेत्ररोग प्रमेह
चिर्भट	६/३७ –३८		ग्राही विष्टम्भी	कफपित्तहर	
चिर्भटबाल	६/३८			वायु कोपकर कफपित्तकर	
नारियल	६/४०	बृंहण बल्य	वस्तिशोधन विष्टम्भी	वातपित्तहर	वातरोग, रक्तपित्त
कोमल नारियल	६/४१			पित्तहर	पित्तज्वर पित्तदोष जन्य रोग
पका नारियल	६/४१		विदाही, विष्टम्भी	पित्तहर	
नारियलजल	६/४२	शुक्रल	हृद्य, दीपन वस्तिशोधक	पित्तहर	तृषाहर
तरबूज	६/४४ –४५	शुक्रहर		पित्तहर कफवातहर	नेत्र रोग

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
खरबूजा	६/४६ –४७	बलकारी	मूत्रलकोष्ठ–शोधक	वातपित्तहर	मूत्रकृच्छ्, रक्तपित्तहर
त्रपुस	६/४८ –४९			पित्तहर	तृषा, थकावट, दाह, मूत्र–कृच्छ्
सुपारी	६/५१		मेहन, दीपन	कफपित्तहर	मुखवैरस्य, अरुचि
हरी सुपारी	६/५२		अग्निहर दृष्टिहर		
भीगी सुपारी	६/५३			त्रिदोषहर	
ताड़	६/५४	शुक्रद	रक्तवर्धक मूत्रल तन्द्राकर	कफपित्तकर	
ताड़मज्जा	६/५५		मदकर	वातपित्तहर श्लेष्मल	
ताड़ी	६/५६			पित्तकर, वातहर	वातरोग
शालफल	६/५७	स्तम्भक	स्तन्य, लेखन अफारा कारक	वातकर पित्तहर	पित्तरोग, दाह, तृषा, कास क्षतक्षय, विषदोष, रक्तदोष
बिल्व	६/५६			कफवातहर	ग्रहणी आमदोष शूल
बालबिल्व	६/६०		ग्राही, दीपन	वातकफहर	
पका बेल	६/६१–६२		विष्टम्भी अग्निमान्द्यकर	विदाही	त्रिदोषकर
कपित्थ	६/६४		ग्राही,लेखन	वातपित्तजित्	तृषा, हिचकी, कण्ठबद्धता
नारङ्ग	६/६६		रुच्य, सारक	वातहर	वातरोग
तिन्दुक	६/६७ –६८		ग्राही	वातल, पित्त कफहर	प्रमेह, रक्तदोष, कफ पित्तजरोग
पीलु	६/७०		मादक	वातल,कफ–पित्तहर	पादव्यथा
जामुन	६/७२ –७३		विष्टम्भी रोचन	कफपित्तहर	रक्तदोष, दाह
बेर	६/७५	शुक्रल बृंहण	भेदन	पित्तहर	दाह, रक्तदोष,क्षय,तृषा
कोल (छोटे बेर)	६/७७		ग्राही, रुच्य, सारक	वातल, कफ–पित्तहर	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
झरबेरी	६/७८			वात पित्तहर	
सूखे बेर	६/७६		भेदक, दीपक		तृषा, थकावट,आमदोष
पानी आमला	६/८०			त्रिदोषहर	ज्वर
लबली (हरफारेवड़ी)	६/८१ –८२		रुच्य,विशद	कफपित्तहर	पथरी, अर्श
करौंदा	६/८३		रुच्य रक्तपित्तकर	कफकर वातपित्तहर	तृषा
चिरौंजी	६/८६ –८७	वृष्य	सर,हृद्य विष्टम्भी आमवर्धक	पित्तवातहर	कास दाह ज्वर तृषा
खिन्नी	६/८८ –८६	वृष्य, बल्य		त्रिदोषहर	तृषा मूर्च्छा मद भ्रान्ति क्षय रक्तदोष
विकंकत	६/६०			त्रिदोषहर	
कमलगट्टा	६/६१ –६२	वृष्य, बल्य	विष्टाम्भी, ग्राही, गर्भकर	कफवातहर	रक्तपित्त, दाह
मखाना	६/६३	वृष्य, बल्य	विष्टम्भी ग्राही, गर्भकर	कफवातहर	रक्तपित्त, दाह
सिंघाड़ा	६/६४	वृष्य, शुक्रल		कफवातकर	दाह, रक्तपित्त
महुआ	६/६७	बृंहण बलकर शुक्रकर		वातपित्तहर	
महुआफल	६/६८ –६६	शुक्रकर	अहृद्य	वातपित्तहर	तृषा रक्तदोष दाह श्वास क्षत क्षय
फालसा	६/१०२	बृंहण	विष्टम्भी हृद्य	पित्तवातहर	दाह, रक्तदोष, ज्वर, क्षय वातरोग
शहतूत	६/१०४		रक्तपितकर	वातपित्तहर	
अनार खट्टा	६/१०५			पित्तकरकफहर	आम, वात, कफरोग
मीठा अनार	६/१०६	शुक्रल		त्रिदोषहर	तृषा दाह ज्वर हृदय रोग, कण्ठरोग
खटमिट्ठा कपैला अनार	६/१०७	बल्य	ग्राही, मेध्य	पित्तकर	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
लिसोड़ा	६/१०६ –१११		केश्य	कफपित्तहर	विष, फोड़ा, व्रण, वीर्य कुष्ठ
कतक	६/११२		नेत्र्य	वातकफहर	
अंगूर	६/११४ –११६	बृंहण,वृष्य बल्य	चक्षुष्य,सार स्वर्य,रुच्य	कफकर वातहर	अफारा, तृषा, ज्वर, श्वास कामला वातरक्त, मूत्र–कृच्छ् रक्तपित्त,मूर्छा, दाह, शोष, मदात्यय
खट्टे अंगूर	६/११६		रक्तपित्त,अम्ल पित्तकर		
गोस्तनी (लम्बे अंगूर)	६/११७	वृष्य		कफपित्तहर	''
छुहारा	६/१२१ –१२४	पुष्टि शुक्रद	हृद्य, रुच्य	वातकफहर	क्षत क्षय, रक्तपित्त अफारा
खजूर		बलकर	विष्टम्भी		वमन, मद, मूर्च्छा, वातज, पित्तज रोग मदात्यय
खजूर नीरा	६/१२५	बल शुक्रकर	रुच्य, दीपन	वातश्लेष्महर	मन्दाग्नि
सुलेमानी खजूर	६/१२७				श्रम, भ्रान्ति, दाह, मूर्च्छा, रक्तपित्त
बादाम	६/१२८	वृष्य शुक्रकर		वातपित्तहर कफकर	
सेव	६/१३०	बृंहण शुक्रकर		वातपित्तहर कफकर	
अमरूद	६/१३१	वृष्य		त्रिदोषहर	
पीलुफल	६/१३२			कफवातहर पित्तल	गुल्म
पीलु मीठा तीता	६/१३३			त्रिदोषहर	
अखरोट	६/१३४	वृष्य शुक्रकर		कफपित्तकर	
बीजपूर	६/१३५ –१३६		दीपन, कण्ठ–शोधक, जिह्वा–शोधक, हृद्य		रक्तपित्त, श्वास, कास, अरुचि, तृषा, कण्ठ–जिह्वा हृदय दोष
नीबू	६/१३७				रक्तपित्त, क्षय, कास

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
गलगल (मधुकर्करी)	६/१३७				श्वास, हिचकी, भ्रम
जम्बीरी नीबू	६/१३६ –१४०			कफवातहर	कब्ज शूल कास कफ–वृद्धि वमन तृषा आमदोष मुखविरसता हृदय पीड़ा मंदाग्नि कृमि
नीबू	६/१४२ –१४३		दीपन,पाचन	त्रिदोषहर	कृमिरोग, वातरोग, पित्तज रोग कफज रोग, शूल अरुचि मन्दाग्नि बद्धगुद हैजा
मीठानीबू	६/१४४	बृंहण बलकर		कफनिकालने वाला	कण्ठरोग, विषदोष रक्त पित्तशोष अरुचि तृषावमन
कमरख	६/१४५		ग्राही	कफवातहर	
इमली पकी	६/१४६		रक्तवर्धक	वातहर, कफहर	मन्दाग्नि
कच्ची इमली			दीपन	कफपित्तकर	मन्दाग्नि
अम्लवेतस (चूक)	६/१४७ –१४८		भेदन, दीपन	पित्तल कफवातहर	हृदय रोग शूल गुल्म मूत्र–दोष मलदोष प्लीहारोग उदावर्त हिचकी अफारा अरुचि श्वास कास अजीर्ण वमन कफरोग वातरोग
वृक्षाम्ल	६/१५१ –१५२		संग्राही, दीपन	वातहर कफपित्तल	तृषा अर्श ग्रहणी गुल्म शूल हृदय रोग कृमि रोग
			अन्न		
शालि(सामान्य)	६/७	बलकारी वृष्य, बृंहण	बद्धअल्प मल,रुच्य स्वर्य,मूत्रल	पितहर अल्पकफ वातकर	
जड़हन	६/६	शुक्रल, बल्य		वातपित्तहर श्लेष्मल	
स्थलज धान	६/१०–११		दीपक	कफपित्तहर वातकर	मन्दाग्नि
बोये हुए धान	६/११	वृष्य,बलकर			
रोपित धान	६/१३	वृष्य			पित्तहर, कफकर

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता	
पुराने चावल	६/१३		सुपच			
नवीनचावल	६/१३	वृष्य				
छिन्नारुढ–धान	६/१४	बलकर	मल बांधने वाला	कफपित्तहर		
लाल चावल	६/१५ –१६	बल्य, पुष्टि	वर्णकर चक्षुष्य, मूत्रल,स्वर्य		रक्तदोष तृषा ज्वर विष–दोष व्रण श्वास कास दाह मन्दाग्नि	
साठीधान	६/२४ –२६	बलप्रद	मल बांधने वाले, ग्राही	वातपित्तशामक त्रिदोषहर	अतिसार ज्वर	
यव (जौ)	६/२६ –३१	बलकारी	लेखन,मेध्य दीपन,स्वर्य	कफपित्तहर	कण्ठरोग चर्मरोग मोटापा पीनस श्वास कास ऊरुस्तम्भ, रक्तदोष,तृषा	
गेहूं	६/३४ –३६	शुक्रद बलकर बृंहण	सन्धानकर वर्ण्य, स्थैर्यप्रद	वातपित्तहर कफकर	व्रण	
मूंग	६/३६ –४०		ग्राही,नेत्र्य	कफपित्तहर	ज्वर नेत्ररोग	
उड़द	६/४२ –४३	बल्य शुक्रल बृंहण	रुच्य तृप्तिकर मेदस्कर	वातहर पित्तकफप्रद	गुढकील अर्दित श्वास पक्तिशूल	
राजमाष	६/४५ –४६		सर,तर्पण, रुच्य, स्तन्य मलकर	वातहर		
भटवास	६/४६	शुक्रनाशक	सर,स्तन्य	श्लेष्महर	विषशोथ	रक्तपित्तकर वातरोगकर
मोठ	६/५० –५१		ग्राही	वातल, कफ पित्तहर	वमन, ज्वर	कृमिकर
मसूर	६/५२		ग्राही	कफपित्तहर वातल	रक्त पित्त ज्वर	
अरहर	६/५४		ग्राही वर्ण्य	वातकर कफपित्तहर	रक्तदोष	
चना	६/५५		विष्टाम्भी	कफपित्तहर	रक्तपित्त ज्वर	
आर्द्रभृष्टचना	६/५६	बलकर	रुच्य			

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
भुने चने	६/५७			वातपित्त–प्रकोपन	
भीगा चना	६/५८	शुक्रहर	ग्राही	पित्तकफहर	
उबला चना				कफपित्तहर	
मटरी	६/६१		पंगुत्वकर खंजत्वकर	कफपित्तहर वातप्रकोपन	
कुलथी	६/६२ –६४	शुक्रनाशक	विदाही रक्त पित्तकर ग्राही स्वेदकर	वातकफहर	श्वास, कास, हिचकी पथरी दाह अफारा पीनस मोटापा ज्वर कृमिरोग
तिल	६/६५ –६७	बलकर	केश्य,त्वच्य ग्राही,स्तन्य दन्त्य, मेध्य दीपन	कफपित्तहर वातहर	व्रण, दन्तरोग बहुमूत्र मन्दाग्नि
अतसी	६/६६	शुक्रहर		त्रिदोषहर	वातरोग
तारामीरा	६/७०		ग्राही,दीपन	कफहर	कुष्ठ खुजली उदरकृमि विषदोष रक्तदोष
सरसों	६/७१ –७२		दीपन, रक्त–पित्तकर	कफपित्तहर	खुजली कुष्ठ उदरकृमि
राई	६/७४ –७६		रक्तपित्तकर दीपनग्राही	कफपित्तहर	खुजली कुष्ठ उदरकृमि
राई का फूल					प्रदर रक्त दोष
क्षुद्रधान्य	६/७७ –७८	मल बांधनेवाला	लेखन	पित्तकफहर वातकर	रक्तपित्त
कंगु	६/७६ –८०	बृंहण	भग्न सन्धानकर	वातकर अतिकफहर	
चीनक	६/८०	बृंहण	भग्न सन्धानकर	अतिकफहर वातकर	
साँवा	६/८१		शोषण	वातल, कफ–पित्तहर	
कोदो	६/८२		ग्राही	वातल, कफ पित्तहर	
वंशयव	६/८५			कफहर वातपित्तकर	बहुमूत्र

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
कुसुम्भबीज	६/८६			कफवातहर	रक्तपित, कफरोग
गवेधु	६/८७			कफहर	मोटापा
नीवार	६/८८		ग्राही		प्रदर रक्तदोष
			शाक		
बथुआ	१०/७	शुक्र बलकर	दीपन,पाचन रुच्य सर	त्रिदोषहर	प्लीहारोग, रक्तदोष, अर्श कृमिरोग, पित्तार्श
पोय	१०/८ –६	शुक्रकर बृंहण बलदा	रुचिकर तृप्तिकर	वातपित्तहर	रक्तपित्त अरुचि
मरषा	१०/१० –१४		विष्टम्भी	पित्तहर वातकफकर	रक्तपित्त विषमाग्नि
चौराई	१०/१३ –१४		दीपन, रुच्य	पित्तकफहर	रक्तदोष,विषदोष
कंचट	११–१५				रक्तपित्त, वातरोग
पालक	१०/१६		भेदन विष्टम्भी	कफहर वातल	मद,श्वास,रक्त,पित्त कफरोग
नाड़ी (कालशाक)	१०/१७ –२८	बल्य	रुच्य,मेध्य	वातकर कफहर	शोथ, रक्तपित्त
पटुआ	१०/१६		विष्टम्भी	वातदोषकर	रक्तपित्त
कलम्बी	१०/२०	शुक्रद	स्तन्य		
लोणी	१०/२१		दीपन	वातकफहर	अर्श,मन्दाग्नि विषदोष
घोटिका	१०/२२			कफपित्तहर वातकर	वाक्‌दोष, व्रण, गुल्म, श्वास, कास, प्रमेह, शोथ, नेत्ररोग
चांगेरी	१०/२४ –२५		दीपन,रुच्य	कफवातहर पित्तल	ग्रहणी, अर्श,कुष्ठ, अतिसार
चूक	१०/२६		रुच्य	वातहर, कफपित्तकर	
चिंचु	१०/२७	धातुपौष्टिक बल्य	रुच्य,सर मेध्य	त्रिदोषहर	
हुरहुर	१०/२६			कफपित्तहर	शोथ, कुष्ठ
शितिवार	१०/३१ –३२	वृष्य	ग्राही,दीपन रुच्य	त्रिदोषहर	बेहोशी ज्वर श्वास प्रमेह कुष्ठ भ्रम

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
मूली स्नेहसिद्ध	१०/३३			त्रिदोषहर	
मूली कच्ची	१०/३३			कफपित्तकर	
द्रोणपुष्पी	१०/३४		भेदन	पित्तकर	कामला, शोथ, प्रमेह,ज्वर
अजवाइन पत्रशाक	१०/३५		रुच्य,दीपन	कफवातहर पित्तल	शूल
पमार	१०/३६			वातकहर	खुजली,कास,श्वास,कृमिरोग दाद, कुष्ठ
सेहुड़	१०/३७		दीपन,रेचन		अफारा, अष्ठीला, गुल्म, शूल, शोथ, उदररोग
पित्तपापड़ा	१०/३८		रेचन, ग्राही	पित्तहर वातल	रक्तपित्त, ज्वर, तृषा, भ्रम दाह
गोभी	१०/३९				कुष्ठ प्रमेह रक्त दोष मूत्रकृच्छ् ज्वर
पटोलपत्र	१०/३९ –४०	वृष्य	दीपन,पाचन	पित्तहर	ज्वर, कास, कृमिरोग
गिलोयपत्र	१०/४० –४२	रसायन बल्य	संग्राही	त्रिदोषहर	सर्वज्वर दाह प्रमेह कास, रक्तदोष कामला, कुष्ठ, पाण्डु
कसौदी	१०/४३ –४४	वृष्य	रुच्य,पाचन	त्रिदोषहर	कास विषदोष रक्त दोष कण्ठदोष
चना–शाक	१०/४४ –४५		विष्टम्भी	कफवातकर पित्तहर	दन्तशोथ
मटर का शाक	१०/४५		भेदक		त्रिदोषहर
सरसों–शाक (निकृष्टतमशाक)	१०/४६ –४७		मूत्रल, विदाही	त्रिदोषकर	
अगस्त फूल	१०/४७ –४८			कफपित्तहर वातहर भी	चातुर्थिक ज्वर, रतौंधी पीनस
केलाफूल	१०/४९			वातपित्तहर	रक्तपित्तक्षय
सहिजन	१०/५० –५१		स्नायु शोथकर	कफपित्तहर	कृमिरोग,विद्रधि,प्लीहा–रोग, गुल्म, रक्तपित्त
सेमर के फूल	१०/५१ –५२		ग्राही	कफपित्तहर वातल	प्रदर रक्त पित्त

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
कुष्माण्ड सफेद	१०/५४ –५५	बृंहण वृष्य	दीपन वस्तिशोधक	वातपित्तहर कफकर (मध्यम)	रक्तपित्त, वातरोग हृदय रोग
कुष्माण्ड पीला	१०/५६		ग्राही	कफवातहर	रक्तपित्त
लौकी	१०/५७	धातु पुष्टिकर	हृद्य	कफपित्तहर	अरुचि
कड़वी लौकी	१०/५६ –६०		हृद्य	वातपित्तहर	हृदयरोग,पित्तजकास, विषदोष, ज्वर
ककड़ी	१०/६१		ग्राही, रुच्य	कच्ची पित्तहर पकी पित्तकर	
चिचिण्डा	१०/६२ –६३	बलकर	रुच्य,पथ्य	वातपित्तहर	परवल के समान
करेला	१०/६४–६५		दीपन कफहर	वातल,पित्त रोग	ज्वर,पाण्डु, प्रमेह, कृमि
घियातरोई	१०/६६			वातपित्तहर	रक्तपित्तवातरोग
तरोई	१०/६८		दीपन	कफवातकर पित्तहर	श्वास,ज्वर,कास, कृमिरोग
परवल	१०/७० –७२	वृष्य	हृद्य, पाचन दीपन	त्रिदोषहर	कास, रक्तदोष, ज्वर कृमिरोग
पटोलमूल	१०/७१		विरेचन		
पटोलनाल	१०/७२			श्लेष्महर	
पटोलपत्र	१०/७२			पित्तहर	खुजली रक्तविकार
कटुपटोल	१०/७२			त्रिदोषहर	
बिम्बफल	१०/७४		स्तम्भन, लेखन रुच्य आध्मानकर	वातपित्तहर	रक्तपित्त अरुचि
सेम	१०/७६	बलकर	दाहकर	वातपित्तहर	
कोलसिम्बी	१०/७७	वृष्य		वातहर कफपित्तकर	अरुचि
बैंगन	१०/८०	शुक्रल	दीपन	वातकफहर	ज्वर, वातरोग, मोटापा
बालबैंगन	–८०			कफपित्तहर	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
टिण्डा	१०/८४		रुच्यभेदी मूत्रल	पित्तकफहर वातल	पथरी
पिण्डार	१०/८५	बल्य		पित्तहर	अरुचि, विषदोष
खेखसी	१०/८६		दीपन		मल, कुष्ठ, हृल्लास, अरुचि श्वास, कास, ज्वर
डोंडी करेरुआ	१०/८८	वृष्य	दीपन, रुच्य	वातपित्तहर	अर्श,गुल्म,विषदोष,
कटेली	१०/८९	पुष्टिकर	दीपन	वातकफहर	श्वास, कास, ज्वर
नालशाक	१०/९०		रुच्य	वातकफहर	व्रण, खुजली, वमन, दाद
सरसों की नाल	१०/९०				कुष्ठ
मूली की नाल	१०/९१		विष्टम्भी	वातपित्तहर	
सूरन	१०/९२ –९४		दीपन कण्डुकर	कफहर	अर्श,प्लीहारोग, गुल्म
आलू	१०/९७ –९८	वृष्य, बलकर	विष्टम्भी मूत्रल, मलकर	कफवातकर	रक्तपित्त
शकरकन्द	१०/९९	बलकर	विष्टम्भी	कफहर	हृदयरोग, कफरोग, अरुचि
मूली लघु	१०/१०२		पाचन,स्वर्य	त्रिदोषहर	ज्वर,श्वास, नासिकारोग कण्ठरोग नेत्ररोग
मूली बड़ी	१०/१०३			त्रिदोषकर	
स्नेहसिद्ध				त्रिदोषहर	
गाजर	१०/१०५		दीपन संग्राही	कफवातहर	रक्तपित्त, अर्श, ग्रहणी
केलाकन्द	१०/१०६		केश्य,दीपन		दाह अरुचि
मानकन्द	१०/१०७				शोथ रक्तपित्त
बाराहीकन्द	१०/१०८	रसायन बल्य शुक्रकर	आयुवर्धक दीपन	कफवातहर	प्रमेह, कफरोग, कुष्ठ
अरुई (घुइंया)	१०/१०९ –११०			वातकफहर	शीतज्वर पाण्डु शोथ गुल्म कृमिरोग प्लीहारोग अफारा उदररोग ग्रहणी अर्श
केम्बुक	१०/१११ –११२		दीपन, हृद्य, पाचन	कफपित्तहर	ज्वर कुष्ठ कास प्रमेह रक्तदोष
कसेरु	१०/११४	शुक्रकर	ग्राही,रुच्य	कफवातकर	रक्तपित्त,दाह,नेत्ररोग,अरुचि

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
शालूक कमलकन्द	१०/११६–११७	वृष्य	ग्राही, स्तन्य	वातकफकर	रक्तपित्त दाह
गोदुग्ध	१२/६–८		स्तन्यकर	वातपित्तहर	रक्तपित्त, धातुदोष, मलाशय दोष, वार्धक्य, सर्वरोग
कृष्णा–दुग्ध	१२/८			विशेष वातहर	
पीता–दुग्ध	१२/६			वातपित्तहर	
शुक्ला दुग्ध	१२/६			श्लेष्मल	
चित्रा दुग्ध	१२/६			अतिवातहृत्	
रक्ता दुग्ध				"	
विवत्सा दुग्ध	१२/१०			त्रिदोषकर	
बालवत्सा दुग्ध					
वष्करिणी दुग्ध	१२/११			त्रिदोषहर	
स्वल्प अन्नभक्षी गौ का दुध	१२/१२	वृष्य, बल्य			विशेष लाभकर
भैंस का दुग्ध	१२/१३–१४	शुक्रकर	क्षुधाकर		अनिद्रा
छागी दुग्ध	१२/१४–१६		ग्राही		रक्तपित्त अतिसार क्षय कास ज्वर सर्वरोग
मृगी–दुग्ध	१२/१६		ग्राही		रक्तपित्त अतिसार क्षय कास ज्वर सर्वरोग
मेषी दुग्घ	१२/१७	वृष्य	अहृद्य, तर्पण	कफपित्तकर	पथरी, वातज, कास, वातरोग
अश्वी दुग्ध	१२/१८–१६			वातहर	शोष
उष्ट्री दुग्ध	१२/१६–२०		दीपन	कफहर	कृमिरोग, कुष्ठ, अफारा, शोथ
हस्तिनी दुग्ध	१२/२०–२१	वृष्य बलकर	चक्षुष्य	स्थैर्यकर	उदररोग
नारी दुग्ध	१२/२१ २२		दीपन नस्य आश्च्योतन हेतु श्रेष्ठ	वातपित्तहर	चक्षु–शूल, अभिघात शिरोरोग
धारोष्ण् गोदुग्ध	१२/२२–२३	बलकर	दीपन, सुधासम		त्रिदोषहर सुधासम

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
पीयूष किलाट	१२/३१ –३३	वृष्य बृंहण	हृद्य	वातपित्तहर	मुखशोथ तृषा दाह रक्त पित्त ज्वर
क्षीरशाक तक्रपिण्ड		बलकर			
सन्तानिका (मलाई)	१२/३४	वृष्य, शुक्रल, बृंहण, बलकर	तर्पण	पित्तवातहर कफकर	रक्तपित्त
सशर्करा	१२/३५	शुक्रल	त्रिमलहर	कफकर वातहर	
प्रातःपीत दुग्ध	१२/३८	वृष्य,बृंहण	दीपन		
मध्याह्नपीत		बलकर		कफपित्तहर	
रात्रिपीत					अनेक दोषशमन
				दधि	
दही	१३/२	शुक्रकर बलकर		कफकर	मूत्रकृच्छ् प्रतिश्याय अरुचि विषम ज्वर शीतज्वर अतिसार
मन्ददधि	१३/४		विदाही	दोषत्रयकर	
स्वादु दधि	१३/६	वृष्य	मेदस्कर	कफकर वातहर	रक्तपित्त
स्वाद्वम्लदधि	१३/७	बल–शुक्रकर		कफकर	मूत्रकृच्छ्, प्रतिश्याय, अरुचि विषम ज्वर शीत–ज्वर अतिसार
अम्ल दधि	१३/८		दीपन रक्तपित्तकर	कफपित्तकर	मन्दाग्नि
अत्यम्ल दधि	१३/६		दीपन	वातपित्तकर	मन्दाग्नि
गोदधि	१३/१० –११	पुष्टिकर	दीपन	वातहर	
माहिष दधि	१३/११ –१२	वृष्य	रक्तदोषकर	श्लेष्मल वातपित्तहर	
अजादधि	१३/१२		ग्राही	त्रिदोषहर	
पके दूध का दही	१३/१३ –१४	धातु बलवर्धक	दीपन	वातपित्तहर	श्वास,कास,अर्श,क्षय
गालित दधि	१३/१५			वातहर,कफकर	
दही शक्कर	१३/१६	बलपुष्टिकर			तृषा, रक्तपित्त श्रेष्ठतम

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
सर (दही की मलाई)	१३/२२	वृष्य	मन्दाग्निकर	वातहर	
मस्तु (तोड़)	१३/२३ –२४	बलकर		कफपित्तकर वातहर	वस्तिदोष स्रोतदोष तृषा कब्ज
तक्र	१४/३ –५	वृष्य	ग्राही, दीपन अग्निमान्द्य,	वातपित्तहर	वातरोग, ग्रहणी, स्रोतरोध
अम्ल तक्र	१४/६	वृष्य	दीपन	वातकफहर	
उदस्वित्	१४/८	बलकर		कफकर	आमदोष
छाछ	१४/६		दीपन	पित्तहर	थकावट तृषा सलवण
अम्लतक्र	१४/११				वातरोग
नमक सोंठ शक्कर तक्र	–१२				पित्तरोग
त्रिकटुतक्र					कफरोग
हींग जीरा नमक तक्र	१४/१२ –१३	बल, पुष्टिकर	रुच्य	अतिवातहर	वातरोग अर्श अतिसार वस्तिशूल
तक्रगुड़	१४/१४				मूत्रकृच्छ्
तक्रचित्रक	१४/१४				कफरोग
तक्र	१४/१५ –१८				वातरोग अरुचि स्रोतोरोध गर, वमन विषमज्वर प्रसेक पाण्डु मोटापा ग्रहणी अर्श मूत्रग्रह भगन्दर प्रमेह गुल्म अतिसार शूल प्लीहारोग अपची उदररोग श्वित्र कुष्ठ शोथ तृषा कृमि रोग
नवनीत	१५/१	वृष्य,बलकर	दीपन,ग्राही	वातपित्तहर	रक्तक्षय अर्श अर्दित कास
माहिष	१५/३	शुक्रकर		वातकफकर पित्तहर	दाह, पित्त, श्रम
दूध का मक्खन	१५/४		चक्षुष्य, मेध्य		रक्तपित्त
घृत (सामान्य)	१६/१ –४	रसायन ओज, तेजकर, बलकर, वृष्य	चक्षुष्य,दीपन कान्ति लावण्यकर बुद्धिकर आयुष्य	वातपित्तहर कफकर	विषदोष,उदावर्त्त,ज्वर,शूल उन्माद,अफारा,व्रण,क्षय वीसर्प

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
गोघृत	१६/४ –६	वृष्य, रसायन ओजस्य तेजस्य बल्य	दीपन मेध्य लावण्य कान्तिकृत् वयःस्थापक आयुष्य	त्रिदोषहर	अलक्ष्मी, पाप, रक्षोदोष
माहिष घृत	१६/७ –८	वृष्य		पित्तवातहर श्लेष्मल	रक्तपित्त, वातरक्त
आज्यघृत	१६/८ –९	बलकर	चक्षुष्य दीपन		कास श्वास क्षय
उष्ट्रीघृत	१६/१ –१०		दीपन	कफवातहर	शोष कृमिरोग विषदोष कुष्ठ गुल्म उदररोग
अविघृत	१६/१०		अस्थिवर्धक चक्षुष्य दीपन	कफवातहर	सर्वरोगहर पथरी वातरोग योनि दोष रक्तपित्त
स्त्रीघृत	१६/१२		चक्षुष्य		
बडवाघृत	१६/१३ –१४				विषदोष नेत्ररोग दाह
दुग्ध–घृत	१६/१४		चक्षुष्य ग्राही	वातहर	पित्तदाह रक्तदोष मद मूर्च्छा भ्रम एवं वातरोग
हैयंगवीन	१६/१५	वृष्य बृंहण बलकर	चक्षुष्य दीपन		अरुचि ज्वर
पुराणघृत	१६/१६ –१७			त्रिदोषहर	मूर्च्छा कुष्ठ उन्माद अपस्मार तिमिर विषदोष
गोमूत्र	१७/१ –५		दीपन, मेध्य	कफवातहर पित्तकर	शूल गुल्म अफारा उदर–रोग कुष्ठ खुजली नेत्ररोग मुखरोग किलास मद, वातरोग आमदोष बस्तिरोग किलास कास श्वास शोथ कामला पाण्डुरोग गुदरोग शूल गुल्म अतिसार मूत्रकृच्छ् कृमिरोग प्लीहा रोग वर्चोग्रह (कब्ज) बाह्यप्रयोग कर्णशूल

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता	
स्वमूत्र	१७/८	रसायन			विष रक्तदोष खुजली	
तेल	१८/१	बल,वर्ण	वर्णकर सर	वातहर	व्रण, प्रमेह	प्रयोग
(सामान्य)	–७	वृष्य	रक्तपित्तकर	कफहर		बस्ति पान
		बृंहण,	लेखन,			अन्नसंस्कार
		स्थैर्यकर	दीपन मेध्य			नस्य कर्ण
अक्षि						
			गर्भाशयशोधक			पूरण
तिलतेल	१८/८	बृंहण,सर्व	लेखन,रक्तेतर–			सेक–अभ्यंग
	–६	धातुवर्धक	धातुवर्धक			अवगाह
			ग्राहक, सारक			
सर्षप तेल	१८/६		दीपन, लेखन	कफवातहर	कफरोग वातरोग अर्श	
	–११		रक्तपित्त		शिरोरोग कर्णरोग कण्डू	
			दूषक		कुष्ठ	
राजिका तेल	१८/११		मूत्रकृच्छ्कर		श्वित्र उदररोग कृमिरोग	
तुवरी तेल	१८/१२		ग्राही, दीपन	कफहर	रक्तदोष विषदोष व्रण	
					शोथ कण्डू कुष्ठ उदर	
					कृमि रोग	
अलसी तेल[1]	१८/१३	बल्य	नेत्ररोगकर	कफपित्तकर	चर्मरोग	
	–१५		मलकर	वातहर		
कुसुम्भ तेल	१८/१६	वृष्य	विदाहि	रक्तपित्त		
			नेत्ररोगकर	कफकर		
				अहितकर		
खश तेल	१८/१७	बल्य, वृष्य		वातकफहर	वातरोग कफरोग	
एरण्ड तेल	१८/१८	वृष्य	त्वच्य मेध्य	आमवातहर	योनिदोष शुक्रदोष	
	–२२		वयःस्थापक		विषम ज्वर हृदयरोग पृष्ठ	
			सर, कान्तिकर		शूल गुह्यशूल वातोदर	
					अफारा गुल्म आष्ठीला	
					कटिग्रह वातरक्त कब्ज	
					व्रध्न शोथ आमरोग	
					विद्रधि आमवात	
			संधान			
कांजी	१६/१		पाचन, रोचन	वातकफहर	अरुचि दाह ज्वर	

१. अलसी तेल–बस्ति–पान, नस्य एवं अभ्यंग में उपयोगी।

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
तुषोदक	१६/७		दीपन, हृद्य पाचन	पित्त रक्तकर	पाण्डु, कृमि शूल
सौवीर (बियर)	१६/६		भेदी दीपन	कफहर	ग्रहणी अर्श उदावर्त अंगमर्द अस्थिशूल आनाह
धान्याम्ल[1]	१६/११ –१२		प्रीणन, दीपन		अरुचि वातरोग
शिण्डाकी	१६/१३		रोचन	पित्त श्लेष्मकर	
शुक्त	१६/१५		रोचन,पाचन, रक्तपित्तकर	कफहर	पाण्डु, कृमि
आसुत	१६/१६		रुच्य,पाचन	वातहर	
मद्य सामान्य	१६/१६ –२०		रुच्य,पाचन दीपन	पित्तकर, कफ–वातहर	
अरिष्ट	१६/२१ –२२		औषध अनुसार	औषधानुसार	
सुरा	१६/२३	पुष्टि	स्तन्य ग्राही	कफमेदकर	शोथ गुल्म अर्श ग्रहणी मूत्रकृच्छ्
वारुणी	१६/२४				पीनस अफारा शूल
सीधु	१६/२६ –२८		स्वर, वर्धकर स्नेहन,रोचन	वातपित्तकर कफहर	कब्ज मोटापा शोथ अर्श शोष उदररोग कफरोग
			कृतान्न		
भात	२१/६		वह्निकर रोचन तर्पण	कफकर (बिना धोये चावल)	
खिचड़ी	२१/६	बलकर, शुक्रल	मेध्य, विष्टम्भी	कफ–पित्तकर	
तहरी	२१/१४	वृष्य बलकर बृंहण	तर्पण रुच्य	कफकर पित्तहर	
खीर	२१/१६	बृंहण बलकर	विष्टम्भी	पित्तहर वातहर	रक्तपित्त वातरोग तीक्ष्णाग्नि
नारियल की खीर	२१/१८	अति–पुष्टिकर वृष्य	ग्राही	पित्त, वातहर	रक्तपित्त वातरोग

१. धान्याम्ल–आस्थापन वस्ति में उपयोगी।

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
सेमई	२१/२०	बलकर	तर्पण, ग्राही सन्धानकर	वातपित्तहर	
मंडक (मैदा की रोटी)	२१/२५	बृंहण वृष्य	रुच्य	त्रिदोषहर	
पूड़ी	२१/२७	बलकर			
लपसी (हलुआ)	२१/२६	बृंहण वृष्य	रोचन तर्पण	वातपित्तहर कफकर	
रोटी	२१/३२	बलकर बृंहण धातुवर्धक		वातहर कफकर	
बाटी	२१/३४	बृंहण शुक्रल बलकर	दीपन	कफकर	पीनस श्वास कास
जौ की रोटी	२१/३५	बल्य शुक्रकर	रुच्य	वातकर	कफरोग
बलभद्रिका[1]	२१/३६	बल्य		वातल	
घुमसी[2]	२१/३८				कफपित्तहर
झर्झरी (चने की रोटी)	२१/३६		विष्टम्भन नेत्र्य	वातकर श्लेष्म पित्त रक्तहर	उड़द रोटी
बेढ़ई	२१/४२ –४३	वृष्य बलकर बृंहण शुक्रल	रुच्य मूत्रल सन्तर्पण स्तन्य स्थौल्यकर	वातहर पित्तकफकर	कब्ज,गुदकील, श्वास, पक्तिशूल
पापड़ उरद के अंगार भृष्ट	२१/४५		दीपन,पाचन परम रोचक		
कचौड़ी तेल की	२१/४६ –५०	बल्य	रुच्य पित्तरक्तदूषक नेत्र ज्योतिहर	वातनाशक	

१. बलभद्रिका – छिलकेदार उरद की रोटी।

२. घुमसी – छिलके रहित उरद की रोटी।

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
कचौड़ी घृत की	२१/५०		नेत्र ज्योतिकर		रक्तपित्त
बड़ा उरद के " सूखा	२१/५२	बल्य,बृंहण वीर्यवर्धक	रुच्य,दीपन	कफकर	वातरोग,अर्दित,
बड़ा तक्र	२१/५४	शुक्रकर बलकर	रोचन,विदाही	कफकर वातहर	कब्ज
कांजी बड़ा	२१/५५	शुक्रल बल्य	पाचन,रुच्य	वातकफहर	शूल, अजीर्ण, दाह
इमली बड़ा	२१/६०	शुक्रल बल्य	रुच्य,दीपन		मन्दाग्नि
मूंग बड़े	२१/६१			त्रिदोषहर	
कढ़ी	२१/७०		रुच्य,पाचन	कफवातहर	कब्ज
अलीक मत्स्य	२१/७१ –७२	बृंहण,वृष्य बलकर	कोष्ठशोधक	पित्तकोपकर	वातरोग,अर्दित,हनुस्तम्भ
मूंग अदरक के बड़े	२१/७७	बलकर	रुच्य, दीपन, तर्पण, पथ्य	त्रिदोषहर	
फुलौरी	२१/७६	बलकर पौष्टिक	रुच्य, विष्टम्भी		
मठरी	२१/११०	बृंहण वृष्य		वातपित्तहर	
बूंदी मूंग की	२१/१३०	बल्य	रुच्य चक्षुष्य	त्रिदोषहर	ज्वर
बेसन के लड्डू	२१/१३२	बलकर	विष्टम्भी	वातकर,रक्त–पित्तकफहर	ज्वर
दुग्धकूपिका	२१/१३५ –१३६	बलकर वृष्य शुक्रकर बृंहण	तर्पण,रुच्य	वातपित्तहर	

औषध द्रव्य	संदर्भ	पौष्टिकता	अंगविशेष की पोषकता	वात आदि दोषों पर प्रभाव	रोग निवारण-क्षमता
जलेबी	२१/१४२	बलकर पुष्टिकर वृष्य धातुवर्धक	कान्तिकर रुच्य तर्पण		
श्रीखण्ड	२१/१४६ –१४७	शुक्रल बल्य बृंहण	रोचन,दीपन सर	वातपित्तहर	रक्तपित्त, तृषा, दाह प्रतिश्याय
शर्बत	२१/१४६ –१४०	शुक्रल बलकर	शीतल,रुच्य	वातपित्तहर	मूर्छा,वमन,तृषा,दाह,ज्वर
पना–आम	२१/१५२	बलकर	इन्द्रिय तर्पण		
पना–इमली	२१/१५४	अग्निमन्दकर	वातनाशक	कफपित्तकर	
शिकंजी	२१/१५६	दीपन,रुच्य	वातनाशक		
कांजी	२१/१५८ –१५६	कोष्ठशोधक	पाचन,दीपन	शूल अजीर्ण,कब्ज	
जौ के सत्तू	२१/१६० –१६८	बलकर		कफपित्तहर	थकावट, क्षुधा, तृषा व्रण नेत्ररोग, दाह घाम का दाह
सत्तू धान के	२१/१७०	बलकर शुक्रल	ग्राही		मन्दाग्नि
बहुरी	२१/१७३	तृषाकर	कफहर	प्रमेह वमन	
लाजा	२१/१७५	बलकर	दीपन	कफपित्तहर	वमन अतिसार दाह रक्त–दोष प्रमेह मोटापा तृषा
चूड़ा	२१/१७७	बलकर वृष्य, बृंहण		वातनाशक कफकर	
तिलकुट	२१/१८२ –२०	वृष्य बृंहण		वातहर	विषदोष
राब	२२/२१ –२२		वस्तिशोधक	वातपित्तहर	श्रम
गाढ़ी राब	२२/२४	बृष्य,बृंहण बलकर	वस्तिशोधक	वातपित्तहर	रक्तदोष

गुणविशेष के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण

बृंहण द्रव्य

हरीतकी	वंशलोचन	मेदा	महामेदा
काकोली	क्षीरकाकोली	ऋद्धि	वृद्धि
लशुन	भिलावा की मज्जा	गुग्गुल	गम्भारी
शालपर्णी	लघुपंचमूल	जीवनीयगण	केवाच
विदारीकन्द	बाराहीकन्द	मुशली	घृतकुमारी
शल्लकी	चूषित आम	आम खण्ड	पनस
धामन	केला	नारियल	बेर
महुआ	फालसा	अंगूर	सेव
मीठा नीबू	शालि	गेहूं	उरद
कंगु	चीनक	पोयशाक	पेठाश्वेत
किलाट	सन्तानिका	प्रातः दुग्ध	हैयंगवीन
तिल तेल	तहरी	खीर	पूड़ी
रोटी	बाटी	बेढई	बड़ा
अलीकमस्य	मठरी	दुग्ध कूपिका	श्रीखण्ड
चूड़ा	तिलकुट	गुड़	गाढ़ीराब

वृष्य द्रव्य

आंवला	सोंठ	पिप्पली	अजमोदा
जीरा	धनिया	वंशलोचन	मेदा
महामेदा	ऋद्धि	वृद्धि	लशुन
भिलावा	पोस्ताबीज	सैन्धव	कपूर
लताकस्तूरी	लालचन्दन	हरिचन्दन	पद्माक्ष
गुग्गुल	शिलाजतु	गम्भारी	पृश्निपर्णी
गोखरु	अर्क पुष्प	कुटज	गुञ्जा
केंवाच	रोहिणी	कपासबीज	मूंज
एरक	मुशली	महाशतावरी	विधारा
कोकिलाक्ष	अस्थिसंहारी	घृतकुमारी	प्रसारिणी
छिरेंटा	शंखपुष्पी	दुग्धिका	किञ्जल्क
मृणाल	कमलकन्द	कुब्जक	मल्लिका
दमनक	पुत्रजीव	तुणी	पलाश
सेमर का गोंद	पकाआम	आमखण्ड	आमड़ा
पनसबीज	पनसमज्जा	पकालकुच	केला
खरबूजा	चिरौंजी	खिन्नी	कमलगट्टा
मखाना	सिंघाड़ा	अंगूर	गोस्तनी
बादाम	अमरूद	अखरोट	शालि

चावल नवीन	सिरियारि	पटोलपत्र	कसौंदी
परवल	कोलसिंबी	डोंडी	आलू
कमलकन्द	गोदुग्ध	मेषी दुग्ध	हस्तिनी दुग्ध
पीयूष	कीलाट	सन्तानिका	प्रातः पीत दूध
स्वादु दही	भैंस का दही	दही की मलाई	तक्र
खट्टा तक्र	नवनीत	घृत	गोघृत
भैंस का धृत	हैयंगवीन	तेल	कुसुम्भ
खशतेल	एरण्ड तेल	तहरी	नारियल की खीरं
मण्डक	हलुआ	बेढ़ई	मठरी
दुग्धकूपिका	जलेबी	चूडा	तिलकुट
गाढ़ी राब			

व्यवायी द्रव्य (कामवर्धक)

अष्टवर्ग	सोंचर नमक		

स्तम्भक

उशीर	तृतीय करंजिका	मलयू	शालफल बिम्बफल

वाग्वृद्धि कर

पोस्ता दाना

रसायन द्रव्य

हरीतकी	आंवला	रसाञ्जन	बाकुची
लशुन	गुग्गुल	गिलोय	गम्भारी
शालपर्णी	जीवन्ती	विदारीकन्द	बाराहीकन्द
मुसली	शतावरी	महाशतावरी	अश्वगन्धा
विधारा	भृंगराज	मकोय	सोमलता
शंखपुष्पी	ब्राह्मी	ब्रह्ममंडूकी	तिलक
विजयसार	सेमर	गिलोयपत्र	गोघृत
स्वमूत्र	चमसुर	वंशलोचन	जीवक
ऋषभक	ऋद्धि	वृद्धि	अष्टवर्ग
मुलहठी	लाक्षा	लशुन	प्याज
पोस्ताबीज	गुग्गुलु	जटामांसी	प्रियंगुफल
गिलोय	ताम्बूल	बिल्व	गोखरु
जीवन्ती	आकल्लक	गुञ्जा	बला
अतिबला	महाबला	नागबला	

बलकारक-द्रव्य

वाराहीकन्द	शतावरी	अश्वगन्धा	विधारी
भृंगराज	शंखपुष्पी	नागदमनी	धामन

पका आम	आमडा	पनस (कच्ची)	नारियल
खरबूज	खिन्नी	कमलगट्टा	मखाना
महुआ	खटमीठा	अंगूर	खजूर
नीरा	शाली	चावल	बोये हुए धान
छिन्नरूढधान	साठी चावल	गेंहू	उरद
गीले भुने चने	जलेबी	श्रीखण्ड	शर्बत
आम का पना	जौ के सत्तू	धान के सत्तू	लाजा
चूड़ा	गुड़	गाढ़ी राब	तिंल
बथुआ	पोय	नालीशाक	चिंचु
गिलोयपत्र	चिचिण्डा	सेम	पिण्डार
आलू	शकरकन्द	केलाकन्द	वाराहीकन्द
स्वल्प अन्नाहारी	गाय का दूध	हस्तिनी दुग्ध	धारोष्ण दुग्ध
क्षीर शाक	सन्तानिका	मध्याह्नपीतदुग्ध	
दही	स्वादु दही	पके दूध की दही	दही शक्कर
मस्तु तोड़	उदस्वित्	तक्र (हींग,जीरा,नमकसहित)	नवनीत
घृत	गोघृत	बकरी का घृत	हैयंगवीन
तेल	अलसीतेल	खश का तेल	एरण्डतेल
खिचड़ी	तहरी	खीर	नारियल की खीर
सेमई	पूड़ी	रोटी	बाटी
जौ की रोटी	बलभद्रिका	बेढई	कचौड़ी
बड़ा सूखा	बड़ा तक्र	काजी बड़ा	इमली बड़ा
अलीक मत्स्य	मूंग अदरख के बड़े	फुलौरी	मूंग की बूंदी
बेसन के लड्डू	दुग्ध कूपिका		

मांसलद्रव्य

पनस

रक्तवर्धक

कपास पत्र | लकुच | इमली

वीर्यवर्धक

जीवक	ऋषभक	कूठ	काकोली
क्षीर काकोली	मुलहठी	प्याज	भिलावा की मज्जा
कस्तूरी	गन्धमार्जार का वीर्य	शिलाजतु	दारुसिता
व्याघ्रनखी	शुकवर्ह	पौण्डरीयक	मुद्गपर्णी
माषपर्णी	जीवणीयगण	सहिजन	विदारीकन्द
वाराहीकन्द	शतावरी	अश्वगन्धा	विधारा
अनन्तमूल	सारिवा	मकोय	जल पिप्पली

गुलाब	पारिष	मोखा	पका आम
नारियल का पानी	ताड़	बेर	सिंघाड़ा
महुआ	मीठा अनार	छुहारा	खजूर
खजूर की नीरा	अखरोट	जडहन का चावल	लाल चावल
गेहूं	उरद	बथूआ	पोय
कलम्बी	बैंगन	कसेरु	भैंस का दूध
सन्तानिका	सन्तानिका शक्कर के साथ	दही	स्वादु अम्ल दही
पके दुग्ध का दही	भैंस का नवनीत	खिचड़ी	बाटी
जौ की रोटी	बेढई	बड़ा	तक्र बड़ा
कांजी बड़ा	इमली बड़ा	दुग्धकूपिका	श्रीखण्ड
शर्बत	धान के सत्तू		

ओजस्कर

तेजस्कर	घृत	गोघृत	शिलाजतु

सर्वधातु वर्धक

एरण्ड पत्र	पके दुग्ध का दही	तिल तेल	रोटी

शुक्रशोधक

गुन्द्र

शुक्ररेचक

कण्टकारी

शुक्रहर

पोस्ता का दाना	कटभी	भटवास	कुलथी	अलसी

चक्षुष्य

हरीतकी	बिभीतक	त्रिभला	समुद्रफेन
मुलहठी	लोध्र	लशुन	सेंधानमक
कपूर	लता कस्तूरी	गन्ध माजार का वीर्य	लालचन्दन
हरिचन्दन	नलिका	पौण्डरीयक	जीवन्ती
मुद्रपर्णी	निम्बपत्र	सहिजन	मीठा सहिजन
निर्गुण्डी	एक एरक	शतावरी	मकोय
जल पिप्पली	केतकी		

मेध्य

हरीतकी	लशुन	जटामांसी	शुकबर्ह
बिल्व	गम्भारी	शतावरी	विधारा निर्गुण्डी
मुण्डी	शंखपुष्पी, अपराजिता	ब्राह्मी	मण्डूकपर्णी
अनार खटमिट्ठा	नालीशाक कालशाक	चिंचु	घृत सामान्य
गोघृत	गोमूत्र	एरण्डतेल	अंगूर

कतक	लालचावल	मूंग	हस्तिनी का दूध
घृत–मक्खन	हैयंगवीन		

केश्य

बिभीतक	मुलहठी	बाकुचीफल	भिलावा की मज्जा
निर्गुण्डी	नीली	भृङ्गराज	गुड़हल
विजयसार	लिसोढ़ा	तिल	केलाकन्द

स्वर्य

सोंठ	कुलिंजन	मुलहठी	मजीठ
गुग्गुल	जायफल	वासा	विधारा
मकोय	ब्राह्मी	मण्डूकपर्णी	शालि
लाल चावल	जौ	छोटी मूली	पाटला
अपराजिता			

धनदा

नामदमनी

अग्निवर्धक द्रव्य

अदरख	पिप्पलीमूख	पंचकोल	गजपिप्पली
चव्य	अजवाइन	चित्रक	अजमोदा
धनिया	सौंफ	सोया	हींग
वचा	चोप चीनी	हाऊवेर	विडंग
नेपाली धनिया	तेजबल	ज्योतिष्मती	भंगरैया
कुटकी	अतिविषा	लशुन	भिलावां
भिलावा की मज्जा	विजया	सेन्धानमक	समुद्रीनमक
काला नमक	सोंचर नमक	सोहागा	चूक
गुग्गुल	जायफल	लवंग	नागकेशर
ह्रीबेर	उशीर	नागर मोथा	बिल्व
कचूर	रेणुका	गठिवन	गिलोय
गम्भारी	श्योनाक	बृहत्पंचमूल	कण्टकारी
गोखरु	एरण्ड फल	सेहुण्ड	धतूर
सहिजन	सफेद सहिजन	मीठा सहिजन	कुटज
टंकारी	भूतृण	श्वेत दूर्वा	शतावरी
दन्ती	अपामार्ग	अस्थिसंहारी	श्वेत पुनर्नवा
अमर बेल	हिंगु पत्री	वंशपत्री	शंखपुष्पी
जलपिप्पली	छिकनी	गुलाब	तुलसी
मरुवक	वनतुलसी	पलाश	वरुण
सप्तपर्ण	पका आम	परवल	बैंगन

खेखसी	करेरुआ	कटेली	सूरन
छोटी मूली	गाजर	केलाकन्द	वाराहीकन्द
केम्बुक	भैंस का दूध	ऊंटनी का दूध	नारी दुग्ध
धारोष्ण गोदुग्ध	प्रातः पीत दुग्ध	गो के दुग्ध का दही	खट्टा दही
अति खट्टा दही	पके दूध का दही	तक्र (मट्ठा)	अम्ल तक्र
छाछ	नवनीत	घृत	गोघृत
बकरी का घृत	ऊंटनी का घृत	भेड़ का घृत	हैयंगवीन
गोमूत्र	तेल तिल का	सरसों का तेल	तुवरी का तेल
तुषोदक	सौवीर	धान्याम्ल	शुक्त
आसुत	मद्य–सामान्य	भात	पापड़
बड़ा सूखा	कांजी बड़ा	इमली बड़ा	कढ़ी
श्रीखण्ड	शिकञ्जी	लाजा	कांजी
कांजी बड़ा	इमली बड़ा	लकुच	नारियल का जल
सुपारी	बाल बिल्व	सूखे बेर	खजूर की नीरा
बीजपूर	नीबू	इमली	चूक
वृक्षाम्ल	स्थलज धान	जौ	तारामीरा
सरसों	राई	बथुआ	चौराई
चांगरी	शितिवार	अजवाइन पत्र	शाक
सेहुड़	पटोलपत्र	कसौदी	तरोई

अग्नि-नाशक

निम्ब	हरी सुपारी	पका बेल

अग्नि कर

मूंग अदरख के बड़े	फुलौरी	बूंदी मूंग की	दुग्ध कूपिका
जलेबी	कढ़ी	श्रीखण्ड	शर्बत
शिकंजी			

आम पाचक (अति अग्निकर)

नागकेसर	रास्ना

रुचि उत्पादक

अदरख	पंचकोल	कुलिंजन	वाकुची
लवंग	कचूर	शुकवर्ह	पोदिना
नागपुष्पी	हिंगुपत्री	वंशपत्री	छिकनी
वर्बरी	मरुवक	वनतुलसी	रोहीतक
आम का बौर	टिकोरा	चषित आम	आमावट
आमड़ा	पकालकुच	नारंगी	कोल
लवली	करौंदा	अंगूर	छुहारा

खजूर	खजूर नीरा	शालि	उरद
राजमाष	सीझा चना	बथुआ	चौराई
नालीशाक	चांगेरी	चुक्र	चिंचु
शितिवार	अजवाइन	अजवाइन पत्रशाक	कसौदी
ककड़ी	चिचिण्डा	बिम्बफल	टिण्डा
कसेरू	तक्र जीरा	हींग नमक	कांजी
शिंडाकी	शुक्त	आसुत	मद्यसामान्य
मद्यसामान्य	सीधु	भात	तहरी
मंडक	हलुआ	बाटी	बेढई
कचौरी	बड़ा	तक्र बड़ा	कांजी बड़ा
इमली बड़ा	मुख अदरख के बड़े	फुलौरी	बूंदी मूंग की
दुग्ध कूपिका	कढ़ी	जलेबी	श्रीखण्ड
श्वेत शिकञ्जी			

हृद्य द्रव्य

अमोदा	सौंफ	सोया	कुटकी
चकबड़	छरीला	ग्रन्थिपर्ण	पोण्डरीक
पाटला	श्योनाक	बृहती	वासा
गोजिह्वा	अरवी	वन तुलसी	गुलाब
तुलसी	मरुवक	दमनक	वनतुलसी
अर्जुन	पका आम	नारियल जल	लौकी
लौकी कड़वी	परवल	केम्बुफ	किलाट
तुषोदक	हृदय शोधन	बीजपूर	

अहृद्य

आम का रस	मेषी दुग्ध		

आह्लादक द्रव्य

चन्दन

आयुवर्धन स्थैर्यकर

वाराही कन्द		गेहूं	हस्तिनी दुग्ध
गोघृत	एरण्ड तेल		

भेदक

पाषाण भेद	कुटकी	भिलावा	सांभरनमक
सामुद्र नमक	काला नमक	गम्भारी	कण्टकारी
एरण्डफल	निम्बफल	करंजपत्र	वासा
द्रोणपुष्पी	शाल्मली पुष्प	वरुण	अमचूर
बेर	सूखे बेर	अमलतास	द्रोणपुष्पी

मटरशाक	टिण्डा	सौवीर	

स्तन्य

मेदा	महामेदा	जीवनीयगण	कपास बीज
गुन्द्र	विदारीकन्द	बाराही कन्द	शतावरी
मृणालकन्द	कदम्ब	पंचवल्कल	पंचक्षीरी
राजमाष	भटवास	तिल	कलम्बी
गोदुग्ध	सुरा	बेढई	

ग्राही एवं विष्टम्भी द्रव्य

लोध्र	विजया	अफीम	पोस्तादाना
राल	नागरमोथा	कपूर कचरी	गिलोय
विल्व	श्योनाक	बृहती	लघुपंचमूल
जीवन्ती	मुद्गपर्णी	माषपर्णी	अर्क पुष्प
पित्तपापड़ा	निम्ब	महानिम्ब	कचनार
कोविदार	सहिजन	बला	अतिबला
महाबला	नागबला	मत्स्याक्षी	दुग्धिका
जलपिप्पली	गोजिह्वा (अरवी)	वेल्लन्तर	किंजल्क
कमलकन्द	कदम्ब	अशोक	गुड़हल
वट	वेल्लिया	तुणी	सेमर का गोंद
आम के बौर	आमड़ा	क्रोशम्भ	लड्डू
गण्ड दूर्वा	अपामार्ग	पुनर्नवा लाल	पनस के बीज
लकुच	नारियल	पका नारियल	जामुन
कोल (छोटे बेर)	धान के सत्तू	कसैला अनार	खजूर
छुहारा	कमरख	वृक्षाम्ल	साठीधान
मूंग	मोठ	मसूर	अरहर चना
भीगा चना	कुलथी	तिल	तारामीरा
राई	कोदो	नीवार	सनपुष्प
मरसा	पालक	पटुआ का शाक	शितिवार
पित्तपापड़ा	गिलोय पत्र	चना शाक	सेमर के फूल
कूषमाण्ड	ककड़ी	मूली के डण्ठल	आलू
शकर कन्द	गाजर	कसेरु	कमल कन्द
छागी दुग्ध	मृगी दुग्ध	अजा–दधि	तक्र
नवनीत	तुवरीतेल	सुरा	खिचड़ी
खीर	नारियल की खीर	सेमई	चने की रोटी

सारक द्रव्य

लशुन	गुग्गुलु	पृश्निपर्णी	अर्क

कलिहारी	सहिजन	श्वेत/मीठा सहिजन	रोहिणी
बांस के यव	कास	दन्ती	लघु दन्तीफल
इन्द्रायण	जवासा	अपामार्ग	अस्थिसंहारी
पुनर्नवाश्वेत	त्रायमाणा	मूर्वा	शंखपुष्पी
ब्राह्मी	ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला	शैवल
कदम्ब	पलाश	सप्तपर्ण	आम का रस
अमावट	आमड़ा	कोल (छोटे बेर)	अंगूर
तेल	श्रीखण्ड		

मुखशोधक

कमल कर्णिका

जिह्वा शोधक

अदरख	बीजपूर

कण्ठशोधक

अदरख	शिलाजतु	पाटला	अपराजिता	बीजपूर

विरेचक द्रव्य

बाकुची	अर्कदुग्ध	सेहुण्ड	निचुल
भूतृण	श्वेतनिशोथ	श्यामनिशोथ (तीक्ष्ण विरेचन)	
सेहुण्ड का दूध (तीक्ष्णविरेचन)		नीला	जमालगोटा
महाजालनी	मार्कण्डिका	शमी	परवल की जड़
चेतकी हरड़			

मल बांधने वाले द्रव्य

शालि	छिन्नरूढधान	क्षुद्रधान्य

मलमूत्र स्तम्भक

पोदीना

वमनकर द्रव्य

ज्योतिष्मती	स्वर्णक्षीरी	मदनफल	शणपुष्पी
काकनासा	मार्कण्डिका	देवदाली	

बस्तिशोधक

पाषाण भेद	गोखरु	बांस	नारियल
कूष्माण्ड	राब	गाढ़ी राब	

मूत्रशोधन

गुन्द्र	कुश	काश	मुञ्ज

वर्णकर द्रव्य

मजीठ	लाक्षा	लशुन	जावित्री
दारुसिता	चतुर्जातक	कुंकुम	गोरोचन

व्याघ्रनख पनड़ी पौण्डरीक विदारीकन्द
कमल गुलाब अशोक वट
पीपल गूलर श्वेतखदिर पकाआम
आमखण्ड लाल चावल गेहूं अरहर तेल

कान्तिकर

शिलाजतु जटामांसी कुन्नट बला
महाबला अतिबला नागबला विधारा
शंखपुष्पी घृत गोघृत एरण्ड तेल जलेबी

त्वच्य

कुन्दरू भृंगराज विजयसार तिल एरण्ड तेल

तृप्तिकर द्रव्य

उरद राजमाष पोय भेड़ का दूध
सन्तानिका भात सेमई बेढई
मूंग अदरक के बड़े दुग्धकूपिका आम का पना मेदकर
कच्चा पनस उरद स्वादु दधि जौ
मेदहर–लेखन मदन फल कपूर गुग्गुलु
क्षुद्रधान्य बिम्बफल तिल का तेल सर्षप तेल

गर्भकर

ऋद्धि वृद्धि पद्माक्ष कण्टकारी
लक्ष्मणा जीवनीयगण जीवक ऋषभक
मेदा महामेदा काकोली क्षीर काकोली
मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मुलहठी दुग्धिका

गर्भपातक द्रव्य

कलिहारी शीशम रीठा

गर्भाशय शोधक

तेल

दाहकर द्रव्य

सहिजन बांस के यव भूतृण तुलसी
वनतुलसी पका नारियल कुलथी सरसों का शाक
सेम मन्द दधि कुसुम्भ तेल तक्र बड़ा

शामक द्रव्य

वीरण

मादक-मोहकर

धाय के फूल विजया पोस्तादाना धतूर

शोधक

अफीम	गम्भारी	कनेर	

भग्नसन्धानकर

पञ्चक्षीरी	पञ्चवल्कल	पलाश	धामन
गेहूं	कंगु	चीनक	सेमई
अस्थिसन्धानकर	अस्थि संहारी (हड़जोड़)		
छेदन	रसाजन	लताकस्तूरी	बांस
मलहर	दुग्धिका		
त्रिमलहर	शर्करासहित दूध		
श्रेष्ठ नस्य	नारी दुग्ध		
स्वेद्य	करीर	कुलथी	
नेत्र ज्योतिकर	कचौड़ी	ताजे पानी के छीटें	
नेत्ररोगकर	अलसी तेल	कुसुम्भतेल	हरी सुपारी, तेल की कचौड़ी

दन्त्य

भृंगराज	बकुल	खदिर	तिल
आध्मानकर	बिम्ब फल		
मलकर	आलू	अलसी का तेल	

मूत्रवर्धन द्रव्य

कपास पत्र	वाराहीकन्द	विदारीकन्द	लघुदन्तीफल
दुग्धिका	शालि	लाल चावल	सरसों का शाक
आलू	बेढई		

रक्तपित्तकर

सहतूत	खट्टे अंगूर	कुलथी	राई
सरसों	खट्टा दही	तेल	शुक्त
रक्त-पित्तदूषक	सरसों का तेल	तेल की कचौड़ी	
रक्तदोषकर	भूतृण	कच्चा आम	
अम्लपित्तकर	खट्टे अंगूर		
मन्दाग्नि कर	सर (दही की मलाई)		
शोषणकृत्	सावां		
स्नायु शोथकर	सहिजन के फूल		
मूत्रकृच्छ्रकर	राई का तेल		
कण्डूकर	सूरन		
कृमिकर	पारिष		

वातहर

हरीतकी	बिभीतक	मेथी	वचा
बालवचा	काकोली	क्षीर काकोली	चकवड का फल

प्याज	पोस्ताबीज	सांभर नमक	सामुद्र नमक
काला नमक	उषर नमक	गोखरु	एरण्ड फल
निम्ब	कपास पत्र	मुशली	कोकिलाक्ष
जिगिनी	पका आम	आम का रस	केला
नारङ्गी	वृक्षाम्ल	उरद	कोलसिम्बी
चित्रा गौ का दूध	लाल गौ का दूध	घोड़ी का दूध	शक्कर सहित दूध
स्वादु दही	गौ के दूध का दही	गलित दधि	दही की मलाई
मस्तु (तोड़)	अलसी का तेल	आसुत	रोटी
बेढ़ई	तक्र बड़ा	इमली का पना	शिकंजी
चूड़ा	तिलकुट	गुड़	

वात-अनुलोमक

बला	महाबला	अतिबला	नागबला

पित्तहर

जीवक	ऋषभक	धाय के फूल	आमाहल्दी
पित्तपापड़ा	कोविदार	कास	एरक
मृणाल	कमलकन्द	जूही	तुणी
कोमल–नारियल	नारियल जल	तरबूज	त्रपुस
शालफल	बेर	बोये हुए धान	मरसा
पटोल पत्र	चना शाक	तरोई	पिण्डार
छाछ	तहरी		

कफहर द्रव्य

तेजबल	कुलिंजन	मदनफल	मजीठ
रसांजन	पोस्तादाना	विजया	यवक्षार
सोहागा	चूक	चीनिया कपूर	लताकस्तूरी
पद्माक्ष	जावित्री	गन्ध कोकिला	गन्धमालती
पोदीना	कलिहारी	धत्तूर	छोटा करञ्ज
नल	लघुदन्ती फल	मेष श्रृंगी	दुग्धिका
भूमि आंवला	द्रोणपुष्पी	वन्ध्याककोटकी	देवदाली
ककुन्दर	मूसाकानी	केतकी	कनेर
तिलक	शाल	सर्जक	शीशम
विजयसार	खदिर	श्वेत खदिर	इरिमेद
बबूल	वरुण	कटभी	शमी
तारामीरा	कंगु	वंशयव	गवेधु
पालक	नाड़ी(कालशाक)	सूरन	शकरकन्द
ऊँटनी का दूध	तुवरी का तेल	सौवीर	शुक्त
सीधु	बहुरी		

वात-पित्तहर

वंशलोचन	अष्टवर्ग	मुलहठी	चकवड़
भिलावां की मज्जा	दारुसिता	शालपर्णी	प्रियंगु
गम्भारी	लघुपञ्चमूल	माषपर्णी	गुञ्जा
विदारीकन्द	वाराहीकन्द	शतावारी	मल्लिका
बन्धूक	सेमर	श्वेत कूष्माण्ड	राव, सूखी
आमचूषित	आम खण्ड	पनस	आमड़ा
लकुच पका	नारियल	खरबूजा	ताड़फल की मज्जा
कपित्थ	झरबेरी	करौंदा	चिरौंजी
महुआ	महुआ के फल	फालसा	सहतूत
बादाम	सेब	जडहन का चावल	साठी चावल
गेहूं	पोय	अगस्त के फूल	केला के फूल
कड़वी लौकी	चिचिण्डा	घीया तरोई	बिम्बफल
सेम	डोंडी	मूली के डण्ठल	गो दुग्ध
कपिला गौ का दूध	नारी दुग्ध	पीयूष	कीलाट
क्षीर शाक	तक्रपिण्ड	सन्तानिका	भैंस का दही
पके दुग्ध का दही	तक्र	नवनीत	घृत भैंस का
खीर	नारियल का खीर	सेमई	हलुआ

वातकफहर द्रव्य

अदरक	काली मिर्च	पिप्पलीमूल	गज पिप्पली
चित्रक	पंचकोल	अजवाइन	अजमोदा
जीरा	सौंफ	सोया	चमसुर
हींग	विडंग	रास्ना	कुष्ठ
पुष्करमूल	काकड़ा सिंगी	कायफल	भंगरैया
बाकुचीफल	लशुन	भिलावां	कस्तूरी
गन्धमार्जार	अगर	सरल	गुग्गुल नया
कुन्दुरु	जायफल	छोटी इलायची	दालचीनी
तमालपत्र	भूर्जपत्र	व्याघ्रनख	कचूर
रेणुका	तालीसपत्र	शीतल चीनी	ताम्बुल
बेल	अरणी	बृहत्पंचमूल	बृहती
कण्टकारी	एरण्ड	एरण्डपत्र	सेहुण्ड
पारिभद्र	सहिजन	सहिजन के बीज	निर्गुण्डीपत्र
करंजपत्र एवं फल	चिल्लक	टंकारी	वेतस्
अश्वगन्धा	पाठा	नीली	विधारा
अपामार्ग	अस्थिसंहारी	कुमारी	पुनर्नवा श्वेत

प्रसारिणी	भृंगराज	छिरेंटा	वन्दा
हिंगुपत्री	सुवर्चला	देवदालीफल	वेल्लन्तर
छिकनी	वर्बरी	सुदर्शन	स्थलकमल
गुड़हल	तुलसी	शाल्मली पुष्प	करीर
पुत्रजीव	पलाशफल		
शाखोट	मोखा	सप्तपर्ण	अमचूर
बेल	बालबिल्व	कमलगट्टा	मखाना
कतक	छुहारा	खजूर	खजूर की नीरा
पीलुफल	जम्बीरी नीबू	कमरख	इमली पकी
अम्लवेतस् (चूक)	कुलथी	सरसों	कुसुम्भ बीज
लोणी	चांगेरी	अजवाइनपत्र शाक	कूष्माण्ड (पीला)
बैंगन	कटेली	सरसों के नाल	गाजर
बाराहीकन्द	अरुई	खट्टा तक्र	कढ़ी
उष्ट्री घृत	भेड़ी का घृत	गोमूत्र	तेल सामान्य
सरसों का तेल	खश का तेल	कांजी	मद्य सामान्य

त्रिदोषहर

आंवला	धनिया	सर्पाक्षी (नकुली)	ऋद्धि वृद्धि
इन्द्रजौ	सेंधा नमक	तगर	गुग्गुल पुराना
राल	कुंकुम	जटामांसी	शुकवर्ह
लामज्जक	एलुवा	नटी (नालिका)	पाटला
श्योनाक	शालपर्णी	पृश्निपर्णी	मूंज
दशमूल	जीवन्ती	केवाच	रोहिणी
कुश	शतावरी अंकुर	श्वेत निशोथ	सारिवा
मूर्वा	मकोय	सोमलता	शंखपुष्पी
शैक्ल	वासन्ती	बेला	चमेली
चम्पा	कुब्जक	गुलाब	माधवी
अशोक	दमनक	शिरीष	रीठा
पलाश	जल सिरस	पनसमज्जा	लकुच
भीगी सुपारी	पानी आमला	खिन्नी	विकंकत
मीठा अनार	अमरूद	मीठा पीलु	तीता पीलु
नीबू	साठी चावल	अतसी	बथुआ
चिंचु	शितिवार	मूली स्नेहसिद्ध	गिलोय पत्र
कसौदी	अगस्तफूल	परवल	मूली लघु
वस्करिणी का दूध	धारोष्ण गोदुग्ध	स्वर्ण वल्ली	मूंग की बूंदी

अजा–दधि   गोघृत   पुराण घृत   मण्डक–मैदा की रोटी
मूंग के बड़े   अदरक युक्त   मूंग की बूंदी

वातशामक

मेथी

वातकोपन

श्योनाक–फल   एरक   जलवेतस्   इज्जल
बालचिर्भट   मठरी   पित्तकोपक   पंचकोल
पिप्पली सूखी   मुचुकन्द   अलीकमत्स्य (पान के पकौड़े)
भूतृण   सहिजन

पित्तशामक

पिप्पली गीली   लालचन्दन   अपामार्ग

कफ शामक

पोस्ताबीज

कफ वात अनुलोमक

सोंचर नमक

वातपित्त-प्रकोपन

भुने चने

वातपित्त-शामक

साठी चावल

त्रिदोष शामक : कुब्जक

त्रिदोषकर

बड़ी मूली   मन्ददही   विवत्सा का दूध

वातकर द्रव्य

कुसुम्भ   आमाहल्दी   पोस्तादाना   अफीम
धतूर   वासा   पित्तपापड़ा   निम्बपत्र
बांस के यव   अपामार्ग लाल   पुनर्नवा लाल   मेषश्रृंगी
दुग्धिका   भूमि आंवला   द्रोणपुष्पी   गोजिह्वा
मृणाल   कमलकन्द   जूही   कदम्ब
अगस्त   आम का बौर   आम का टिकोरा   कच्चा पनस
शाल फल   तिन्दुक   पीलू   कोल (छोटे बेर)
सिंघाड़ा   सूखे में उत्पन्न धान   राजमाष   मोठ
मसूर   अरहर   क्षुद्रधान्य   कंगु
चीनक   सांवा   कोदो   नीवार
मरषा   नाडी   घोटिका   पित्तपापड़ा
सेमर के फूल   करेला   तरोई   सेम

टिण्डा	आलू	कसेरु	बहुत खट्टा दही
माहिष नवनीत	सीधु	जौ की रोटी	बलभद्र
धूमसी	बेसन के लड्डू		

पित्तकर द्रव्य

काली मिर्च	पिप्पली मूल	चित्रक	जीरा
हींग	बाकुची फल	विजया	अफीम
सांभर नमक	सोहागा	अगर	दालचीनी
चतुर्जातक	दालचीनी इलायची	तमालपत्र नागकेशर	रेणुका
ताम्बुल	बिल्व	कण्टकारी	कलिहारी
सहिजन सफेद	करंजपत्र	बांस के यव	अस्थिसंहारी
द्रोणपुष्पी	छिकनी	मुचुकुन्द	मरुबक
वनतुलसी	वरुण	आम का टिकोरा	कोशम्भ का फल
पका नारियल	ताड़	फालसा	अनार
खट्टामीठा अनार	पीलु फल	अखरोट	कच्ची इमली
अम्ल वेतस	वृक्षाम्ल	उरद	चांगेरी
अजवाइन पत्र	पकी ककड़ी	कोलसिम्बी	मेषी दुग्ध
खट्टा दही	अन्यम्ल दही	दही का तोड़	गोमूत्र
सीधु	खिचड़ी	बेढई	इमली का पत्ता
कसैला अनार			

कफकर

जीवक	ऋषभक	मेदा	महामेदा

अष्टवर्ग (जीवक, ऋषभक, मेदा–महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि, वृद्धि, अष्टवर्ग)

तिलकुट	प्याज	सामुद्र नमक	रेणुका
माषपर्णी	कपास के बीज़	बांस के यव	मृणाल
कमलकन्द	जूही	कदम्ब	बन्धूक
पारिष	सेमर	पका आम	आम का रस
आमड़ा	कच्चा पनस	चिर्भट–बाल	ताड़
चूक	ताड़ की मज्जा	करौंदा	सिंघाड़ा
अंगूर	बादाम	सेव	अखरोट
वृक्षाम्लेय	शालि	जडहन	बोये हुए धान
गेहूं	उरद	नीवार	मरषा
	कच्ची मूली	कूष्माण्ड सफेद	तरोई
कोलसिम्बी	आलू	कसेरु	श्वेत गाय का दूध
भेड़ी का दूध	अनम्ल	गालित दधि	मस्तु (तोड़)
उदस्वित्	माहिष मक्खन	घृत सामान्य	माहिष घृत

कुसुम्भ तेल	शिण्डाकी	[illegible]	भात
खिचड़ी	तहरी	लपसी	रोटी
बाटी	बेढ़ई	बड़ा	कांजी बड़ा
पना इमली का			

कफवातकर

तरोई	आलू	कसेरु	कमलकन्द
माहिष नवनीत	सिंघाड़ा	रेणुका	जूही
कदम्ब	मृणाल	कमलकन्द	सिंघाड़ा
निवार	मरसा		

वातपित्तकर

सोहागा	बहुत खट्टा दही	सीधु	आम का टिकोरा

वातदोषकर

पटुआ

कफपित्तकर

चूक	ताड़	ताड़ी	अखरोट
कच्ची इमली	वृक्षाम्ल	उरद	कोलसिम्बी
मेषी दुग्ध	खट्टा दही	मस्तु (तोड़)	अलसी का तेल
शिण्डाकी	खिचड़ी	बेढ़ई	इमली का पना
कच्ची मूली			

पित्तकोपकर

एरण्डपत्र

रक्त पित्तकर तुषोदक

त्रिदोषकर द्रव्य

पका बेल	बड़ी मूली	विवत्सा का दूध	मन्द दही
कच्चा आम	बांस के यव	लकुच	सरसों का शाक

रोग विशेष नाशक द्रव्यों का वर्गीकरण

प्रकृति पर आश्रित होकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा एवम् अस्वस्थ होने पर प्रकृति प्रदत्त पदार्थों का समुचित उपयोग करके पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करना प्राकृतिक चिकित्सा का एक भाग है। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि किस द्रव्य में किस रोग को दूर करने की शक्ति है। आचार्य भावमिश्र के अनुसार कुछ प्रमुख द्रव्यों की रोग विशेष में उपयोगिता द्रष्टव्य है।

ज्वरहर

पिप्पली	जीरा	धनियां	सौफ
सोया	मेथी	वंशलोचन	रास्ना
नाकुली–सर्पाक्षी	पुष्करमूल	काकड़ाशृङ्गी	कायफल
भृङ्गराज	मेदा	महामेदा	काकोली
क्षीर काकोली	अष्टवर्ग	अमलतास	कुटकी

इन्द्रयव	लाक्षा	बाकुची	लोध्र
भिलावां	लालचन्दन	हरिचन्दन	देवदारु
राल	कुन्दरू	शिलाजतु	नखी (व्याघ्रनख)
वीरण	उशीर	नागरमोथा	कांजी
शालपर्णी	प्रियंगु	शुकबर्ह	ग्रन्थिपर्ण
नटी	गिलोय	गम्भारी	शालपर्णी शाक
पृश्निपर्णी शाक	बृहतीफलशाक	कण्टकारी फलशाक	सेहुण्ड
गुञ्जा	कत्तृण	गण्ड दूर्वा	पाठा
श्वेत निशोथ	सरफोंका	जवासा	सरिवा
त्रायमाणा	मूर्वा	मकोय	काकजंघा
ब्राह्मी	ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला (हुरहुर)	देवदाली
जलपिप्पली	गोजिह्वा (अरवी)	ककुन्दर	खदिर
कालसा	पानी आमला	चिरौंजी	मीठा अनार
अंगूर	लाल चावल	मूंग की बूंदी	बेसन के लड्डू
साठी चावल	मूंग	मोठ	मसूर
चना	कुलथी	शितिवार	द्रोणपुष्पी
पित्तपापड़ा	पत्तागोभी	पटोल पत्र	गिलोय पत्र
कड़वी लौकी	करेला	तरोई	परवल
बैंगन	खेखसी	कटेली	लघुमूली
केम्बुक	पीयूष	किलाट	क्षीर शाक
तक्रपिण्ड	शर्बत	छागी दुग्ध	गोदुग्ध
मृगी दुग्ध	घृत	हैयङ्गवीन	

रक्तज्वरहर एलुवा

विषम ज्वरहर

रोहिणी हरीतकी	हरीतकी	आंवला	त्रिफला
स्वादु–अम्ल दही	तक्र	एरण्डतेल	

जीर्णज्वरहर

पिप्पली	गुड़ पिप्पली	लशुन	पोदीना

कफज्वरहर

महाजालनी कुमारी

पित्तज्वरहर

शैवल कच्चा नारियल

चातुर्थिक ज्वरहर

अगस्त अगस्त के फूल

शीत ज्वरहर

स्वादु–अम्ल दही

सर्वविधज्वरहर

गिलोय

कास हर

हरीतकी	बिभीतक	आंवला	सोंठ
अदरक	पिप्पली	त्रिकटु	पिप्पलीमूल
चव्य	गजपिप्पली	धनिया	नेपाली धनिया
कुलिंजन	वंशलोचन	रास्ना	तेज बल
कूठ	पुष्कर मूल	काकड़ा शृंगी	कायफल
भृङ्गराज	ऋद्धि	वृद्धि	कुटकी
लाक्षा	बाकुचीफल	चकबड़ का फल	अतिविषा
लशुन	प्याज	पोस्तादाना	देवदारु
कण्टकारी	सरल	जायफल	जावित्री
लवंग	कचूर	इलायची बड़ी	इलायची छोटी
शालपर्णी	कपूर कचरी	तालीस पत्र	सुगन्ध कोकिला
पोदीना	गिलोय	श्योनाक	बृहत्पञ्चमूल
दशमूल	लघुपञ्चमूल	एरण्ड	अर्कपुष्प
वासा	निम्ब	कोविदार	कत्तृण
इन्द्रायण	सरफोका	जवासा	सारिवा
मेषशृङ्गी	मेषशृङ्गीफल	भूमि आंवला	ब्राह्मी
ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला (हुरहुर)	मार्काण्डिका	गोजिह्वा (अरवी)
स्थल कमल	शिरीष	पञ्चक्षीरी	पञ्चवल्कल
खदिर	धामन	शमी	शालफल
चिरौंजी	लाल चावल	बीजपूर नीबू	कागजी नीबू
मधुकर्कटी	जम्बीरी नीबू	जौ	कुलथी
घोटिका	पमार	पटोलपत्र	गिलोयपत्र
कसौंदी	तरोई	परवल	खेखसी
कटेलीफल–पुष्प	केम्बुक	छागी दुग्ध	पके दूध का दही
नवनीत	छागी घृत	गोमूत्र	बाटी

पित्तज कासहर

कड़वी लौकी

वातज कासहर

मृगी का दूध

श्वास हर

हरीतकी	आँवला	सोंठ	अदरक
पिप्पली	काली मिर्च	त्रिकटु	पिप्पली मूल
चव्य	गजपिप्पली	धनिया	नेपाली धनिया
वंशलोचन	रास्ना	तेजबल	पुष्कर मूल
काकड़ा शृङ्गी	कायफल	भृङ्गराज	कुटकी
बाकुची	बाकुचीफल	चकवड़ का फल	लशुन
प्याज	यवक्षार	जायफल	जावित्री
लवंग	इलायची बड़ी	इलायची छोटी	कचूर
कपूर कचरी	गठिवन	तालीसपत्र	गिलोय
पाटला	बृहत्पञ्चमूल	शालपर्णी	पृश्निपर्णी
बृहती	कण्टकारी	लक्ष्मणा	गोखरु
दशमूल	एरण्ड	अर्कपुष्प	वासा
महानिम्ब	गुञ्जा	पाठा	इन्द्रायण
सरफोंका	सारिवा	भृंगराज	मेष शृङ्गी
सुवर्चला (हुरहुर)	स्थलकमल	शमी	सप्तपर्ण
महुआ का फल	अंगूर	बीजपूर नीबू	मधुकर्कटी
लाल चावल	जौ	उरद	कुलथी
पालक	घोटिका	शितिवार	पमार
तरोई	खेखसी	कटेली के फल	छोटी मूली
पके दूध का दही	छागीघृत	गोमूत्र	बाटी

तमक श्वास हर

द्रोण पुष्पी

उदर रोग हर

हरीतकी	आंवला	पिप्पली	पिप्पलीमूल
पञ्चकोल	अजवाइन	हींग	विडग
रास्ना	कबीला	भिलावां	एरण्ड
एरण्डफल	अर्कदुग्ध	सेहुण्ड	सेहुण्ड का दूध
टंकारी	श्वेत निशोथ	दन्ती	लघुदन्ती
इन्द्रायण	नीली	पुनर्नवा	महाजालनी
दुग्धिका	मार्कण्डिका	पलाशफल	सेमर के फूल
मरषा	सेहुड़ शाक	गोजिह्व (अरुई)	हस्तिनी दुग्ध
तक्र	उष्ट्रीघृत	गोमूत्र	सरसों का तेल
तुवरी का तेल	सीधु	जौ के सत्तू	

मन्दाग्नि हर

त्रिफला	पिप्पली	सौंफ	सोया

ज्योतिष्मती	भृंगराज	लशुन	प्याज
भिलावां	विजया	सेन्धानमक	कालानमक
सोहागा	चुक्र	तालीसपत्र	पोदीना
कच्चा बेल	अरणी	बृहती	सहिजन मीठा
सारिवा	अमर बेल	हिंगु पत्री	वंशपत्री
शंखपुष्पी	गुलाब	खजूर की नीरा	जम्बीरी नीबू
नीबू कागजी	इमली पकी कच्ची	स्थलकमल	लाल चावल
तिल	लोणी	खट्टा दही	अतिखट्टा दही
तक्र	इमली–बड़ा	धान के सत्तू	

विषमाग्नि हर

मरसा का शाक

तीक्ष्णाग्नि हर

केला	खीर	जौ के सत्तू

अजीर्ण हर

चतुर्बीज	पिप्पली	भृंगराज	चणकाम्ल
गुग्गुलु	जल पिप्पली	गुलाब	कांजी बड़ा काजी

अरुचि

पिप्पली	नेपाली धनिया	तेजबल	पुष्कर मूल
काकड़ा शृंगी ,	कायफल	अमलताश	वाकुची
लशुन	पोस्ता दाना	सोंचर नमक	चणकाम्ल
दालचीनी	तमालपत्र	सुगन्ध कोकिला	पाटला
बृहती	दशमूल	अर्कपुष्प	निम्ब
निम्बपत्र	निर्गुण्डी	मुण्डी	श्वेत अपामार्ग
सारिवा	हिंगुपत्री	वंशपत्री	सुर्वचला (हुरहुर)
मरुबक	वनतुलसी	खदिर	अमावट
सुपारी	बीजपूर नीबू	कागजी नीबू	मीठा नीबू
अम्लवेतस	पोय	लौकी	बिम्बफल
कोलशिम्बी	तक्र	हैयंगवीन	कांजी
धान्याम्ल			

वमन हर

हरीतकी	बिभीतक	आंवला	सोंठ
अजमोदा	जीरा	धनिया	सौंफ
सोया	काकड़ा शृंगी	मुलहठी	बाकुचीफल
अतिविषा	चुक्र	कस्तूरी	लालचन्दन
पद्माक्ष	जायफल	जावित्री	लवंग

इलायची बड़ी	कुंकुम	पाटला	वीरण
उशीर	सुगन्ध कोकिला	गिलोय	शालपर्णी
पृश्निपर्णी	वासा	निम्ब	महानिम्ब
तृजीय करंजी	पाठा	जवासा	अपामार्ग श्वेत
नागपुष्पी	किंकिरात	सिन्दुरी	शीशम
अमावट	आम्रबीज	छुहारा	खजूर
अम्लवेंतस	जम्बीरी नीबू	मीठा नीबू	मोठ
तक्र	शर्बत	बहुरी	लाजा

रक्तवमन हर

जवासा

आध्मान-अफारा हर

हरीतकी	आँवला	सोंठ	पिप्पली मूल
पंचकोल	अजवाइन	जीरा	चतुर्बीज
हींग	वच	चोपचीनी	विडङ्ग
स्वर्णक्षीरी	कबीला	मदनफल	भिलावां
यवक्षार	देवदारु	लवंग	दशमूल
एरण्ड	सेहुण्ड	शातला	श्वेत अपामार्ग
पंचक्षीरी	पंचवल्कल	कूट शाल्मली	अंगूर
छुहारा	खजूर	अम्लवेतस	कुलथी
गोजिह्वा (अरुई)	उष्ट्री का दूध	सौवीर	घृत
गोमूत्र	एरण्डतेल		

अतिसार हर

पिप्पली	गुड़–पिप्पली	गज पिप्पली	जीरा
चमसुर	इन्द्रयव	धाय के फूल	मजीठ
अतिविषा	लोध	राल	शालपर्णी
मुद्रपर्णी	कुटज	शतावरी	पाठा
सारिवा	हंसपदी	लज्जालु	मयूर शिखा
शल्लकी	शाखोट	आम के बौर	आम्रबीज
लाल चावल	साठी चावल	चांगेरी	छागी–दुग्ध
मृगी–दुग्ध	दही	स्वादु–अम्लदही	तक्र
तक्र–हींग जीरा नमक	गोमूत्र	लाजा	

प्रवाहिका हर

सेमर का गोंद

वातातिसार हर

प्रियंगु   जिंगिनी

पित्तातिसारहर

पाटला

रक्तातिसारहर

पृश्निपर्णी

मूत्रातिसारहर

बला	महाबला	अतिबला	नागबला

आमदोष हर

बाकुचीफल	अतिविषा	देवदारु	दालचीनी
तालीस पत्र	गिलोय	श्योनाक	अपराजिता
कुटज	अंकोट	इन्द्रायण	सारिवा
भृंगराज	अमर बेल	द्रोणपुष्पी	खदिर
सेमर का गोंद	बेल कच्चा	सोंठ	सूखे बेर
जम्बीरी नीबू	उदस्वित्	गोमूत्र	एरण्डतेल

आमातिसार हर

ह्रीबेर

पक्वातिसार हर

पटसन

ग्रहणी-संग्रहणी हर

हरीतकी	आंवला	चित्रक	हाऊबेर
भिलावां	यवक्षार	बिल्व कच्चा	मुद्रपर्णी
पोदीना	रोहिणी	महाशतावरी	दमनक
वृक्षाम्ल	चांगेरी		गोजिह्वा (अरबी)
सुरा			

उदावर्त हर

अमलतास	शातला	छोटा करञ्ज	अम्लवेतस
घृत	सौवीर (वियर)		

गुल्म हर

हरीतकी	आंवला	पिप्पली	त्रिकटु
पिप्पलीमूल	पञ्चकोल	षडूषण	अजवाइन
जीरा	हींग	हाऊबेर	भृंगराज
पाषाण भेद	कबीला	मदनफल	लशुन
भिलावां	यवक्षार	क्षाराष्टक	चुक्र
कचूर	प्रियंगु	तालीसपत्र	श्योनाक फल
एरण्डपत्र	अर्कपुष्प	अर्कदुग्ध	अर्क
एरण्ड फल	सेहुण्ड	सेहुण्ड दूध	निम्बपत्र
महानिम्ब	सहिजन	छोटा करञ्ज	शतावरी

पाठा	इन्द्रायण	सरफोंका	कुमारी
त्रायमाणा	हिंगुपत्री	वंशपत्री	मार्कण्डिका
देवदाली फल	पलाशफल	वरुण	सप्तपर्ण
पीलु फल	वृक्षाम्ल	डोडी	पलाश
घोटिका	सेहुण्ड पत्र शाक	सहिजन के फूल	सूरण कन्द
गोजिह्वा (अरबी)	तक्र	उष्ट्रीघृत	गोमूत्र
एरण्ड तेल	सुरा		

मलाशय बोषहर गोदुग्ध

कब्ज हर

चेतकी हरीतकी	हरीतकी–पेषिता	आंवला	सोंठ
अदरक	पिप्पली	सौंफ	सोया
वच	चोपचीनी	विडङ्ग	बाकुंची
लशुन	सांभर नमक	सोचर नमक	चणकाम्ल
चुक्र	देवदारु	प्रियंगु–फल	गम्भारी
एरण्ड फल	मीठा सहिजन	अंकोट	हिंगुपत्री
वंशपत्री	सुवर्चला	पंचक्षीरी	पंचवल्कल
रीठा	पुत्रजीव	कूटशाल्मली	जम्बीरी नीबू
गोमूत्र	एरण्डतेल	सीधु	बेढई
बड़ा	तक्र बड़ा	कढ़ी	कांजी

वातोदर हर

सोंठ | एरण्ड फल | एरण्ड तेल

पित्तोदरहर

अर्क

कफोदरहर | अर्क | एरण्ड फल

जलोदरहर | सोंठ | हाऊबेर

कुक्षिशूलहर

लशुन

हैजा-विषूचिका हर

पोदीना | नीबू

कृमि-विबन्धहर

हरीतकी	बिभीतक	आँवला	पिप्पली
काली मिर्च	पिप्पली मूल	चव्य	अजवाइन
धनिया	सौंफ	सोया	हींग
विडंग	नेपाली धनिया	नाकुली (सर्पाक्षी)	स्वर्णक्षीरी
कबीला	कुटकी	इन्द्रयव	
धाय के फूल	लाक्षा	बाकुची	चकबड़ का फल
अतिविषा	भिलावां	गुग्गुल	जायफल
जावित्री	दालचीनी	कुंकुम	नागरमोथा

कचूर	शुकबर्ह	सुगन्ध कोकिला	पोदीना
गिलोय	श्योनाक फल	शालपर्णी	कण्टकारी
लक्ष्मणा	लघु पञ्चमूल	दशमूल	जीवन्ती
जीवनीयगण	एरण्ड	नीम	

उदर कृमि हर

एरण्ड पत्र	एरण्ड पत्राग्र	अर्क	कलिहारी
कनेर	धतूर	निम्ब	निम्बपत्र
निम्ब फल	पारिभद्र	कचनार	कोविदार
सहिजन	निर्गुण्डी	निर्गुण्डीपत्र	छोटा करञ्ज
करंजपत्र	करञ्जफल	तृतीय करञ्जी	गुञ्जा
अंकोट	पाठा	दन्ती	मुण्डी
अस्थिसंहारी	भृङ्गराज		

कृमि हर

काकजंघा	नागपुष्पी	मेषशृंगी फल	शंखपुष्पी
अर्कपुष्पी	अलम्बुषा	दुग्धिका	द्रोणपुष्पी
सुवर्चला	देवदाली	देवदाली फल	छिक्कनी
मूसाकर्णी	चम्पा	बकुल	किंकिरात
अशोक	तिलक	बनतुलसी	शाल
शीशम	खदिर	इरिमेद	बबूल
पलाश	पलाशफल	वरुण	कटभी
शमी	सप्तपर्ण	तिनिश	जम्बीरी नीबू
कागजी नीबू	वृक्षाम्ल	कुलथी	तारामीरा
सरसों	राई	बथुआ	पमार
पटोल–पत्र	सहिजन के फूल	करेला	तरोई
परवल	गोजिह्वा (अरबी)	उष्ट्री–दुग्ध, घृत	तक्र
गोमूत्र	सरसों का तेल	तुवरी का तेल	तुषोदक
शुक्त	कांजी		

गुद कृमि हर

विजय सार

कामला हर

हरीतकी	आंवला	वंशलोचन	गिलोय
इन्द्रायण	द्रोणपुष्पी	मलयू (कठूमर)	अंगूर
गिलोयपत्र	गोमूत्र		

पाण्डु हर

पिप्पली	वंशलोचन	हल्दी	दारुहल्दी

बाकुचीफल	यवक्षार	गिलोय	अरणी
सेहुण्ड	मुण्डी	पुनर्नवा श्वेत	भृगराज
भूमि आंवला	ब्राह्मी	ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला
देवदाली	मलयू	सर्जक	खदिर
धव	तिंनिश	गिलोय पत्र शाक	करेला
गोजिह्वा			

यकृत्प्लीहा दोष हर

हरीतकी	आंवला	पिप्पलीमूल	पंचकोल
षड्रूषण	अजवाइन	नेपाली धनिया	पाषाण भेद
यवक्षार	एरण्डफल	अर्क	सेहुण्ड
सहिजन	श्वेत सहिजन	इन्द्रायण	नीली
सरफोका	मुण्डी	अम्लवेतस	

तृषा हर

बिभीतक	धनिया	वंशलोचन	काकडाशृङ्गी
अष्टवर्ग	मुलहठी	धाय के फूल	चुक्र
कपूर	चन्दन	लालचन्दन	हरिचन्दन
पद्माक्ष	जावित्री	लवङ्ग	इलायची बड़ी
दारुसिता	वीरण	नागरमोथा	प्रियङ्गु
रेणुका	शुकबर्ह	सुगन्ध कोकिला	गम्भारी
पाटला	पृश्निपर्णी	जीवनीयगण	वसा
पित्तपापड़ा	निम्ब	कुटज	गुञ्जा
मूंज	कुश	नीलदूर्वा	श्वेतदूर्वा
गण्डदूर्वा	जवासा	कोकिलाक्ष	मूर्वा
भूमिआंवला	वेल्लन्तर	कमल	नयाकमलपत्र
कमलकर्णिका	किंजल्क	शैवल	वनहुला
मल्लिका	माधवी	किंकिरात	अशोक
सिन्दुरी	पलाशपुष्प	अमावट	केला
त्रपुष	शालफल	कपित्थ	बेर
सूखे बेर	करौंदा	चिरौंजी	खिन्नी
महुआ का फल	मीठा अनार	अंगूर	बीजपूर नीबू
जम्बीरीनीबू	मीठा नीबू	वृक्षाम्ल	लाल चावल
जौ	पित्तपापड़ा	दही शक्कर	मस्तु
छाछ	तक्र	श्रीखण्ड	शर्बत
जौ के सत्तू	लाजा		

मुखशोष हर

गुंजा	ककुन्दमूल	किलाट	पीयूष
क्षीर शाक	तक्रपिण्ड		

दाह हर

धनिया	जीवक	ऋषभक	काकोली
क्षीर काकोली	अष्टवर्ग	कुटकी	कपूर
चन्दन	पतंग	सरल	पद्माक्ष
शिलाजतु	वीरण	जटामांसी	छरीला
प्रियंगु	रेणुका	शुकबर्ह	ग्रन्थिपर्ण
लामज्जक	एलुआ	गिलोय	गम्भारी
पृश्निपर्णी	जीवन्ती	जीवनीयगण	पित्तपापड़ा
वेतस	मूंज	कास	एरक
नीलदूर्वा	श्वेतदूर्वा	गण्डदूर्वा	विदारीकन्द
बाराही कन्द	पाठा	श्यामा निशोथ	नीली
महाजालिनी	हंसपदी	जलपिप्पली	कमल
नया कमलपत्र	किञ्जल्वा	मृणाल	कमलकन्द
शैवाल	वनहुला	मल्लिका	किंकिरात
अशोक	वट	पाकड़	शीशम
तमाल	पलाशपुष्प	सेमर का गोंद	तिनिश
आम्रबीज	आमड़ा	कच्चा पनस	केला
त्रपुष	शालफल	जामुन	बेर
कमलगट्टा	मखाना	सिंघाड़ा	महुआ का फल
फालसा	मीठा अनार	अंगूर	सुलेमानी खजूर
लाल चावल	कुलथी	गिलोय पत्र	केलाकन्द
कसेरु	कमलकन्द	गोदुग्ध	पीयूष
किलाट	क्षीर शाक	तक्रपिण्ड	माहिष नवनीत
घोड़ी का घृत	दुग्ध घृत	कांजी	कांजी बड़ा
श्रीखण्ड	शर्बत	जौ का सत्तू	लाजा

शूल हर

हरीतकी	आंवला	सोंठ	कालीमिर्च
पञ्चकोल	षडूषण	सौंफ	सोया
चतुर्बीज	वचा	हींग	चोपचीनी
हाऊबेर	विडङ्ग	नेपाली धनिया	पाषाण भेद
अमलताश	चणकाम्ल	यवक्षार	क्षाराष्टक
चुक्र	तगर	लवङ्ग	कपूर कचरी

बृहती	एरण्डपत्राग्र	एरण्ड फल	सेहुण्ड
कलिहारी	सहिजन छाल	सहिजन पत्राग्र	सेहुण्ड
अंकोट	कत्तुण	पाठा	दन्ती
अपामार्ग श्वेत	त्रायमाणा	नागपुष्पी	देवदाली–फल
स्थलकमल	बेल कच्चा	बबूल	कूट शाल्मली
जम्बीरी नीबू	नीबू	अजवाइन पत्रशाक	सेहुण्ड पत्रशाक
तक्र	घृत	गोमूत्र	तुषोदक
वारुणी	कांजी बड़ा	कांजी	

कफजशूल हर

इन्द्रयव

हृदयशूल हर

जम्बीरी नीबू

आमशूल हर

राल — गम्भारी

पक्ति शूल हर

उरद — बेढई

शिरः शूल

एरण्ड — स्वर्णवल्ली — मुचुकन्द

पृष्ठ शूल हर

एरण्ड तेल

कटिशूल हर

चतुर्बीज — एरण्ड

वातशूलहर — रास्ना

अस्थिशूल — सौवीर

शुक्र शूल हर

अजवाइन — एरण्ड तेल

बस्ति शूल हर — हींग, जीरा,नमक, तक्र

गुह्यशूल हर — एरण्ड तेल

योनिशूल हर

सौंफ — सोया — मजीठ

कर्णशूल हर

कपास पत्र

कुक्षिशूल हर

लशुन

पार्श्वशूल हर

चतुर्बीज — पुष्करमूल — कण्टकारी — दशमूल

तुलसी

हिचकी हर

हरीतकी आंवला अजमोदा चमसुर
काकड़ा शृंगी लाक्षा देवदारु लवंग
पाटला मकोय देवदाली कपित्थ पका
मधुकर्कटी अम्लवेतस कुलथी

यूका-लिक्षा हर

गन्ध विरोजा धतूर

वातरोग हर

मेथी चमसुर चतुर्बीज वचा
बालवचा चोपचीनी हाऊबेर पान का पकौड़ा
जीवक ऋषभक रास्ना तेजबल
भृंगराज काकोली क्षीर काकोली अमलतास
ऊषर नमक गुग्गुलु दालचीनी शीतल चीनी
गिलोय गोखरु माषपर्णी जीवनीयगण
एरण्ड एरण्ड फल (बीज) एरण्ड पत्र आकार करभ
अर्क केवाच केवाच के बीज अस्थिसंहारी
पुनर्नवाश्वेत प्रसारिणी हिंगुपत्री वेल्लन्तर
वंशपत्री छिक्कनी बर्बरी सुदर्शन
बन्धूक वृक्षपक्व आम आमखण्ड कोशम्भ का फल
नारियल ताड़ी नारङ्गी बैंगन
फालसा छुहारा खजूर कागजी नीबू
अम्लवेतस अतसी कंचट कूष्माण्ड सफेद
घिया तरोई वराहीकन्द मेषी दुग्ध मेषीघृत
तक्र अम्ल अम्लतक्र, नमक, सोंठ तक्र,हींग,जीरा,नमक दुग्ध घृत
गोमूत्र सरसों का तेल खश का तेल धान्याम्ल
खीर नारियल की खीर बड़ा

आमवात

पिप्पली मेथी चमसुर चतुर्बीज
यवक्षार चुक्र गुग्गुलु एरण्ड तेल
निर्गुण्डी नीली विधारा कोकिलाक्ष
करीर वरुण खट्टा अनार एरण्डतेल

वातरक्त

रास्ना कूठ मेदा महामेदा
इन्द्रयव वनहल्दी गिलोय गम्भारी
बला अतिबला महाबला नागबला
नीली प्रसारिणी बान्दा छिक्कनी
चम्पा वनतुलसी वरुण अंगूर

माहिष घृत	एरण्ड तेल	अश्वत्थ	

वातशूल

रास्ना

कटिवात (कटिग्रह)

एरण्ड	एरण्डतेल

हनुस्तम्भ

अलीकमत्स्य (पान का पकौड़ा)

ऊर्ध्ववात

काकड़ाशृंगी	मेदा	महामेदा

ऊरुस्तम्भ

जौ	नवनीत

पित्तजरोग हर

मेदा	महामेदा	निम्बपत्र	पारिभद्रपुष्प
केवाच	श्वेत निशोथ	मत्स्याक्षी	अर्कपुष्पी
मयूर शिखा	कमल कर्णिका	बन्धूक	आम (पाल का पका)
कोमल नारियल	शालफल	तिन्दुक	छुहारा
खजूर	कागजी नीबू	तक्र शर्करा	दुग्ध घृत

रक्तपित्त हर

आंवला	वंशलोचन	काकोली	क्षीर काकोली
ऋद्धि	वृद्धि	अष्टवर्ग	अमलतास
कुसुम्भ	बाकुची	लोध्र	लताकस्तूरी
चन्दन	लाल चन्दन	हरिचन्दन	पद्माक्ष
लवंग	इलायची बड़ी	लामज्जक	सुगन्ध कोकिला
कुन्नट	गम्भारी	जीवनीयगण	अर्क पुष्प
केवांच	रोहिणी	बला	अतिबला
महाबला	नागबला	गुन्द्र	एरक
कत्तृण	विदारीकन्द	बाराहीकन्द	शतावरी
अपामार्ग लाल	पुनर्नवा लाल	मूर्वा	लज्जालु
भूमि आंवला	सुवर्चला	कुमुद	नया कमलपत्र
मुचुकुन्द	सिन्दुरी	पाकड़	शल्लकी
विजयसार	खदिर	तुणी	भोजपत्र
पलाशपुष्प	सेमर	सेमर का गोंद	धामन
शाखोट	तिनिश	भूमिसह	कोशम्भ
पनस	केला	नारियल	नारियल का जल
कमलगट्टा	मखाना	सिंघाड़ा	अंगूर

छुहारा	खजूर	सुलेमानी खजूर	बीजपूर नीबू
मधुकर्कटी	मीठा नीबू	कचौड़ी	श्रीखण्ड
मसूर	चना	क्षुद्रधान्य	कुसुम्भबीज
पोय	मरषा	कंचट	पालक
नाड़ी शाक	पटुआ	पित्तपापड़ा	केला का फूल
सहिजन का फूल	सेमर का फूल	कूष्माण्ड सफेद	कूष्माण्ड पीला
घिया तरोई	बिम्बफल	आलू	गाजर
मानकन्द	कसेरु	कमलकन्द	गोदुग्ध
छागी दुग्ध	मृगी दुग्ध	पीयूष	कीलाट
क्षीरशाक	तक्रपिण्ड	सन्तानिका	स्वादु दधि
दही शक्कर	दूध का मक्खन	माहिष घृत	मेषी घृत
खीर	नारियल की खीर		

पित्तोदरहर

हाऊवेर

कफरोग हर

पिप्पली मूल	चव्य	अजमोदा	चमसुर
बाकुची	शीतलचीनी	सुगन्धकोकिला	गन्धमालती
गन्धकोकिला	पोदीना	केवांच	श्वेत निशोथ
लघुदन्ती	मत्स्याक्षी	द्रोणपुष्पी	सुर्वचला
बर्बरी	मूसाकर्णी	मयूरशिखा	कमलकर्णिका
केतकी	कुन्द	खदिर	श्वेतखदिर
कूट शाल्मली	तिन्दुक	खट्टा अनार	जम्बीरी नीबू
कागजी नीबू	अम्लवेतस	कुसुम्भबीज	पालक
शकरकन्द	वाराहीकन्द	त्रिकटु+तक्र	सरसों का तेल
खशतेल	सीधु	जौ की रोटी	

कफवृद्धि हर

जम्बीरी नीबू

कफोदरहर

एरण्ड फल — अर्क

प्रतिश्याय हर

मदनफल	आकल्लक	अगस्त्य	दही	नीबू
स्वादु–अम्ल दही	श्रीखण्ड			

शोथ हर

हल्दी	दारुहल्दी	कस्तूरी	चन्दन
जायफल	नटी	गिलोय	शालपर्णी
जीवनीयगण	चिल्लक	शैवाल	किंकिरात

शिरीष	अंगूर	मीठा नीबू	उष्ट्री दुग्ध
उष्ट्री घृत	सीधु		

क्षय हर

वंशलोचन	जीवक	ऋषभक	ऋद्धि
वृद्धि	अष्टवर्ग	मुलहठी	गन्धविरोजा
लवंग	तालीसपत्र	गम्भारी	वासा
कोविदार	शतावरी अंकुर	अश्वगन्धा	देवदाली
बेर	खिन्नी	महुआ का फल	फालसा
छुहारा	खजूर	मधुकर्कटी	अगस्त के फूल
छागी दुग्ध	मृगी दुग्ध	पके दुग्ध का दही	
घृत	छागी घृत		

रक्त क्षय हर

नवनीत

रक्ताल्पता हर

जीवक	ऋषभक	सैरेयक	कृशरा
धनिया	जीवक	ऋषभक	अष्टवर्ग
गाजर	पालक	चुकन्दर	

वार्धक्य हर

गोदुग्ध	त्रिफलामधु घृत	ग्लानि हर	मुलहठी

थकावट हर

चन्दन	निम्ब	त्रपुष	सूखे बेर
सुलेमानी	खजूर	छाछ	माहिष नवनीत
जौ के सत्तू	राब		

पादपीड़ा

पीलु

अंगमर्द

सौवीर

स्वेद हर

सरल	राल	कुन्दुरु	गन्धामार्जार का वीर्य
शिलाजतु	प्रियंगु	ग्रन्थिपर्ण	एलुआ
दमनक	शाल	खदिर	खेदगन्ध

दुर्गन्धि हर

कपूर	कस्तूरी	गन्धविरोजा	जायफल
नागकेसर	दालचीनी	इलायची	तमालपत्र
व्याघ्रनख	कपूरकचरी	प्रियङ्गु	
गठिवन	शुकबर्ह	ग्रन्थिपर्ण	शीतल चीनी
मार्कण्डिका			

बस्ति रोग हर

अजमोदा लताकस्तूरी इलायची बड़ी दालचीनी
एरण्ड एरण्डपत्राग्र कुश हिंगपुत्री
वंशपत्री तिलक शीशम मस्तु (तोड़)
हींग, जीरा, नमक युक्ततक्र गोमूत्र

बस्तिशूल हर

एरण्ड पत्राग्र तक्र हींग, जीरा, नमक,

वृषण पीड़ा हर

कुन्दरू

पथरी हर

हरीतकी आंवला पाषाणभेद कबीला
गुग्गुल छरीला नटी गोखरु
लघु पंचमूल सेहुण्ड धतूर वासा
निम्ब कास एरक कुश
दन्ती कोकिलाक्ष वेल्लन्तर स्थल कमल
लवली कुलथी टिण्डा मेषी दुग्ध
मेषी घृत पित्तपापड़ा वेतस

मूत्रकृच्छ्र हर

हरीतकी आंवला नेपाली धनिया पाषाण भेद
कुसुम्भ वीरण इलायची बड़ी लामज्जक
नटी गिलोय गोखरु वेतस
बला अतिबला महाबला नागबला
मूंज कास गुन्द्र एरक
कुश नागदमनी नया कमलपत्र स्थल कमल
चम्पा तुलसी पलाशपुष्प वरुण
खरबूजा त्रपुस अंगूर पत्तागोभी
दही स्वाद्वम्ल दही तक्र तक्र–गुड
गोमूत्र सुरा

वातजमूत्र कृच्छ्र हर

वंशलोचन

मूत्राघात हर

हरीतकी आंवला वेल्लन्तर तक्र

मूत्रशोधक

वचा चोपचीनी

मूत्र रोग हर

गम्भारी अपराजिता वटपत्री वेल्लन्तर

मूसाकर्णी

बहुमूत्र हर

तिल	तिलकुट	वंशयव	

गुदारोग हर

पिप्पली मूल	चव्य	सहिजन	मुशली
मुण्डी	पलाश	गोमूत्र	नरमूत्र
गुदभ्रंश	कचनार	कोविदार	

गुदांकुर हर

दन्ती

बद्ध गुद हर

कागजी नीबू

गुदकील हर

उरद	बेढई	भगन्दर	तक्र

गर्भाशयशोधन

जीरा	स्रोत शोधन	मस्तु	तक्र

योनिदोष हर

छोटा करञ्ज	वेतस	मुण्डी	नागपुष्पी
वटपुष्पी	लज्जालु	सुर्वचा	वेल्लन्तर
वनहुला	मल्लिका	वट	अश्वत्थ
पाकड़	पञ्चवल्कल	पञ्चक्षीरी	शाल जिंगिनी
मेषी घृत	एरण्डतेल		

प्रदर (श्वेत) हर

कुश	सारिवा	राई का फूल	शण पुष्प
शल्मली – पुष्प			

रक्तप्रदर हर

कोविदार	आम का बौर		

गर्भस्राव रोधक

गोरोचन	इन्द्रायण	गर्भपातन	

मूढगर्भ हर

धातुदोष हर

गोदुग्ध	कलिहारी		

प्रमेह हर

हरीतकी	आंवला	त्रिफला	पिप्पली
त्रिकटु	कायफल	पाषाणभेद	अष्टवर्ग
कबीला	कुटकी	मजीठ	हल्दी
दारुहल्दी	बाकुची	देवदारु	गुग्गुल
प्रियंगु	गिलोय	गोखरु	सेहुण्ड

वासा निम्ब त्रिफला

प्रमेह मधुमेह हर

महानिम्ब करञ्जपत्र करञ्जफल तृतीय करञ्जी
इन्द्रायण विधारा मूर्वा मकोय मेथी
बला* अतिबला* महाबला* नागबला*
मेषश्रृंगीफल अर्कपुष्पी ब्राह्मी ब्रह्ममण्डूकी
सुवर्चला गोजिह्वा सर्जक अर्जुन
विजयसार खदिर फल–पलाश धव
कटभी तिनिश आम का बौर केला
तिन्दुक घोटिका शितिवार द्रोणपुष्पी
गोभीपत्ता गिलोय पत्र करेला गिलोय
बाराहीकन्द केम्बुक तक्र तेल
बहुरी लाजा कुन्दरु

मूत्ररोग

गम्भारी अपराजिता वटपत्री वेल्लन्तर
मूसाकर्णी तिल तिलकुट वशयव
करेला

शीघ्रपतन हर

चिल्लक

फिरंगरोग हर

चोपचीनी

अष्ठीला हर

सेहुण्ड सेहुण्डपत्रशाक एरण्डतेल

सिध्महर

रास्ना कपूर कचरी विद्रधि मदनफल
सहिजन सफेद सहिजन सहिजन के फूल शाल
एरण्डतेल गोमूत्र

विसर्प हर

कूठ इन्द्रयव धाय के फूल मजीठ
लाक्षा पद्माक्ष राल नागकेसर
ह्रीवेर वीरण जटामांसी कुन्नट
टंकारी वेतस मुंज नील दूर्वा
श्वेत दूर्वा जवासा हंसपदी बन्ध्याककोटकी
कमल वट शिरीष पंचक्षीरी
पञ्चवल्कल लिसोढा विजयसार घृत

*अनुपान दुग्ध

व्यंग्य हर

लाक्षा	हरिचन्दन	कुंकुम	

हृल्लास हर

इलायची बड़ी	तमालपत्र	ह्रीवेर	छरीला –
निम्ब	महानिम्ब	खेखसी	

ब्रध्न हर

एरण्ड	एरण्डतेल	शालपत्रशाक

उरःक्षत हर

लाक्षा

हृदय रोग हर

हरीतकी	आंवला	सोंठ	कुलिञ्जन
समुद्रफेन	पाषाणभेद	अमलताश	लशुन
यवक्षार	चुक्र	जायफल	दालचीनी
ह्रीवेर	शीतलचीनी	सुगन्धकोकिला	गिलोय
पाटला	कण्टकारी	लक्ष्मणा	गोखरू
कत्तृण	पाठा	अपामार्ग श्वेत	त्रायमाणा
मूर्वा	मकोय	हिंगुपत्री	वंशपत्री
जिंगिनी	धामन	आम्रबीज	मीठा अनार
बीजपूर	अम्लवेतस	वृक्षाम्ल	कूष्माण्डश्वेत
कड़वी लौकी	शकरकन्द	एरण्डतेल	

नेत्ररोग हर

अभया	अजमोदा	सौंफ	सोया	गाजर
नेपाली धनिया	मजीठ	दारुहल्दी	रसांजन	चुकन्दर
सेंधानमक	पतंग	सरल	तगर	
गन्धविरोजा	पौण्डरीक	कनेर	गुंजा	
मूंज	कास	महाशतावरी	मकोय	
वेला	चमेली	जूही	केतकी	
नारी दुग्ध	जौ के सत्तू	सेहुण्ड का दूध		
अस्थिसंहारी	भृंगराज	अमर बेल	केला	
तरबूज	मूंगा	घोटिका	छोटी मूली	
कसेरु	बडवाघृत	गोमूत्र		
नेत्रपीड़ा हर	नेत्रशूल–अभिघात	नारी दुग्ध		
अन्धापनहर	शीतल चीनी			
कोकिलाक्ष	रतौंधी	अगस्त के फूल		

नासिका रोग हर

छोटी मूली	मेष शृंगी	तिमिर	पुराण घृत

कर्ण शूल नाद एवं पूय हर

कपास पत्र

बाधिर्य आदि हर

शाल

कर्णरोग हर

नेपाली धनिया	समुद्रफेन	मजीठ	दारुहल्दी
पतंग	सरल	पारिभद्र पुष्प	कपास पत्र
वेला	शाल	सर्जक	भोजपत्र

पीनस

सरसों का तेल	गोमूत्र (बाह्यप्रयोग)	त्रिकटु	
भृंगराज	देवदारु	जायफल	दालचीनी
तमालपत्र	कण्टकारी	लक्ष्मणा	जौ
कुलथी	अगस्त के फूल	वारुणी	कटी

मुखरोग हर

तेजबल	दारुहल्दी	लताकस्तूरी	कुन्दुरू
इलायची बड़ी	वेला	जूही	तिलक
खदिर	गोमूत्र		

मुखशोष हर

गुञ्जा	मुखविरसता	जम्बीरी नीबू	चुक्र
कपूर	जायफल	बृहती	सुपारी
जिह्वादोष	बीजपूर नीबू		

मुखदुर्गन्धि हर

ताम्बूल	कपूर	कस्तूरी	गन्धविरोजा
जायफल	नागकेसर	चतुजातक	व्याघ्र नख
कपूर कचरी	प्रियंगु	गठिवन	शुक्रबर्ह
ग्रन्थिपण	शीतल चीनी	मार्कण्डिका	

ओष्ठरोग

नेपाली धनियां

दन्त्यरोग हर

जूही	बकुल	तिलक	तिल
चनापत्र शाक			

शिरोरोग हर

नेपाली धनिया	गन्धविरोजा	इलायची बड़ी	कुंकुम
दशमूल	भृंगराज	चमेली	जूही
कुन्द	नारीदुग्ध	सरसों का तेल	सहिजन के बीज नस्य

कण्ठरोग हर

हरीतकी	आवला	गजपिप्पली	कुलिञ्जन
यवक्षार	सरल	कत्तृण	मीठा अनार
नीबू मीठा एवं बीजपूर	जौ	कसौदी	छोटी मूली शाक

वैस्वर्य हर

हरीतकी	बिभीतक	आंवला	त्रिफला
गन्धविरोजा	कण्ठबद्धता	कपित्थ (पका)	

जीर्णरोग हर

पिप्पली	गुडपिप्पली	लशुन	पोदीना
सेहुण्ड का दूध			

सर्वरोगहर

गौ का दूध	बकरी का दूध	मृगी का दूध	मेषी–घृत

तन्द्रा हर

देवदारु	लामज्जक	दशमूल

अपस्मार हर

वचा	चोपचीनी	तगर	मुण्डी
शंखपुष्पी	पुराण घृत		

मूर्च्छा हर

ऋद्धि	वृद्धि	सरल	श्यामानिशोथ
नीली	खिरनी	अंगूर	छुहारा
खजूर	सुलेमानी खजूर	शितिवार	दुग्ध–घृत
पुराणघृत	शर्बत	मदात्यय	

मद हर

वीरण	पोदीना	श्यामानिशोथ	नीली
जवासा	दुग्ध घृत		

उन्माद हर

वचा	चोपचीनी	गोरोचन	उशीर
सेहुण्ड	गुञ्जा	खिरनी	छुहारा
खजूर	पालक	घृत	पुराणघृत

भ्रमहर

पित्तपापड़ा	महानिम्ब	गुञ्जा	त्रायमाणा
श्यामानिशोथ	नीली	जवासा	मधु कर्कटी
शमी	खिरनी	खजूरसुलेमानी	दुग्ध–घृत
शितिवार	पित्तपापड़ा पत्रशाक		

मानस रोग हर

शंखपुष्पी

रक्तदोष हर

चमसुर	पटसन	स्वर्णक्षीरी	भृंगराज
पाषाणभेद	अष्टवर्ग	कबीला	कुटकी
इन्द्रयव	धाय के फूल	मजीठ	लाक्षा
हल्दी	दारुहल्दी	लोध्र	पतंग
देवदारु	राल	इलायची बड़ी	गोरोचन
व्याघ्रनख	वीरण	जटामांसी	छरीला
नागरमोथा	शालपर्णी	शुकबर्ह	ग्रन्थिपर्ण
लामज्जक	सुगन्धकोकिला	कुन्नट	एलुवा
पनडी	नटी	गम्भारी	माषपर्णी
शातला	बांसा	नल	मूंज
कास	कुश	नीलदूर्वा	गण्डदूर्वा
दन्ती	सरफोंका	जवासा	अपामार्ग लाल
कोकिलाक्ष	सारिवा	काकजंघा	हंसपदी
मत्स्याक्षी	ब्राह्मी	ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला
जलपिप्पली	गोजिह्वा	ककुन्दर	सुदर्शन
कमल	कमलकर्णिका	मृणाल	कमलकन्द
शैवल	गुलाब	वासन्ती	वनहुला
मल्लिका	किंकिरात	कनेरपुष्प	अशोक
तुलसी	दमनक	वनतुलसी	अश्वत्थ
वेलिया	गूलर	पाकड़	पंचक्षीरी
प्रंचवल्कल	शीशम	अर्जुन	श्वेतखदिर
रोहितक	कूटशाल्मली	सप्तपर्ण	आमड़ा
शालफल	तिन्दुक	जामुन	बेर
खिरनी	महुआ का फल	फालसा	लाल चावल
जौ	अरहर		राई का फूल
शणपुष्प	बथुआ	चौराई	गोभी पत्ता
गिलोयपत्र	कसौदी	परवल	केम्बुक
दुग्ध घृत	स्वमूत्र	नरमूत्र	तुवरी तेल
लाजा	गाढ़ी राब		

विषदोष हर

षडूषण	समुद्रफेन	रास्ना	स्वर्णक्षीरी
मुलहठी	कबीला	धाय के फूल	मजीठ
रसाञ्जन	अतिविषा	कपूर	कस्तूरी
चन्दन	लालचन्दन	हरिचन्दन	तगर

जावित्री	इलायची बड़ी	नागकेसर	दालचीनी
तमाल पत्र	चतुर्जातक	गोरोचन	प्रियंगु
छरीला	रेणुका	गठिवन	सुगन्धकोकिला
कुन्नट	एलुवा	पनड़ी	गम्भारी
शालपर्णी	अर्क	सेहुण्ड	धतूर
सहिजन	सहिजन के बीज	निचुल	अंकोट
इन्द्रायण	सरफोंका	कुमारी	सारिवा
त्रायमाणा	काकजंघा	नागपुष्पी	मेषशृंगीफल
हंसपदी	बांदा	सर्पाक्षी	शंखपुष्पी
ब्राह्मी	ब्रह्ममण्डूकी	देवदाली	नागदमनी
कमल	किञ्जल्क	स्थलकमल	जूही
चम्पा	बकुल	वनहुला	मल्लिका
अशोक	सैरेयक	कुन्द	मुचुकुन्द
सिन्दुरी	दमनक	वनतुलसी	वेलिया
शिरीष	पंचक्षीरी	पञ्चवल्कल	सर्जक
अर्जुन	इरिमेद	बबूल	इंगुद
भोजपत्र	कूटशाल्मली	कटभी	जलसिरस
शालफल	चिरौंजी	लिसोढ़ा	मीठा नीबू
लाल चावल	भटवास	तारामीरा	चौराई
लोणी	कसौदी	कड़वी लौकी	पिण्डार
डोंडी	घृत	उष्ट्रीघृत	बडवाघृत
पुराण घृत	तुवरी तेल	गुड़	

सर्पविष हर

नाकुली	सर्पाक्षी	वन्धया कर्कोटकी

बिच्छू आदि का विष हर

अपामार्ग — मरुवक

मूषिकाविष हर

महानिम्ब

मकड़ी आदि का विष

सेहुण्ड — हंसपदी

दग्ध हर

राल — घृतकुमारी

भग्नसन्धानकर

अष्टवर्ग	लशुन	गुग्गलु	अस्थिसंहार

अस्थिभंगहर

राल — अस्थिसंहारी

क्षत हर

ऋद्धि	वृद्धि	गोरोचन	गम्भारी

शालपर्णी	जीवन्ती	बला	अतिबला
महाबला	नागबला	कास	भूमि आंवला
अर्जुन	आमड़ा	पनस	केला
शालफल	महुआ–फल	छुहारा	खजूर

व्रण हर

हरीतकी	आंवला	सौंफ	सोया
वंशलोचन	सर्पाक्षी	पाषाणभेद	मुलहठी
कबीला	मदनफल	मजीठ	लाक्षा
हल्दी	दारुहल्दी	रसाञ्जन	भिलावा
लाल चन्दन	पतंग	सरल	पद्माक्ष
गुग्गुलु	गन्धविरोजा	राल	कुंकुम
व्याघ्रनख	वीरण	कचूर	कपूरकचरी
ग्रन्थिपर्ण	सुगन्धकोकिला	पनड़ी	अर्क
सेहुण्ड	कलिहारी	कनेर	धतूर
नीम	कचनार	कोविदार	सहिजन
श्वेत सहिजन	अपराजिता	निर्गुण्डी	छोटा करञ्ज
गुञ्जा	रोहिणी	बांस	श्वेत दूर्वा
पाठा	इन्द्रायण	सरसों का तेल	पुनर्नवा श्वेत
मेषश्रृंगीफल	हंसपदी	बांदा	जलपिप्पली
पाकड़	घोटिका	मेषश्रृंगी	भूमिआंवला
बन्धाकर्कोटकी	देवदाली फल	नागदमनी	वट
अश्वत्थ	गूलर	मलयू	शिरीष
पञ्चक्षीरी	पञ्चवल्कल	शाल	सर्जक
शल्लकी	शीशम	इंगुद	जिंगिनी
अर्जुन	खदिर	धामन	करीर
तुणी	पलाश	कोशम्भ	पनस
सप्तपर्ण	तिनिश	गेहूं	तिल
लिसोढ़ा	लाल चावल	तेल	तुवरी तेल
सरसों का नाल	घृत		
जौ के सत्तू			

विषव्रण हर

पनड़ी	इरिमेद	नासूर	कटभी

चर्मरोग हर

त्रिकटु	हल्दी	दारुहल्दी	लामज्जक

नीलदूर्वा जौ अलसी का तेल

पीले लाल चर्मरोग हर

घृतकुमारी

खुजली हर

पटसन	स्वर्णक्षीरी	कायफल	आमाहल्दी
चीनियाकपूर	गन्धामार्जार का वीर्य	देवदारु	गन्धविरोजा
इलायची बड़ी	दालचीनी	छरीला	रेणुका
गठिवन	ग्रन्थिपर्ण	सुगन्धकोकिला	कुन्नट
एलुवा	पनड़ी	नटी	कण्टकारी
लक्ष्मण	अर्क	कनेर	धतूर
कत्तृण	गुञ्जा	पाठा	दन्ती
मूर्वा	काकजंघा	सैरेयक	दमनक
वनतुलसी	खदिर	इरिमेद	तारामीरा
सरसों	राई	पमार	नालशाक
सरसों का नाल	सरसों का तेल	तुवरी का तेल	गोमूत्र

कालापन निवारक

जायफल

कालेमस्से हर

शुकबर्ह

कुष्ठ हर

हरीतकी	आंवला	त्रिफला	पिप्पली
चित्रक	नेपाली धनिया	वंशलोचन	कूठ
स्वर्णक्षीरी	कुटकी	इन्द्रजौ	मदनफल
मजीठ	लाक्षा	वनहल्दी	बाकुची
चकबड़	भिलावा	चीनियाकपूर	गन्धमार्जार का वीर्य
पद्माक्ष	गुग्गुलु	कुन्दरू	शिलाजतु
नागकेसर	व्याघ्रनख	जटामांसी	छरीला
कचूर	शालपर्णी	कपूर कचरी	शुकबर्ह
ग्रन्थिपर्ण	सुगन्धकोकिला	कुन्नट	एलुवा
पनड़ी	नटी	बृहती	एरण्ड
अर्क	अर्कपुष्प	अर्कदुग्ध	सेहुण्ड
सेहुण्ड का दूध	भृंगराज	कलिहारी	कनेर
धतूर	वासा	निम्ब	निम्बपत्र
निम्बफल	महानिम्ब	पारिभद्र	कचनार
कोविदार	अपराजिता	निर्गुण्डी	कुटज
छोटा करञ्ज	करञ्जपत्र	जलवेतस	इज्जल

बांस	गण्डदूर्वा	पाठा	दन्ती
इन्द्रायण	जवासा	मुण्डी	महाजालनी
मूर्वा	मकोय	काकनासा	काकजंघा
मेषशृंगी का फल	मत्स्याक्षी	शंखपुष्पी	ब्राह्मी
ब्रह्ममण्डूकी	सुवर्चला	मार्कण्डिका	छिक्कनी
वनहुला	मल्लिका	कनेर	सेरेयक
तिलक	तुलसी	दमनक	मलय (कठूमर)
सर्जक	शीशम	विजयसार	खदिर
इरिमेद	बबूल	इंगुद	तुणी
पलाशपुष्प	पलाशफल	कटभी	जलसिरस
शमी	सप्तपर्ण	तिनिश	कोशम्भ
लिसोढ़ा	तारामीरा	सरसों	राई
चांगेरी	सुर्वचला	शितिवार	पमार
पत्तागोभी	गिलोय पत्रशाक	खखसी	बाराहीकन्द
केम्बुक	उष्ट्री दुग्ध	उष्ट्रीघृत	पुराणघृत
तक्र	गोमूत्र	सरसों का तेल	तुवरी का तेल

दुर्नामकुष्ठहर

कुष्ठ (कूठ)	करीर

प्रसुप्तकुष्ठहर

गुञ्जा

दद्रुहर

चकबड़	पमार

विपादिका हर

राल	शलीपद	सोंठ	त्रिकटु
मुण्डी	ग्रन्थिशोथ	गुग्गुल	इन्द्रायण
कुमारी			

गण्डमाला हर

गुग्गुलु	कचनार	कोविदार	सहिजन

गलगण्ड हर

मुण्डी	इन्द्रायण

मोटापा हर

त्रिकटु	भिलावा	कपूर	गुग्गुलु
ग्रन्थिपर्ण	कण्टकारी	लक्ष्मणा	सेहुण्ड

कनेर	पारिभद्र	सहिजन	जवासा
मुण्डी	अपामार्ग श्वेत	पंचक्षीरी	पञ्चवल्कल
शीशम	अर्जुन	खदिर	भोजपत्र
कूटशाल्मली	तिनिश	जौ	कुलथी
कुसुम्भबीज	बैंगन	तक्र	सीधु
लाजा	शहद	नीबू	

बुद्धि दौर्बल्य हर

ज्योतिष्मती	नीली	ब्राह्मी

वाग्दोष हर

घोटिका

महर्षि चरक के अनुसार कुछ विशिष्ट रोगों पर प्राकृतिक द्रव्यों के प्रयोग

बृंहणीय द्रव्य[1]

क्षीरिणी	दुग्धिका	बला	काकोली
क्षीरकाकोली	श्वेतबला	पीतबला	बनकपास
विदारी कन्द	विधारा		

कण्ठ्य (स्वर्य)[2]

सारिवा	ईख की जड़	मुलेठी	पिप्पली
मुनक्का	विदारीकन्द	कायफल	हंसपदी
बड़ी कटेली	छोटी कटेली		

हृद्य द्रव्य[3]

आम	आमड़ा	बड़हर	करौंदा
वृक्षाम्ल	अम्लवेतस	बड़ा बेर	बेर (बदर)
अनार	मातुलुङ्ग.		

---

१. चरक सू० ४/६ (२)
२. चरक सू० ४/६ (६)
३. चरक सू० ४/६ (१०)

आरोचक[1]

सोंठ	चित्रक	चव्य	वायविडङ्ग
मूर्वा	गिलोय	वच	नागरमोथ
पिप्पली	परवल		

अर्शहर द्रव्य[2]

कुटज	बेल	चित्रक	सोंठ
अतीस	हरीतकी	धमासा	दारुहल्दी
वचा	चव्य		

कुष्ठहर द्रव्य[3]

खदिर	अभया–हरीतकी	आंवला	हल्दी
भिलावां	सप्तपर्ण	अमलतास	कनेर
वायविडंग	चमेली की पत्ती		

खुजलीहर द्रव्य[4]

सफेद चन्दन	जटामांसी	बालछड़	अमलतास
लता करंज	नीम	कुटज	सरसों
मुलहठी	दारुहल्दी	नागरमोथा	

कृमिहर द्रव्य[5]

सहजन	काली मिर्च	गण्डीर (स्नुही)	केबुक
वायविडङ्ग	निर्गुण्डी (सम्हालू)	अपामार्ग	गोखरु
वृषपर्णी	आखुपर्णी		

स्तन्य द्रव्य[6]

खश	शालि चावल	साठी के चावल	इक्षुबालिका
दर्भ	कुश	कास	गुन्द्र (जलजदर्भ)
इत्कट (शरकण्ठा)	कत्तृण		

स्तन्यशोधक द्रव्य[7]

पाठा	सोंठ	देवदारु	नागरमोथा
मूर्वा	गिलोय	इन्द्रजौ	चिरायता
कुटकी	सारिवा	नागकेसर	पृश्निपर्णी
वचा	अतीस	अभया	

---

१. चरक सू० ४/६ (११)
२. चरक सू० ४/६ (१२)
३. चरक सू० ४/६ (१३)
४. चरक सू० ४/६ (३०)
५. चरक सू० ४/६ (३१)
६. चरक सू० ४/६ (३२)
७. चरक सू० ४/६ (३३)

वमनहर द्रव्य[1]

जामुन के पत्ते या फल	आम के पत्ते	बिजोरा नीबू	खट्टे बेर
अनार	जौ	साठी के चावल	खश
मिट्टी	खील (लाजा)		

तृषाहर द्रव्य[2]

सोंठ	जवासा	मोथा	पित्तपापड़ा
चन्दन	चिरायता	गिलोय	सुगन्धबाला
धनिया	परवल		

हिक्काहर द्रव्य[3]

कचूर	पुष्करमूल	बेर के बीज	छोटी कटेली
बड़ी कटेली	वन्दाक	बड़ी हरड़	पिप्पली
जवासा	काकड़ा शृंगी		

ग्राही द्रव्य[4]

प्रियंगु	अनन्ता (जवासा)	आम की गुठली	सोना पाठा
लोध्र के फूल	सेमर का गोंद	मजिष्ठा	धाय के फूल
पद्माक्ष	कमल का केसर	लज्जालु	

रंजक पित्तविकारहर[5]

शल्लकी की छाल	किवांच के बीज	मधूक	सेमल
गन्धविरोजा	भुनी मिट्टी	विदारीकन्द	नीलकमल
तिल के बीज	जामुन	क्षीरिणी	

मूत्रसंग्रहणीय[6]

जामुन	आम	पाकड़	वट
आम्रातक	गूलर	पीपल	भिलावा
अश्मान्तक	सोमवल्क		

मूत्रशोधक[7]

श्वेतकमल	नीलकमल	नलिन	कुमुद
सौगन्धिक	पुण्डरीक	शतपर्ण	मूधक
प्रियंगु	धाय के फूल		

---

१. चरक सू० ४/६ (३४)
२. चरक सू० ४/६ (३५)
३. चरक सू० ४/६ (१४)
४. चरक सू० ४/६ (१५)
५. चरक सू० ४/६ (१७)
६. चरक सू० ४/६ (१८)
७. चरक सू० ४/६ (१८)

मूत्र विरेचनीय द्रव्य[1]

वन्दाक	गोखरु	वसुक	सूर्यमुखी
पाषाण भेद	दर्भमूल	कुश की जड़	कास की जड़
गुन्द्र की जड़	शरपत की जड़		

श्वासहर द्रव्य[2]

कचूर	पुष्करमूल	अम्लवेतस	छोटी इलायची
हींग	अगर	तुलसी	भूमि आमला
जीवन्ती	चण्डा (चोर पुष्पी)		

कासहर द्रव्य[3]

हरीतकी	बहेड़ा	आंवला	पिप्पली
जवासा	काकड़ा शृंगी	छोटी कटेरी	श्वेत पुनर्नवा
भूमि आंवला	लाल पुनर्नवा	हिंगु	मुनक्का

शोथहर द्रव्य[4]

पाढल	अरणी	बेल	अरलू
गम्भारी	छोटी कटेरी	बड़ी कटेरी	सरिवन
पिटवन	गोखरु		

ज्वरहर द्रव्य[5]

सारिवा	शर्करा	पाठा	मजीठ
मुनक्का	पीलु	फालसा	हरीतकी
आंवला	बहेड़ा	गिलोय	

श्रमहर द्रव्य[6]

मुनक्का	खजूर	पियाल (चिरौंजी)	बेर
अनार	अंजीर	फालसा	हरीतकी
जौ	साठी के चावल		

दाहहर द्रव्य[7]

लाजा	श्वेतचन्दन	गम्भारी का फल	महुआ
खांड	नीलकमल	खश	अनन्तमूल
गिलोय	सुगन्धबाला	ह्रीबेर	

---

१. चरक सू० ४/६ (२१)
२. चरक सू० ४/६ (१६)
३. चरक सू० ४/६ (२०)
४. चरक सू० ४/६ (२१)
५. चरक सू० ४/६ (२२)
६. चरक सू० ४/६ (२३)
७. चरक सू० ४/६ (२४)

शीतहर द्रव्य[1]

तगर	अगरु	धनिया	सोंठ
अजवाइन	बालवच	छोटी कटेरी	अरणी
श्योनाक	पिप्पली	अदरक	

उदर्द (लालचकत्ते)[2]

तिन्दुक	चिरौंजी	बेर	खदिर
श्वेत खदिर	सप्तपर्ण	अश्वकर्ण	अर्जुन
असन	अरिमेद		

अङ्गमर्द[3]

विदारीकन्द	पृश्निपर्णी	बड़ी कटेरी	कण्टकारी
एरण्ड	काकोली	श्वेतचन्दन	खश
छोटी इलायची	मुलेठी		

शूल विविध[4]

पिप्पली	पिप्पलीमूल	चव्य	चित्रक
नागर (सोंठ)	काली मिर्च	अजमोदा	अजगन्धा
अजाजी (जीरा)	गण्डीर		

रक्तप्रवाहहर[5]

मधु	मुलेठी	कुंकुम–केसर	लाजा
मोचरस	मृत्कपाल	लोध्र	गेरू
प्रियंगु	शर्करा		

पीड़ाहर द्रव्य[6]

शाल	कट्फल	कदम्ब	पद्माक्ष
तुम्बरू	मोचरस	सिरस	वंजुल (जलवेतस)
एलवालुका	अशोक	तेजबल	

शुक्रवर्धक द्रव्य[7]

जीवक	ऋषभक	काकोली	क्षीरकाकोली
मुद्गपर्णी	माषपर्णी	मेदा	शतावरी
जटिला (घुंघची या जटामांसी)		कुलिंग	

---

१. चरक सू० ४/६ (१६)
२. चरक सू० ४/६ (२५)
३. चरक सू० ४/६ (२६)
४. चरक सू० ४/६ (२७)
५. चरक सू० ४/६ (४८)
६. चरक सू० ४/६ (४६)
७. चरक सू० ४/६ (५०)

शुक्रशोधक[1]

कूठ	एलवालुक	कट्फल–त्वक्	वसुक
उशीर	समुद्रफेन	कदम्ब का गोंद	तालमखाना
इक्षुकाण्ड	ईख		

स्नेहकर[2]

मुनक्का	मुलहठी	गिलोय	मेदा
विदारीकन्द	काकोली	क्षीरकाकोली	जीवक
जीवन्ती	शालपर्णी		

स्वेदनकर[3]

सहजन	एरण्ड	अर्क (मदार)	वृश्चीर
श्वेतपुनर्नवा	जौ	तिल	कुलथी
माष (उरद)	बेर		

वमनकर द्रव्य[4]

मधु	मुलहठी	लाल–कचनार	सफेद कचनार
कदम्ब	समुद्रफल	कुन्दरु (बिम्बी)	शणपुष्पी
मदार	अपामार्ग	जलवेतस	

विरेचनकर द्रव्य[5]

द्राक्षा	गम्भारी	फालसा	हरीतकी
आंवला	बहेड़ा	कुवल (बड़ाबेर)	बेर
झड़बेर	पीलु		

विषहर द्रव्य[6]

हल्दी	मजीठ	सुवहा (निशोथ)	छोटी इलायची
पालिन्दी (श्यामलता)	चन्दन	निर्मली	शिरीष

आस्थापन बस्ति हेतु[7]

निशोथ	बेल	पिप्पली	कूठ
सरसों	वचा	इन्द्रजौ	सोया
मुलहठी	मैनफल	सौंफ	

---

१. चरक सू० ४/६ (३)
२. चरक सू० ४/६ (४)
३. चरक सू० ४/६ (५)
४. चरक सू० ४/६ (६)
५. चरक सू० ४/६ (७)
६. चरक सू० ४/६ (८)
७. चरक सू० ४/६ (६)

अनुवासन बस्ति हेतु[1]

रास्ना	देवदारु	बेल	मैनफल
सोया	श्वेतपुनर्नवा	लाल पुनर्नवा	गोखरु
अरणी	श्योनाक	सौंफ	

शिरोविरेचनीय द्रव्य[2]

मालकांगनी	नकछिकनी	काली मिर्च	पिप्पली
वायविडंग	सहिजन के बीज	अपामार्ग के बीज	श्वेत विष्णुकान्ता
सरसों	महाश्वेता (विष्णुकान्त का एक प्रकार)		

चेतनाशून्यताहर[3]

हिंगु	पर्वतनिम्ब	अरिमेद (विटखदिर)	वच
चोरपुष्पी	ब्राह्मी	गोलोपी (भूतकेशी)	जटामांसी
गुग्गुलु	अशोक	रोहिणी (कुटकी)	

गर्भप्रद[4]

ऐन्द्री	ब्राह्मी	शतवीर्या	सहस्त्रवीर्या
पाटला	हरीतकी	हरिद्रा	कुटकी
महाबला	प्रियंगु	अपामार्ग	

वयःस्थापक[5]

अमृता	अभया (हरीतकी)	धात्री (आंवला)	रास्ना
श्वेता अपराजिता	जीवन्ती	शतावरी (अतिरसा)	मण्डूकपर्णी
शालपर्णी	पुनर्नवा		

लेखनीय (मोटापाहर)[6]

नागर मोथा	कूठ	हल्दी	दारुहल्दी
बालवच	अतीस	कटुरोहिणी (कुटकी)	चित्रक
चिरबिल्व (करंज)	श्वेतवचा (हैमवती)		

भेदनीय द्रव्य[7]

त्रिवृत्	मन्दार	एरण्ड	लाङ्गली कलिहारी
चित्रा (दन्ती)	चित्रक	चिरबिल्व (करंज)	शखिनी (यवतिक्ता)
शकुलादनी (कटुकी)	स्वर्णक्षीरी		

---

१. चरक सू० ४/६ (२६)
२. चरक सू० ४/६ (२७)
३. चरक सू० ४/६ (४८)
४. चरक सू० ४/६ (४६)
५. चरक सू० ४/६ (५०)
६. चरक सू० ४/६ (२)
७. चरक सू० ४/६ (४)

चोट ठीक कारक[1]

मुलहठी	मधुपर्णी	पृश्निपर्णी (पिठवन)	अम्बष्ठकी (पाठा)
मजीठ/लज्जालु	मोचरस	धातकी	लोध्र
प्रियंगु	कायफल		

अग्निदीपन[2]

पिप्पली	पिप्पलीमूल	चव्य	चित्रक
नागर	अम्लवेतस	कालीमिर्च	अजमोदा
भिलावा की गुठली	हींग		

बलकर[3]

ऐन्द्री (इन्द्रायण की जड़)	केवांच के बीज	शतावरी	माषपर्णी
पयस्या (विदारीकन्द)	अश्वगन्धा	स्थिरा (शालपर्णी)	रोहिणी (जटामांसी)
बला	अतिबला		

सौन्दर्यकर[4]

चन्दन	तुंग (नागकेशर)	पद्माक्ष	उशीर
मुलहठी	मजीठ	अनन्तमूल	पयस्या (विदारीकन्द),
सिता श्वेतदूर्वा	लता काली दूर्वा	क्षीरकाकोली	

अग्निदीपक[5]

पिप्पली	पिप्पलीमूल	चव्य	चित्रक
सोंठ (अदरख)	अम्लवेतस	काली मिर्च	भिलावां के बीज
हींग	अजमोदा		

बलकर[6]

ऐन्द्री (इन्द्रायण की जड़)	केवांच के बीच	शतावरी	माषपर्णी
पयस्या (विदारीकन्द)	अश्वगन्धा	स्थिरा (शालपर्णी)	रोहिणी (जटामांसी)
बला	अतिबला		

---

१. चरक सू० ४/६ (५)
२. चरक सू० ४/६ (८)
३. चरक सू० ४/६ (७)
४. चरक सू० ४/६ (८)
५. चरक सू० ४/६ (६)
६. चरक सू० ४/६ (८)

भोजन सम्बन्धी नियम

अपने प्रिय आदरणीय व्यक्ति को एकान्त मनोहर विस्तृत अर्थात खुले हुए जो संकीर्ण न हो, शुभ पवित्र सुगन्धित फूलों से युक्त समतल स्थान पर बिठाकर भोजन करायें। स्वयं भी इसी प्रकार के स्थान पर बैठकर भोजन करें।

भोजन भली प्रकार संस्कार पूर्वक बनाया गया हो। हितकर प्रिय रस और गन्ध से युक्त हो, देखने में भी सुन्दर आकर्षण उत्पन्न करने वाला, पवित्र थोड़ा गरम और ताजा बना हुआ होना चाहिए।

भोजन में सर्वप्रथम मीठा पदार्थ खाना चाहिए, जिससे पक्वाशय गत वायु का शमन हो जाये। खट्टे और नमकीन पदार्थ मध्य में खाने चाहिए इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। शेष कटु आदि रस वाले पदार्थ अन्त में खाने चाहिए।

भोजन के पूर्व अनार आदि फल खाकर पेय पदार्थों को लेना चाहिए। उसके बाद दाल चावल आदि मुख्य भोजन ग्रहण करना चाहिए। मुख्य भोजन में किन पदार्थों को कब खायें, इसके सम्बन्ध में दो मत हैं। धन्वन्तरि का मत है कि पहले कड़े पदार्थ खायें उसके बाद अन्य पदार्थों के द्रव आदि का प्रयोग करना चाहिए। दूसरी मान्यता यह है कि पहले द्रव पदार्थ पीकर तब अन्य वस्तुएं खानी चाहिए। आंवले का प्रयोग भोजन के आदि मध्य और अन्त तीनों में किया जा सकता है। पद्मनाल शालूक कन्द और गन्ना आदि का प्रयोग भोजन के पहले करना चाहिए बाद में नहीं।

भोजन करने के समय इस प्रकार बैठें कि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे अर्थात् सामने कुछ ऊँचे स्थान चौकी, मेज आदि पर भोजन रखा जाये। भोजन के समय भोजन में ही मन रहना चाहिए (बातचीत करने या पढ़ने में नहीं)। भोजन उचित (निश्चित) समय पर अनुकूल ऋतु के अनुकूल सुपाच्य स्निग्ध उष्ण और द्रव प्रधान होना चाहिए। भोजन बहुत जल्दी–जल्दी नहीं करना चाहिए। साथ ही भूख होने पर तथा उचित मात्रा में ही भोजन करना चाहिए कम या अधिक नहीं।

समय पर भोजन करने से तृप्ति मिलती है, सात्म्य अर्थात् स्वयं को प्रिय और अनुकूल भोजन शरीर को पीड़ा नहीं देता। लघु अर्थात् सुपाच्य अन्न शीघ्र पच जाता है। स्निग्ध अर्थात घृत तेल से युक्त और उष्ण अन्न बल एवम् अग्नि को बढ़ाता है। न तो बहुत शीघ्र और न रुक–रुक कर खाया हुआ भोजन एक साथ पच जाता है। द्रव प्रधान भोजन वात आदि दोषों को कुपित नहीं करता। मात्रा में खाया हुआ अन्न भली प्रकार बिना किसी कष्ट के पच जाता हैं। जाड़े के दिनों में भोजन प्रातः भी किया जा

सकता है, क्योंकि रातें बहुत बड़ी होती हैं। अन्य ऋतुओं में भोजन अपराह्न में अर्थात् दोपहर में लेना चाहिए। सायंकाल का भोजन दिन डूबने (सूर्यास्त) से पूर्व और हलका लेना चाहिए। देर रात्रि में अथवा सायंकाल गरिष्ठ भोजन हितकर नहीं होता।

भोजन निश्चित समय पर ही करना चाहिए। समय से पूर्व अथवा समय बीतने के बाद नहीं। मात्रा (परिमाण)में भी न भोजन कम करना चाहिए न अधिक। शरीर में भारीपन रहने पर अप्राप्त काल अर्थात् समय से पहले भोजन करने में शिर में पीड़ा आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मृत्यु भी हो सकती है। समय पर भोजन न करके देर में भोजन करने से वायु के कारण अग्नि मन्द हो जाती है, भोजन का पाचन ठीक से नहीं होता फलतः द्वितीय काल के भोजन की इच्छा नहीं होती। हीन मात्रा में अर्थात् कम भोजन करने से अतृप्ति और असन्तोष होता है, बल का क्षय होता है तथा अधिक मात्रा में भोजन करने से आलस्य भारीपन आध्मान (अफारा) अंगों में शिथिलता उत्पन्न होती है।

अनेक व्यञ्जनों में कम स्वादिष्ट को पहले और अधिक स्वादु पदार्थ को बाद में खाना चाहिए क्योंकि पहले स्वादुतम भोजन खा लेने पर अन्य भोजन स्वादिष्ट न लगेगा। स्मरणीय है कि स्वादिष्ट भोजन सौमनस्य (मन में हर्ष) बल (ओज), पुष्टि, उत्साह हर्षण और सुख उत्पन्न करता है। अस्वादु भोजन का परिणाम इससे विपरीत होता है।

भोजन के बाद जब तक अन्न की थकावट न मिटे राजा के सामान बैठना चाहिए। उसके बाद सौ पग टहलना चाहिए तदनन्तर एक मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस (४८) मिनट ब़ायें करवट लेटकर विश्राम करना चाहिए।

—सुश्रुत सू० २६ ।४५८–४८७

जल कब कैसा पियें ?

जल हमारी अनिवार्य आवश्यकताओं में है। पीने और स्नान करने में इसका प्रयोग किया जाता है। जल ठण्डा पिया जाये या कोष्ण अर्थात् गुनगुना? इसे जानकर उसके अनुसार व्यवहार करने से अनेक रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है।

शीतल जल-मूर्छा, पित्त प्रकोप में, गर्मी लगने, लू लगने पर शरीर में दाह का अनुभव होने पर, विष का प्रभाव होने पर, रक्तस्राव होने पर, नशे का प्रभाव होने पर, चक्कर आना, घबड़ाहट होने पर, तमकश्वास रोग में, वमन, रक्त पित्त में, रक्त के ऊर्ध्वगामी होने पर शीतल जल ही पीना चाहिए। इससे उपर्युक्त रोगों का वेग कम हो जाता है।

उष्ण जल कब पियें ? पार्श्वशूल, प्रतिश्याय (जुकाम), वातरोग, गलग्रह अर्थात् गला बैठने पर, अफारा होने कर, आंव का कष्ट होने पर , अपच की स्थिति में, जिस दिन संशोधन किया गया हो उस दिन, नये ज्वर में, हिचकी रोग में और स्नेहपान के बाद उष्ण जल ही पीना चाहिए शीतल जल नहीं। उष्ण जल कफ और मेद (मोटापा) को दूर करता है। यह वातरोग नाशक है, उष्ण जल पीने से जठराग्नि तीव्र होती है, मूत्राशय का शोधन हो जाता है, श्वास कास ज्वर को उष्ण जल दूर करता है। उष्ण जल कुछ विशेष रोगों को छोड़ कर सदा पथ्य होता है। निर्मल फेन रहित शान्त अर्थात् कुएं आदि का जल पकाकर यदि केवल चतुर्थांश शेष रह जाये तो वह विशेष गुणकारी होता है। जान बूझकर बासी जल न पीना चाहिए न पिलाना चाहिए।

सुश्रुत संहिता सू० ८५

दूध

आठ प्रकार का दूध पीने योग्य होता है। गौ का, बकरी का, ऊंटनी का, भेड़ का, भैंस का, घोड़ी का, स्त्री का और हथिनी का। क्योंकि दूध अनेक वनस्पतियों के रस का सार होता है, इसलिए यह प्रायः सभी के लिए सात्म्य अर्थात् अनुकूल होता है। इस दूध में ओजस् के दस गुण होते हैं। यह मधुर, पिच्छिल, शीत, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सर, मृदु, प्राणों को देने वाला और गुरु है। यह जीर्ण ज्वर, श्वास, कास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, प्यास, हृदय रोग, मूत्र दोष, पाण्डुरोग, ग्रहणी, दोष और शूल, उदावर्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्तपित्त, श्रम और क्लम का नाशक है। इसके अतिरिक्त दूध बलकारक, वाजीकरण, रसायन, बुद्धिवर्धक, भग्न को जोड़ने वाला, वयःस्थापक, बृंहण आयुष्य को बढ़ाने वाला, बालक, वृद्ध, क्षत क्षीण पुरुषों के लिए, भूख, मैथुन और व्यायाम से क्षीण पुरुषों के लिए अतिशय हितकारी है।

गौ का दूध स्निग्ध, गरिष्ठ और रसायन होता है। यह रक्त पित्तरोग को दूर करता है। मधुर होने से जीवनदायी और वात–पित्त नाशक होता है। धारोष्ण दूध सर्वाधिक गुणकारी होता है। गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध गरिष्ठ हो जाता है किन्तु शरीर का पोषण विशेष करता है।

अभ्यङ्ग (मालिश) अवश्य करें

अभ्यङ्ग करने से त्वचा कोमल होती है। मांसपेशियां पुष्ट होती हैं। हड्डियों में लचीलापन बना रहता है। शरीर में कफ और वात सम्बन्धी विकार नहीं होते, सभी धातु पुष्ट होते हैं। थकावट मिट जाती है वृद्धावस्था देर तक प्रभावकारी नहीं होती, शरीर में स्फूर्ति बनी रहती है। वात रोग दूर होते हैं, शरीर पुष्ट होता है और नींद अच्छी आती है।

अभ्यङ्ग करने के लिए सुखोष्ण, वातहर, सुगन्धित, ऋतु एवं शरीर के वात आदि दोषों को ध्यान में रखते हुए उचित तेल होना चाहिए। शरीर पर सुखपूर्वक अनुलोम गति से तेल मलना अभ्यंग कहलाता है। अभ्यङ्ग शिर और पैर में (तलवे सहित) विशेष रूप से करना चाहिए। कान में भी तेल प्रतिदिन अभ्यङ्ग करते समय डालना चाहिए। दीर्घ आकार वाले अवयवों (हाथ और पैर) पर अनुलोमतः ऊपर से नीचे की ओर सन्धिस्थान कूर्पर, अंस, जानु, गुल्फ और कटि पर वर्त्तुलाकार अभ्यङ्ग करना चाहिए। अभ्यङ्ग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है।

कितनी देर अभ्यङ्ग करें?

६५ सेकण्ड	(१ मिनट पैंतीस सेकण्ड) में स्नेह त्वचा के रोमान्त तक पहुंचता है।
१२७ सेकण्ड	(२ मिनट ७ सेकण्ड में) स्नेह त्वचा के अन्त में पहुँचता है।
१५८ सेकण्ड	(२ मिनट ३८ सेकण्ड में) स्नेह रक्त तक पहुँचता है।
१९० सेकण्ड	(३ मिनट १० सेकण्ड में) स्नेह मांस तक पहुँचता है।
२२२ सेकण्ड	(३ मिनट ५२ सेकण्ड में) स्नेह मेदस् तक पहुँचता है।
२५३ सेकण्ड	(४ मिनट तेरह सेकण्ड में) स्नेह हड्डियों तक पहुँचता है।
२८५ सेकण्ड	(४ मिनट पैंतालीस सेकण्ड में) स्नेह हड्डियों के मध्य तक पहुँचता है।

इसलिए सामान्यतः शरीर के प्रत्येक भाग में लगभग पांच मिनट अभ्यङ्ग अवश्य करना चाहिए। इससे अधिक देर करें तो अधिक अच्छा है।

अभ्यंग के बाद पन्द्रह मिनट विश्राम करके गरम जल में भीगे वस्त्र से शरीर पोंछ कर उष्ण जल से स्नान करना चाहिए।

अभ्यंग करने से शरीर का खुरदरापन, सुन्न होना, रुक्षता, पैरों का सो जाना आदि कष्ट तत्काल शान्त हो जाते हैं। पैर कोमल होते हैं, उनमे बल और स्थिरता आती है। नेत्रों में देखने की शक्ति बढ़ती है। सायटिका (गृध्रसीवात) और जोड़ों से आवाज आना (चटचट करना) नसों का सिकुड़ना आदि कष्ट कभी नहीं होते।

उद्वर्त्तन-

अभ्यंग में मालिश अनुलोम गति से ही की जाती है, उद्वर्त्तन प्रतिलोम गति से कुछ अधिक भार देकर किया जाता है। अभ्यङ्ग में तेल का प्रयोग होता है जब कि उद्वर्त्तन में तेल के अतिरिक्त चिरौंजी को पीसकर उसका लेप सा बनाकर अथवा आटा या

बेसन में तेल या घृत तथा दही डाल कर लेप–सा बना कर पूर्वोक्त विधि से मालिश करते हैं। लोकभाषा में उद्वर्त्तन को उबटन कहते हैं। उद्वर्त्तन कफ को कम करता है, चर्बी को (मोटापा को) हटाता है, अङ्गों को स्थिर बनाता है तथा त्वचा को निर्मल बनाता है। वात रोगों में भी उद्वर्त्तन बहुत लाभकर होता है।

मर्दन-

शरीर पर तेल लगाकर अधिक से अधिक किन्तु सहन करने योग्य दबाव देकर मर्दन किया जाता है। यह अनुलोम गति से किया जाता है। यदि क्रिया प्रतिलोम गति से करें तो उसे उत्सादन कहते हैं। इन दोनों से शारीरिक सौन्दर्य बढ़ता है। आचार्य धन्वन्तरि का मानना है कि पसीना आने तक व्यायाम करने वाले और पैरों द्वारा शरीर में तेल लगाकर उद्वर्त्तन, मर्दन या उत्सादन करने वाले के पास रोग उसी प्रकार नहीं आते जैसे सिंह के पास क्षुद्र पशु नहीं जाते।

–सुश्रुत चिकित्सा स्थान २४

शीत ऋतु की दिनचर्या

हेमन्त ऋतु में जब खूब जाड़ा पड़ रहा होता है, तब शीतल वायु के स्पर्श से शरीर के रोम–कूप बन्द हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अन्दर रुकी हुई शरीराग्नि आहार की अधिक मात्रा होने पर भी, गरिष्ठ भोजन होने पर भी उसे पचा डालती है। उस काल में यदि उसे घृत आदि पौष्टिक पदार्थों से युक्त पर्याप्त आहार नहीं मिलता तो शरीर में विद्यमान रस को ही जलाने लगती है और रस के क्षीण होने पर वायु कुपित होकर रोगों को जन्म देती है। इसलिए शीतकाल में स्निग्ध अर्थात् घृत, तेल से युक्त खट्टे मीठे नमकीन रस युक्त पदार्थों का पर्याप्त प्रयोग करना चाहिए। दूध से बनी हुई मिठाइयां नवीन चावल का भात तथा घी तेल में बनी वस्तुओं का समुचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए तथा उष्ण जल पीना चाहिए। ऐसा करने से रोग नहीं होते, आयु का क्षय नहीं होता।

शीत ऋतु में तेल की मालिश, शरीर का मर्दन, उबटन, सिर में तेल का प्रयोग, अग्नि और धूप का सेवन, गर्म गुफाओं में या मकानों में निवास, भारी गरम कपड़ों का व्यवहार, अगुरू आदि का लेपन तथा गृहस्थ जीवन में स्त्री–सहवास आदि हितकर रहता है।

अत्यन्त सुपाच्य अथवा वातकारक खान–पान, अल्प भोजन, उपवास, वायु सेवन, शीतल पेयों का प्रयोग तथा शीतल भोजन इस ऋतु में हानिकर होता है।

(चरक सूत्रस्थान ६।८–२०)

वसन्त ऋतु की दिनचर्या

शीतऋतु (हेमन्त शिशिर) में कफ की वृद्धि होती है। वसन्तु ऋतु के आने पर सूर्य की किरणों से तप्त होकर शीत ऋतु में बढ़ा हुआ कफ कुपित हो जाता है और शरीर की अग्नि को बाधित करता हुआ अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिए वसन्त ऋतु में स्नेहन स्वेदन रूप पूर्व कर्म करके वमन, विरेचन और बस्ति द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए। इस ऋतु में गरिष्ठ, स्निग्ध, खट्टा या मीठा आहार और दिन में शयन नहीं करना चाहिए। साथ ही इस काल में उपवास भी नहीं करना चाहिए क्योंकि इस काल में भूख के वेग को रोकने से निर्बलता, शरीर का क्षीण होना, शरीर की कान्ति नष्ट होना, अंगों में पीड़ा, अरुचि, चक्कर आना आदि कष्ट होने लगते हैं। अतः भूख लगने पर हलका भोजन अवश्य करना चाहिए। इन दिनों प्यास भी लगने लगती है। उसे रोकना नहीं, जल पीकर शमन करना चाहिए, क्योंकि प्यास का वेग रोकने से कण्ठ सूखना, मुख सूखना, बहरापन, थकावट, श्वास, हृदय में पीड़ा आदि रोग हो जाते हैं। इसलिए प्यास लगने पर शीतल जल पीकर तृप्त होना चाहिए।

(चरक सू० ७।२१–२३)

आंसुओं का वेग नहीं रोकें

मल, मूत्र, भूख, प्यास के वेगों के समान ही आंसुओं के वेग को भी कभी नहीं रोकना चाहिए। आसुंओं का वेग रोकने से प्रतिश्याय (जुकाम), नेत्र रोग, हृदय रोग, अरुचि, चक्कर आना आदि अनके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अश्रुवेग रोकने से उत्पन्न रोगों के निवारण के लिए निद्रा प्रियचर्याएँ आदि उपाय करने चाहिए।

निद्रावेग न रोकें

निद्रा का वेग रोकना भी बहुत हानिकर होता है। इससे जृम्भा (जंभाई) शरीर में पीड़ा तन्द्रा शिरोरोग आंखों में भारीपन आदि कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। निद्रा का वेग रोकने से उत्पन्न रोगों के निवारण के लिए सोना और संवाहन अर्थात् देह दबवाना उत्तम उपाय है।

(चरक सू० ७।२१–२०)

कब सोयें और कब नहीं

दिन में सोना सभी ऋतुओं में निषिद्ध है। किन्तु ग्रीष्म ऋतु में रात्रि के छोटी होने से दिन में सोना निषिद्ध नहीं है। दिन में सोने का निषेध बालक, वृद्ध, अतिकृश, क्षीण, उरःक्षत के रोगी, वाहन यान यात्रा अथवा किसी कारण से थके हुए भोजन न करने वाले (उपवास कर रहे) व्यक्तियों के लिए नहीं है। अजीर्ण के रोगी को कुछ काल सोना चाहिए। यदि रात्रि में अधिक देर जागरण हुआ हो तो जितनी देर जागरण हुआ उसके आधे समय तक सो सकते है। दिन में सोने से सब दोष कुपित होते हैं। उसके फलस्वरूप प्रतिश्याय, श्वास, कास, शिर में भारीपन, अंगों का टूटना, अरोचक, ज्वर,

अग्नि की दुर्बलता आदि रोग उत्पन्न होते हैं। रात्रि में जागरण से भी वातपित्त के प्रकोप से कास श्वास आदि रोग होते हैं। रात्रि में जागरण से शरीर में रूक्षता आती है और दिन में सोने से स्निग्धता। स्वास्थ्य के लिए न रूक्षता अपेक्षित है, न अतिस्निग्धता। कहा भी है–

तस्मान्न जागृयाद् रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्।।
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान्नरो जीवेत्समाः शतम्।।

अर्थात् उपर्युक्त कारणों से न रात्रि में जागरण करें और न दिन में सोयें। ये दोनों हानिकर हैं, अतः परिमित मात्रा में ही सोना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य नीरोग, प्रसन्न, बल, वर्ण से युक्त, वीर्यवान् होता है, वह न बहुत स्थूल होता है न अधिक कृश तथा तेजस्वी होकर सौ वर्षों तक जीवित रहता है। कुछ लोगों का परिस्थिति विशेष में रात्रि में जागने और दिन में सोने का अभ्यास बन जाता है, उनके लिए भी इस नियम का पालन आवश्यक नहीं है।[1]

कफ मेद और विष से पीड़ित मनुष्यों के लिए रात्रि में जागना हितकर होता है। इसी प्रकार प्यास, शूल, हिक्का, अजीर्ण, अतिसार और उरः क्षत के रोगियों के लिए दिन में सोना हितकारी है।[2]

अनिद्रा के कारण और उसे दूर करने उपाय

जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य और उसकी सुरक्षा के लिए विधिपूर्वक किया गया आहार हितकर होता है, उसी प्रकार यथाविधि सेवन की गयी निद्रा भी सुखकारक होती है। शरीर की स्थूलता और कुशलता में निद्रा और आहार विशेष रूप से कारण होते हैं। इसलिए अनिद्रा और अतिनिद्रा दोनों से बचने का उपाय करना चाहिए।

अनिद्रा का रोग आजकल पचहत्तर–अस्सी प्रतिशत सम्पत्तिशाली लोगों को सता रहा है। वे प्रायः नींद की गोलियां लेते हैं। किन्तु बहुधा उससे भी काम नहीं चलता, गोलियों की संख्या बढ़ती जाती है। अनिद्रा के कारण शारीरिक और मानसिक रोगों में कोई एक या दोनों हो सकते हैं। तनाव अनिद्रा का मुख्य मानसिक कारण है। यह तनाव चिन्ता भय अथवा क्रोध के कारण उत्पन्न होता है। अनिद्रा के शारीरिक

१. सुश्रुत शा० ४ ।३८–४१
२. सुश्रुत शा० ४ ।४८

कारणों में कायविरेचन अर्थात दस्त लगना, नस्य का प्रभाव, वमन, अधिक मात्रा में रक्त निकलना, उपवास, कष्टदायक बिस्तर, सत्त्वगुण की अधिकता आदि कारण होते हैं और पित्त विकार के कारण भी अनिद्रा हो सकती है।

अनिद्रा रोग को दूर करने के लिए अभ्यङ्ग (तेल–मालिश), उत्सादन अर्थात् उबटन अथवा मर्दन, संवाहन (शरीर को दबाना), सिर पर तेल लगाना, सिर तथा मुख पर शीतल लेप, नेत्रों में तर्पण, सुखदायक शयनगृह और बिस्तर, शालि, गेहूँ और पिट्ठी (उड़द और मूंग को भिगो कर पीसी हुई छिलके रहित दाल) से बने हुए भोजन, मिश्री, शक्कर आदि से बनी मिठाइयां, मधुर और स्निग्ध पदार्थों को दूध आदि के साथ खाना, अंगूर, मिश्री, ईख के रस आदि का उपयोग, दही का मीठा डाल कर प्रयोग उत्तम रहता है।[१]

सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर होने वाली अनिद्रा योगियों को होती है। वे उस अनिद्रा को रोग नहीं वरदान मान कर उसका उपयोग ध्यान (प्रभुचिन्तन)मनन और मन्त्र जप आदि आध्यात्मिक कार्यों के लिए करते हैं।

अतिनिद्रा अथवा सदा ऊंघने की स्थिति में वमन आदि संशोधन और लंघन कराना चाहिए। साथ ही कफनाशक वात–पित्तवर्धक आहार देना चाहिए।[२]

अनिद्रा को दूर करने के लिए नेत्रों का तर्पण करने की चर्चा ऊपर की गयी है। यह तर्पण अनेक नेत्र रोगों में भी हितकर होता है। इसके लिए वायु धूप धूल से रहित घर में रोगी को पीठ के बल चित्त लेटा कर दोनों नेत्र कोशों पर उरद के गीले आटे से गोल समान मजबूत खुली (तंग नहीं) पाली बनायें। इसमें गरम पानी में पिघलाये गये घृत का मण्ड (ऊपरी परत) भर दें और पांच सौ गिनती गिनने तक नेत्रों में रखें। कफ–विकारों में उसे छः सौ संख्या गिनने तक, पित्त विकारों में आठ सौ और वायु विकारों में एक हजार संख्या गिनने तक रखना चाहिए। फिर अपांग की ओर से स्नेह को निकाल कर शोधन करें। शोधनार्थ जौ के आटे को थोड़ा गरम करके आंख को बन्द करके ऊपर रखकर करना चाहिए। नेत्र–तर्पण एक–एक आंख का बारी–बारी से किया जाता है, बादल रहने पर अति उष्णता अथवा अतिशीत रहने पर चिन्ता या थकान में चक्कर आने पर जब तक ये उपद्रव शान्त न हों तर्पण करना निषिद्ध है।[३]

मधु

मधु या शहद के यद्यपि इसका संग्रह करने वाली मक्खियों के कारण पौत्तिक,

---

१. चरक सू० २१।५१–५४, सुश्रुत शा० ४।४२–५३

२. सुश्रुत शा० ४।४४

३. सुश्रुत उत्तर १८।५–१०

भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक, छात्र, आर्घ्य औद्दालक और दाल भेद से आठ प्रकार हैं। इनके

गुणों में भी थोड़ा–थोड़ा अन्तर है, किन्तु मधु सामान्य मधुर, कषाय अनुरस अर्थात् बाद में कुछ कषैले स्वादवाला, रूक्ष, शीतल, अग्नि–दीपक शरीर के रंग (वर्ण) को सुन्दर बनानेवाला, स्वर के लिए हितकारी, सुपाच्य, हृद्य अर्थात् हदय को सशक्त बनाने वाला, सुकुमारता लाने वाला, भग्न सन्धानकृत्, हड्डी आदि को जोड़ने वाला, लेखन अर्थात् मोटापा को हरने वाला, शोधन अर्थात् मल को निकालने वाला, रोपण (घाव को शीघ्र भरने वाला), वाजीकरण (स्तम्भन करने वाला), संग्राही (मल को बांधने वाला), नेत्र के लिए हितकारी, प्रसादन अर्थात् स्वच्छ करने वाला, मल को निकालने वाला, सूक्ष्म मार्गों में पहुंचने वाला तथा पित्त श्लेष्म मेद, मेह, हिचकी, श्वास, कास, अतिसार, छर्दि, तृष्णा और कृमि विष को शान्त करने वाला होता है। यह सुखकारक और त्रिदोषनाशक होता है। मधु लघु होने से कफनाशक, पिच्छिल गुण होने से, मीठा होने से और कषाय होने के कारण वातपित्तनाशक होता है।[१] वर्त्तमान काल में मधु चिकित्सकों को अथवा उपभोक्ताओं को बाजार से ही लेना होता है, एवम् उस उपलब्ध मधु की पैकिंग पर वह मधु किस मक्खी का है इसका संकेत नहीं रहता, इसी कारण उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा रहा है।

नवीन मधु शरीर और शुक्र को बढ़ाता है। अल्पमात्र में कफनाशक होता है साथ ही मृदुविरेचक भी है। पुराना मधु मेद और स्थूलता को घटाता है। मल को बांधता है तथा अतिशय लेखन होता है अर्थात् मोटापा को दूर करता है। थोड़े समय का संचित मधु तीनों दोषों को बढ़ाता है। रखे रहने से कालवश इसका पाक होता रहता है और यह कालवश पका हुआ अर्थात् पुराना मधु तीनों दोषों का नाश करता है। आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित औषधियों का मधु के साथ प्रयोग करने से उन औषधियों का पूरा लाभ मिलता है।

मधु शरीर को प्राकृतिक रूप से ऊर्जा प्रदान करता है, तत्काल स्फूर्ति देता है। यह स्त्रियों के रंग एवं यौवन को सदैव ताजा और सौन्दर्य पूर्ण बनाये रखता है।

मधु के कुछ विशेष प्रयोग

१. यदि सोते समय दूध में मधु डालकर पियें तो नींद लाने वाली गोलियों से कहीं अधिक मीठी नींद आयेगी।

२. दूध में चीनी के स्थान पर मधु का प्रयोग करने से गैस नहीं बनती, पाचन शक्ति ठीक रहती है और आंतों के कीड़े मरकर निकल जाते हैं।

३. जुकाम होने पर सोने से पूर्व मधु की भाप लेने से उसके पानी से कुल्ला करने से जुकाम ठीक हो जाता है।

---

१. सुश्रुत सू० ३५।१३२

४. प्रातःकाल शौच जाने से पूर्व पानी में (जो ठण्डा न हो) मधु और नीबू का रस मिलाकर पीने से मोटापा कम हो जाता है।

५. नियमित रूप से नीबू प्याज और अदरक का रस मधु में मिलाकर पीने से शरीर में कोई रोग प्रवेश नहीं करते ।

६. मधु त्वचा के अनेक रोगों में बहुत लाभकारी है। फोड़े, फुंसी, घाव होने पर मधु पीने के साथ ही लगाने से भी लाभ मिलता है। मधु कीटाणु–नाशक है।

७. मोच आने पर अथवा जोड़ों के दर्द में मधु की पट्टी बांधने से बहुत लाभ होता है।

८. नाक बन्द होने पर मधु की एक–दो बूंद नाक में डालने से नाक खुल जाती है।

घृत

घृत के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ कम्पनियों के स्वार्थपूर्ण प्रचार के कारण शहर के लोगों में विशेषकर शिक्षित कहे जाने वाले लोगों में बहुत भ्रम फैल गया है। उन्हें बताया जाता है कि घृत खाने से कोलेस्ट्रोल बढ़ाता है और स्रोतोवरोध उत्पन्न होकर हृदय–रोग का आक्रमण होता है।

वास्तविकता इससे भिन्न है। स्रोतोरोध के कारण प्रदूषण आदि हैं, शरीर में यह प्रदूषण उन रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग से बढ़ता है जो खेतों में प्रयुक्त होते हैं, तेलों को साफ करने (रिफाइन करने) के लिए और उसे जमाकर नकली घी (डालडा, रथ आदि) बनाने में व्यवहार होते हैं। साथ ही चिन्ता और तनाव भी उसका कारण हैं, जो आधुनिक सभ्यता की देन हैं। इस तथाकथिक विज्ञान के प्रसार से पूर्व अर्थात् साठ–पैंसठ वर्ष पूर्व तक भारत में हृदय–रोग के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते । जब घृत का प्रयोग सभी सम्पन्न लोग खूब करते रहे हैं। वास्तविकता यह है कि घृत अनेक रोगों को दूर करके रोगों से बचने की शक्ति देकर आयुष्य को बढ़ाता है।

घृतसामान्य- मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, थोड़ा अभिष्यन्दि, शरीर को स्निग्ध करने वाला, अग्निदीपक, स्मरणशक्ति, मननशक्ति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सुकुमारता, ओज, तेज, बल और आयुष्य को बढ़ाता है। आयु को स्थिर रखता है अर्थात् वृद्धावस्था को आने से रोकता है। आँखों के लिए हितकारी है तथा कफ को बढ़ाता है। यह विषनाशक है, राक्षस–भय को दूर करता है, तथा उदावर्त्त, उन्माद,

अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वातपित्त जन्य रोगों को दूर करता है। पाप और अलक्ष्मी को शान्त करता है।[1]

गाय का घृत सब प्रकार के घृतों में श्रेष्ठ है। वात–पित्तनाशक, विष के प्रभाव को दूर करने वाला, बलकारक तथा नेत्रों के लिए अतिश्रेष्ठ है। बकरी का घृत अग्निदीपक, चक्षुओं के लिए हितकारी बलवर्धक सुपाच्य तथा कास, श्वास और क्षय रोग को दूर करने वाला होता है। भैंस का घृत रक्त–पित्त नाशक, मधुर, गुरु, कफवर्धक, वात–पित्त को शान्त करने वाला, शीतवीर्य होता है। ऊँटनी का घृत कफ शोथ, कृमि, कुष्ठ, गुल्म, उदर रोगों को तथा कफ और वात को नष्ट करता है। भेड़ का घृत कफ, वायुजन्य रोग, योनिरोग, शोथ और कम्प रोग में हितकारी है।[2]

नवनीत (मक्खन)

घृत के समान मक्खन भी अतिशय गुण वाला और आरोग्य दायक होता है। ताजा निकाला हुआ मक्खन और देर का निकाला हुआ अथवा कई दिनों पूर्व निकाले गये मक्खन के गुणों में अन्तर है। तुरन्त का निकाला हुआ मक्खन लघु अर्थात् सुपाच्य और देह को कोमल करने वाला होता है। यह मधुर कषाय है और थोड़ा अम्ल होने से वात, पित्त, कफ तीनों को शमन करता हैं। यह शीतल किन्तु अग्निवर्धक, बुद्धिवर्धक, हृदय को बल देने वाला, संग्राही, पित्तवायु–नाशक, वीर्यवर्धक, अविदाही तथा क्षय, कास, श्वास, व्रण, शोष, अर्श और अर्दित रोग को दूर करने वाला होता है। देर से निकाला हुआ या बासी मक्खन सुपाच्य नहीं होता । यह कफ और मेद (चर्बी) को बढ़ाता है। बल, वीर्य और देह की वृद्धि करता है। शोष (सूखारोग) को दूर करता है। दूध से निकाले गये मक्खन में स्नेह और मधुरता अधिक रहती है। यह सामान्य मक्खन की अपेक्षा अधिक शीतल, देह को सुकुमार बनाने वाला, आंखों के लिए हितकारी और संग्राही होता है। इसका प्रयोग करने से नेत्र रोग और रक्त–पित्त रोग दूर होते हैं। इसके प्रयोग से शरीर का वर्ण निखर जाता है। मक्खन बालकों को लिए विशेष हितकारी होता है।[3]

पुराणघृत– एक वर्ष या उससे अधिक पुराना घृत पुराण घृत कहलाता है। यह त्रिदोषनाशक होता है। घृत जितना पुराना होता है औषध गुण उसमें उतने ही बढ़ जाते हैं।[4]

दही

दही सामान्यतः तीन प्रकार का होता है मधुर (जिसमें अभी खट्टापन नहीं

---

१. सुश्रुत सू० ४५।९६

२. सुश्रुत सू० ४५।९७–१०१

३. सुश्रुत सू० ४५।९२–९४

४. भाव प्र० नि० १६।१६–१८

आया है), अम्ल (खट्टा) और अत्यम्ल अर्थात् बहुत खट्टा। दही सामान्य रूप से बाद में कुछ कषैलापन से युक्त स्निग्ध और उष्णवीर्य अर्थात् गरम तासीर वाला होता है। दही खाने से पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र और कृशता को दूर करता है। साथ ही वृष्य अर्थात वीर्य को बढ़ाने वाला और प्राण–कारक होता है।[1]

मीठा दही अतिशय अभिष्यन्दि अर्थात् शरीर का पोषण करने वाला, कफ और मेदस् को बढ़ाने वाला होता है। हल्का खट्टा दही कफ पित्त को बढ़ाता है, जबकि बहुत खट्टा रक्त को दूषित करता है। अधजमा दही दाह उत्पन्न करने वाला, मलमूत्र को प्रवृत्त करने वाला और तीनों दोषों को कुपित करता है।[2]

गाय के दूध का दही स्निग्ध, पचने पर मधुर प्रभाव वाला, अग्निवर्धक, बल वर्धक, वातरोग नाशक तथा रूचि उत्पन्न करने वाला होता है। बकरी के दूध का दही कफ, पित्तनाशक, सुपाच्य, वायुक्षय को दूर करता है। यह अग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा अर्श, श्वास, रोगों में हितकारी होता है। भैंस के दूध का दही पचने पर मधुर, वृष्य अर्थात् वीर्यवर्धक, वातपित्त को शान्त करने वाला, कफवर्धक है और अधिक स्निग्ध होता होता है। ऊँटनी के दूध का दही कुछ खारा, गरिष्ठ, विरेचक (दस्त लानेवाला), वायुरोग, अर्श, कुष्ठ, कृमि और उदर रोग को दूर करता है। भेड़ के दूध का दही अनेक रोगों को उत्पन्न करता है, अतः अपथ्य है।[3]

दही को वस्त्र में बांध कर यदि उसका पानी निकाल दिया जाये तो वह वायुनाशक, कफ–कारक, स्निग्ध, वृंहण अर्थात् देह को बढ़ाने वाला होता है तथा भोजन में रूचि उत्पन्न करता है।[4] दही को छानने पर निकाला हुआ पानी मस्तु या तोड़ कहलाता है। यह प्यास और थकान को दूर करता है। सुपाच्य स्रोतों को शुद्ध करने वाला, कफ वात का नाशक सुखदायक पुष्टिकर और मलशोधक होता है।[5]

दही के ऊपर का स्नेह भाग (मलाई) गुरु, वृष्य अर्थात् वीर्यवर्धक, वायुनाशक, कफ और शुक्र को बढ़ाने वाला होता है। इसके विपरीत स्नेह रहित दही रुक्ष, मल को बांधने वाला, अग्निदीपक, सुपाच्य और रुचिकारक होता है, किन्तु वायु दोष पेट में गुड़गुड़ाहट और कब्ज करता है।[6] दूध को उबाल कर ही दही जमाना चाहिए। यह दही अनेक गुणों वाला वात, पित्तनाशक रूचिकारक धातु, अग्नि और बल को बढ़ाता है।[7]

तक्र (मट्ठा)

दही में आधा पानी मिलाकर मथकर मक्खन निकाल लिया जाये, तो उसे तक्र

१. सुश्रुत सू० ४५।६५
२. सुश्रुत सू० ४५।६६, ६७
३. सुश्रुत सू० ४५।६७–७२
४. सुश्रुत सू० ४५।७६,७७
५. सुश्रुत सू० ४५।८१–८२
६. सुश्रुत सू० ४५।७८–८०
७. सुश्रुत सू० ४५।७७–७८

(मटठा) कहते हैं। यह न अधिक गाढ़ा होता है न अधिक पतला। मट्ठा उष्णवीर्य, सुपाच्य, रुक्ष, अग्निदीपक, हृदय के लिए प्रिय होता है। इसका प्रयोग करने से संयोग जन्य विष का प्रभाव, शोथ, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डु, अर्श प्लीहा, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, तृषा (प्यास), वमन, लालास्राव, शूल, मेद कफ और वायु दोष, मूत्रकृच्छ्रता अतियोग एवम् अयोग से उत्पन्न रोग दूर होते हैं।[1]

शीतकाल में मन्दाग्नि, कफजन्य स्रोतों का अवरोध और वायु के विकृत होने पर तक्र का प्रयोग बहुत लाभकर होता है, किन्तु उष्णकाल अर्थात् ग्रीष्म और शरद् ऋतु में घाव होने पर दुर्बल अवस्था में, मूर्च्छा, भ्रम अर्थात चक्कर आना, दाह रोग एवं रक्तपित्त में तक्र का प्रयोग हानिकर होता है।[2] भावमिश्र का मानना है कि तक्र अपनी खटास के कारण वात को , मिठास के कारण पित्त को, और कसैलेपन के कारण कफ को नष्ट करता है, इस प्रकार यह त्रिदोषनाशक है। इस कारण तक्र का सेवन करने वाला कभी रोगी नहीं होता। तक्र से नष्ट हुए रोग फिर कभी नहीं उभरते। जैसे देवताओं के लिए अमृत सुखद है, वैसे ही मनुष्यों के लिए तक्र सुखदायी है।[3]

तेल

तेल का अर्थ है तिल से निकाला स्नेह, किन्तु आज कल तिल का तेल मिलना दुर्लभ है। उसके स्थान पर सरसों, मूंगफली, सूर्यमुखी, मक्की, महुआ आदि के तेल ही अधिक मिलते हैं। किन्तु खाने अथवा अभ्यंग आदि के लिए तिल का तेल सर्वोत्तम होता है। सरसों का तेल उत्तर भारत में अधिक सुलभ है, किन्तु तिल की अपेक्षा यह कम लाभकारी है।

तिल का तेल आग्नेय गुण युक्त अर्थात् उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, बृंहण अर्थात् शरीर को बढ़ाने वाला प्रीणन (प्रसन्नता देने वाला) व्यवायी अर्थात् कामशक्ति को बढ़ाने वाला, सूक्ष्म, विशद गुरु, सर–विकासि अर्थात् सन्धिबन्धों को खोलने वाला, वृष्य (वीर्य वर्धक) आहार और अभ्यंग में प्रयोग होने पर त्वचा को सुन्दर बनाने वाला, शोधन अर्थात् अंग प्रत्यंगों में एकत्रित मल को निकालने वाला, शरीर में सुकुमारता लाने वाला, मांसवर्धक, स्थिरतादायक, बल वर्ण कारक, नेत्रों के लिए हितकारी, मूत्र को रोकने वाला, लेखन अर्थात् मोटापा को दूर करने वाला, कफनाशक पाचक, वात विकारों को दूर करने वाला, कृमिनाशक, खाने पर पित्तवर्धक और गर्भाशय को शुद्ध करने वाला होता है। इसके प्रयोग से योनिशूल, शिरःशूल, कर्णशूल रोग दूर होते हैं। छिन्न (दो भागों में विभक्त), भिन्न (विदारित),विद्ध सुई शल्य आदि के चुभने, कुचलने तथा विविध प्रकार की चोट, फटने के घाव, टूट–फूट होने, क्षार या अग्नि से जलने, सन्धिबन्ध शिथिल होने, शेर, बन्दर आदि के द्वारा काटने पर परिषेक अभ्यङ्ग और अवगाहन आदि कार्यों के लिए तिल तेल सर्वोतम स्नेह है।[4]

इसी प्रकार स्नेह पान बस्ति, नस्य, कान या आंखों में डालने के लिए, आहार द्रव्यों के संस्कार के लिए और वायु दोष (वातरोग) को शान्त करने के लिए तिल तेल

१. सुश्रुत सू० ४५।८४,८५
२. सुश्रुत सू० ४५।८७–८८
३. भाव प्रंकाश नि० १५।७
४. सुश्रुत सू० ४५।११२

ही सर्वश्रेष्ठ है।[1]

सरसों का तेल कृमिनाशक, थोड़ा तिक्तरसवाला और सुपाच्य होता है। इसके प्रयोग से कुष्ठ, कृमिरोग दूर होते हैं, यह नेत्रों की ज्योति, शुक्र और बल को कम करता है।[2]

एरण्डतेल

एरण्ड (रेंड़ी) का तेल का प्रयोग प्रायः खाने में नहीं किया जाता है इसका कारण इसका विरेचक होना है। विरेचक होने से यह उदर के अधोभाग का शोधन करता है, यह इसका विशेष गुण है, किन्तु अल्प मात्रा में दो से दस मिलीग्राम तक लेने पर यह विरेचक नहीं होता। खाने में यह मधुर, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण अग्निदीपक, पचने पर कटु, कषाय रस वाला होता है। खाने में प्रयोग करने पर यह सूक्ष्म स्रोतों मे प्रवेश कर उनका शोधन करता है, त्वचा के लिए भी यह हितकारी है। यह वृष्य अर्थात् शुक्रवर्धक, शुक्र का शोधक अर्थात् शुक्र दोष को दूर करने वाला, गर्भाशय का शोधक, आयु को स्थिर रखने वाला अर्थात् वृद्धावस्था के बुरे प्रभावों को रोकने वाला, कफ, वातनाशक,आरोग्य, मेधा, कान्ति, स्मरण शक्ति और बल को बढ़ाने वाला होता है।[3]

भावमिश्र के अनुसार शरीर में रहने वाले आमवात रोग को एरण्ड का तेल उसी प्रकार सम्पूर्णतया नष्ट कर देता है जिस प्रकार सिंह हाथी को मार डालता है।[4] एरण्ड के तेल में तल कर बैंगन खाने से गृध्रसीवात (सायटिका) रोग जड़ से समाप्त हो जाता है।

सामान्य कष्टों को दूर करने के लिए प्राकृतिक उपचार

नेत्र पर आघात- आंखों में साधारण चोट लगी हो तो तुरन्त मुख की फूंक देनी चाहिए। इससे तत्काल पीड़ा शान्त हो जाती है। यदि फूंक देकर स्वेदन के लिए कोई अन्य व्यक्ति उपस्थित न हो तो वस्त्र की सहायता से स्वयं स्वेदन (सेंक) करना चाहिए[5]

---

१. सुश्रुत सू० ४५।११३
२. सुश्रुत सू० ४५।११७
३. सुश्रुत सू० ४५।११५
४. भाव प्रकाश नि० १८।२१–२२
५. सुश्रुत उत्तर १६।५

यदि आघात (चोट) के कारण नेत्र अन्दर को दब गया हो तो गला दबाने से, वमन से , छींक से और देर तक श्वास रोकने से नेत्र यथास्थान आ जाता है।[1]

यदि नेत्र बाहर को निकल आये हों तो नाक से वायु को अन्दर खींचे। शिर पर ठण्डा पानी डालें।[2]

आँखों में चकाचौंध लगने पर, अतिशय सूखी रहने पर रूक्षता होने पर पलकें बहुत कड़ी होने पर, यदि पलकों से बाल टूटते या गिरते हों, पलकें गन्दी अधिक कुटिल होने पर, रोग के कारण अधिक पीड़ा होने पर नेत्रों में तर्पण करना चाहिए।[3] इसके लिए रोगी को वायु, धूप और धूल से रहित घर में पीठ के बल चित लिटा कर नेत्रों के कोशों पर उरद के गीले आटे से गोल समान मजबूत खुली पाली बनायें। इसमें गरम पानी में रखकर पिघलाये हुए घृत का मण्ड अर्थात् ऊपरी भाग भर दें। पलकों के रोगों में एक सौ संख्या गिनने तक, नेत्र रोग में पांच सौ से एक हजार संख्या गिनने तक इस घृत को धारण करें। इसके उपरान्त अपाङ्ग नेत्र के कोरों से घृत को निकाल दें और जौ के गरम आटे को नेत्र बन्द करके उस पर डालकर नेत्र का शोधन करें। अधिक शीत या गर्मी में अथवा बादल रहने पर तर्पण नहीं करना चाहिए।[4]

गिलोय अथवा त्रिफला के क्वाथ में सिद्ध किया गया गोघृत अनेक नेत्र रोगों को दूर करता है।[5]

मुख में पानी भरकर कुल्ला करने के समान हिलाते हुए तथा स्वच्छ निर्मल जल से कम से कम पचास छींटे प्रातः, दोपहर, सायं तीन बार अथवा बाहर से धूप और धूल से आने पर देने चाहिए। इससे नेत्रों में कोई रोग नहीं होते।[6] नेत्रों के संक्रामक रोगों के दिनों में हाथों को साबुन से धोकर तब यह क्रिया करनी चाहिए।

वात रोग के कारण

रूखा, ठण्डा, भूख से बहुत कम या बहुत शीघ्र, चने वाला आहार लेने से , अधिक संभोग करने से, अधिक जागरण से, विषम उपचार से, कफ आदि दोषों तथा रक्त के अधिक निकलने से, लंघन करने से, पानी में अधिक काल तक तैरने से, अधिक पदयात्रा से, अधिक व्यायाम आदि श्रम करने से धातुओं का क्षय होने से, रोगों द्वारा निर्बलता आ जाने से, बैठने, सोने के दुःखदायक बिस्तर से, दिन में सोने से, मलमूत्र आदि के वेगों के रोकने से , चोट लगने से, भोजन न करने या कम करने से, चिन्ता, शोक, भय और क्रोध आदि के कारण, शरीर की धमनियां खाली हो जाती हैं। बलवान वायु उनमें भर जाता है। जिसके फलस्वरूप एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग में अस्सी प्रकार के वातरोगों को उत्पन्न कर देता है।[7]

---

१. सुश्रुत उत्तर १८ ।७
२. सुश्रुत उत्तर १८ ।२
३. सुश्रुत उत्तर १८ ।५
४. सुश्रुत उत्तर १८ ।६–११
५. सुश्रुत उत्तर १६ ।१३
६. शाङ्र्गधर सं० उत्तर १३ ।१२४
७. चरक चि० २८ ।१५–१७

यदि एक वर्ष तक उन वातरोगों को पहचाना नहीं गया अथवा इनकी उपेक्षा की गयी तो ये वातरोग असाध्य अथवा कष्ट साध्य हो जाते हैं।[1]

वातरोगों की चिकित्सा

बृहत्पञ्चमूल अर्थात् बेल, गम्भारी, पाटला, अरणी और स्योनाक के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत, दूध, अनार आदि खट्टे फल, पर्याप्त घृत या तेल डाल कर उरद आदि का यूष वातरोगियों के लिए हितकारी होता है।

साथ ही काकोली आदि, भद्रदारू आदि या विदारीगन्धा आदि वातहर द्रव्यों अथवा खट्टे पदार्थ, कांजी, सुरा, सौवीरक, दही, मस्तु अर्थात् दही का तोड़ आदि अनार, नीबू आदि घृत तेल आदि स्नेह पर्याप्त नमक मिलाकर लेप वातरोगियों के लिए बहुत हितकर है।

वातरोग चाहे एक अंग में हो, चाहे सर्वाङ्ग में केवल बस्ति, मुख्यतः स्नेहवस्ति, उसे वैसे ही रोक देती है, रोग को नियन्त्रित कर देती है, जिस प्रकार पर्वत आंधी को रोक देता है।

स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंग, बस्ति, स्नेह, विरेचन, शिरोवस्ति, शिर पर स्नेह धारण, स्नैहिक धूम, कोष्ण (कोसे) तेल का गण्डूष, स्नेहिक नस्य, दूध, घृत, तेल आदि स्नेह, स्निग्ध पदार्थ, अनार आदि खट्टे फल, स्निग्ध लवण युक्त भोजन, गरम जल आदि से परिषेक, संवाहन अर्थात् शरीर दबाना, वायुरहित धूप वाले घरों में निवास, स्नेह, अवगाहन (या पिषिञ्चन), कोमल शय्या, अग्निसेवन और ब्रह्मचर्य वातरोगी के लिए हितकारी होते हैं।

वातरोग के निवारण के लिए रोग अधिक बढ़ा होने पर दूध के साथ एरण्ड तेल का समुचित मात्रा में पान करें, जिससे अपेक्षित मात्रा में विरेचन होकर पेट शुद्ध हो जाये अथवा घृत में भुनी हुई हरीतकी दूध के साथ या अंगूर के रस के साथ लें। अपेक्षित मात्रा में विरेचन हो जाने पर दूध के साथ भात खाना हितकर रहता है।[2]

कान के सामान्य रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा

कान के सभी रोगों में रसायन सेवन, घृत–पान, ब्रह्मचर्य आवश्यक या लाभकर होता है। व्यायाम, शिर से स्नान और बोलना कान के सभी रोगों में हानिकर होता है।[3]

कर्णशूल, कानों में आवाज होना, बहरापन, कानों में अव्यक्त शब्द होना, चारों रोगों में रोगी को स्नेह पान अभ्यङ्ग से सर्वप्रथम स्नेहन करना चाहिए। इसके बाद वातहर द्रव्यों से स्वेदन करना उचित होता है। इन्हें एरण्ड तेल बादाम रोगन आदि स्नेह द्रव्यों का विरेचन कराकर कान का स्वेदन, नाड़ी स्वेदन या पिण्ड स्वेदन विधि से करना चाहिए।[1] कान के नाड़ी स्वेदन के लिए पानी में बेल, एरण्ड, कैथा, धतूरा, पुनर्नवा

---

१. चरक चि० २८ ।२३२–२३३
२. सुश्रुत चि० ४ ।१३,१४ ।२०–२६
३. सुश्रुत उत्तर २१ ।३

सहजन और असगन्ध की जड़ पकाकर उसके वाष्प से स्वेदन करना चाहिए। पिण्ड स्वेदन के लिए दूध से मावा (खोया) बनाकर उससे करना चाहिए। इससे कर्णशूल अविलम्ब ठीक होता है। कान के अन्दर नाद, स्वेद और बहरापन में भी शीघ्र लाभ होता है।

पीपल के पत्ते का दोना (कटोरी सा) बनाकर उसमें तिल का तेल भर दें और उसे पीपल के पत्ते से ही ढंक दें उसके ऊपर किसी पात्र में अंगारे रख कर वह मूसा (दोना) कान पर रखें। अंगारों की गरमी से उसमें से तेल टपक कर कान से स्रोतों में जायेगा। इससे कान का शूल तत्काल ठीक होगा।[२] तेल के स्थान पर घृत का भी प्रयोग किया जा सकता है।

लहसुन, अदरख, सहजन, सुरंगी (मीठा सहजन), मूली या केले के डण्ठल का स्वरस गुनगुना कान में डालने से अथवा अदरख का रस, मधु, सेन्धा नमक और तेल थोड़ा गरम करके कान में डालने से पीड़ा तत्काल दूर होती है।

बेल गम्भारी, पाटला, अरणी और स्योनाक के आठ–आठ अंगुल के काष्ठ लेकर उसे अलसी के वस्त्र में लपेट कर तिल के तेल से भिगोकर चिमटे से पकड़कर जलायें। इससे जो तेल टपकता है, उसे दीपिका तेल कहते हैं। उसके प्रयोग से कर्णशूल आदि रोग नष्ट होते हैं।[३] पूर्वोक्त काष्ठ (बृहत्पञ्चमूल) न मिलने पर देवदारु, कूठ या चीड़ की लकड़ी के द्वारा भी दीपिका तेल बनाया जाता है, यह भी कर्णशूल आदि के लिए अतिशय लाभकारी होता है।[४]

आक (मदार) के कोमल पत्ते काञ्जी में पीस कर तेल और नमक मिलाकर थूहर (सेहुण्ड) के डण्ठल को खोखला करके उसमें भरें एवम् उसी के पत्ते से उसका मुख मन्द करके पुटपाक करें। तदनन्तर निचोड़ कर रस निकाले। इस रस को गुनगुना कान में डालने से कान का शूल नष्ट होता है।[५]

कैथा, बिजौरा नीबू, अदरक के रस को गुनगुना करके कान में डालने से कर्ण शूल नष्ट होता है।[६]

बहरापन

गौ के मूत्र में बेल पीसकर उसमें तिल का तेल डालकर सिद्ध करें। इस तेल को कान से नियमित डालने मे बहरापन दूर होता है।[७]

आंख के तिमिर रोग से बचाव

पुराना घृत (दस वर्ष पुराना), त्रिफला, परवल, मूंग, आंवला और जौ का जो

---

१. सुश्रुत उत्तर २१।४–५
२. सुश्रुत उत्तर २१।६–१०
३. सुश्रुत उत्तर २१।२०–२१
४. सुश्रुत उत्तर २१।२२
५. सुश्रुत उत्तर २१।२३–२५
६. सुश्रुत उत्तर २१।२५
७. सुश्रुत उत्तर २१।३५–३६

लोग यत्नपूर्वक नियमित रूप से सेवन करते हैं उन्हें भंयकर तिमिर रोग होने का भय नहीं होता ।

शतावरी के मूल के रस से बनायी हुई खीर, आंवले के स्वरस से या उससे सिद्ध किया गया यवौदन (जौ का भात या दलिया) पर्याप्त घृत के साथ कुछ दिन नियमित रूप से खाने से तिमिर रोग दूर हो जाता है।

मधुमेह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

मधुमेह प्रमेह रोग की अन्तिम अवस्था मानी जाती है। इसको आजकल याप्य अर्थात् जीवन भर औषध खाने से नियन्त्रित रहने वाला रोग माना जाता है। प्राचीन आचार्य वमन, विरेचन एवं आस्थापन बस्तियों द्वारा रोगी के शरीर का शोधन करके इसकी सरल चिकित्सा विधि बताते हैं। उनके अनुसार–

१. हल्दी आधा तोला, मधु आधा तोला, आंवले का रस ८ तोला प्रायः सायं लें।

२. त्रिफला, देवरारु इन्द्रवारुणी, मुस्ता २–२ तोला क्वाथ बना कर दोनों समय लें।

३. शाल कमीला मुरुवक आधा तोला, आंवले का रस ८ तोला दोनों समय लें।

४. कुटज, कैथा, रोहितक, बहेड़ा सप्तपर्ण इनके फूलों का चूर्ण आधा तोला दोनों समय लें।

५. नीम, अमलतास, सप्तपर्ण, मूर्वा, कुटज, विट–खदिर और पलाश इनके पत्ते, मूल, छाल, फल, फूल के क्वाथ का प्रयोग करने से मधुमेह में लाभ होता है। उपर्युक्त सभी योगों में आधा तोला (पांच ग्राम) मधु एवम् आठ तोला (अस्सी ग्राम) आंवले का रस मिलाना चाहिए तभी पूर्ण लाभ मिलता है।

शक्ति की खान उरद

भारतीय भोजन में दाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दालें जहां रोटी या चावल (भात) को खाने में सहायक होती हैं, वहीं वे शक्तिप्रद भी होती हैं। दालों में अरहर का समाज में प्रचलन भले ही अधिक है, किन्तु पौष्टिकता की दृष्टि से उरद की दाल सर्वश्रेष्ठ है। उरद, मूंग, मसूर आदि को दल कर दो खण्डों में बंटने पर उसका नाम दाल पड़ जाता है और पकाने में भी सुविधा होती है अन्यथा उरद, मूंग आदि को बिना दले भी पकाया खाया जाता है। उरद को चाहे खड़े रूप में पकाया जाये चाहे दल

कर पौष्टिकता दोनों ही स्थिति में रहती है। आचार्य धन्वन्तरि के अनुसार–

माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद् बलप्रदः शुक्रकफावहश्च।।

अर्थात् उरद (माष) गुरु (देर में पचता है) मल मूत्र को प्रवृत्त कराने वाला, स्निग्ध, उष्णवीर्य, वृष्य (शुक्रवर्धक), मधुर, वायुनाशक, तृप्तिकारक, माताओं और पशुओं में दूध को बढ़ाने वाला, अतिशय बलवर्धक, वीर्य को, कफ को बढ़ाने वाला है। जन सामान्य में यह धारणा बन रही है कि उरद बादी (वातकारक) होता है, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है यह वातनाशक है।[१]

उरद सभी अन्नों में सबसे अधिक वीर्यवर्धक है यही कारण है कि पंजाब आदि प्रदेशों में जहां उरद का प्रयोग अधिक होता है, वहाँ के लोग अधिक हृष्ट पुष्ट और बलशाली होते हैं। उरद को पीसकर उसके आटे का हलुआ अथवा लड्डू शीत ऋतु में खाने पर स्वास्थ्य समृद्ध होता है। शरीर में बल और वीर्य की वृद्धि होती है, यह वाजीकरण भी है।

उरद के चूर्ण (आटा) को एक–दो तोला (१०–२०ग्राम) तक मधु और घृत के साथ प्रयोग करने पर शरीर में बल, वीर्य और ओज की वृद्धि होती है। यह वयःस्थापक भी है अर्थात् मधु, घृत के साथ उरद का चूर्ण लेने पर देर तक वृद्धावस्था नहीं आती।

आत्मगुप्ता अर्थात् केवांच के बीच तथा काकाण्ड फल (शूक शिम्बी) के गुण भी उरद के समान ही हैं।[२]

अत्यन्त बलकारी दो योग

१. पिप्पल्यादि अवलेह-

पिप्पली का चूर्ण	१६ ग्राम
विदारी कन्द का चूर्ण	१६ ग्राम
वंशलोचन चूर्ण	३२ ग्राम
मधु नवीन	३२ ग्राम
गाय का घृत	१०० ग्राम
मिश्री (पीसकर)	१०० ग्राम

उपर्युक्त सभी पदार्थों को मिलाकर रख लें एवं पाचन शक्ति के अनुसार पांच ग्राम से दस ग्राम तक प्रातः काल खायें एवम् ऊपर से गाय का दूध पियें। इससे शरीर

---

१. सुश्रुत सू० ४६ ।३४

२. सुश्रुत सू० ४६ ।३६

में बलवीर्य की अतिशय वृद्धि होती है।

२. शतावर्यादि अवलेह

शतावरी	१२५ ग्राम
विदारीकन्द	१२५ ग्राम
उरद	१२५ ग्राम
केवांच के बीज	१२५ ग्राम
गोखरू	१२५ ग्राम

इन्हें चूर्ण करके आठ गुने अर्थात् पांच किलो पानी में डालकर पकायें एक किलो पानी शेष रहने पर छानकर साढ़े सात सौ ग्राम गाय का घृत एवं छः किलो दूध डाल कर पकायें। हलवे की शकल में गाढ़ा होने पर उतार कर रख लें। पाचनशक्ति के अनुसार एक तोला से दो तोला तक प्रातः खाकर गाय का दूध पियें। यह योग अतिशय बल–वीर्यवर्धक है।

शोथ रोग का उपचार

शोथ अर्थात् शरीर का फूलना कष्टकर न होकर भी भयंकर रोगों की सूचना देता है। जिन रोगों के कारण शरीर में शोथ होता है उन सभी आन्तरिक रोगों को निम्नलिखित उपायों से दूर करके मृत्यु से बचा जा सकता है–

१. चिरयता और सोंठ समान भाग २ ग्राम से ५ ग्राम तक प्रातः सायं पुनर्नवा का काढ़ा अथवा ताजे पानी से लें। इससे शोथ के कारणभूत यकृत् विकार आदि रोग दूर हो जाते हैं और शोथ का शमन हो जाता है।

२. अदरक या सोंठ तथा गुड़ आधा तोला (५ ग्राम) प्रथम दिन पानी के साथ लें। प्रतिदिन आधा तोला (५ ग्राम) बढ़ाते हुए दसवें दिन से पांच–पांच तोला प्रतिदिन लें। औषध लेने के तीन चार घंटे बाद दूध या मूंग का आहार लें।

३. अदरख का रस २ मासा (१.२५ ग्राम) प्रथम दिन लें। प्रतिदिन इतनी ही मात्रा बढ़ाते हुए १५ तोला अर्थात् लगभग १५० ग्राम तक बढ़ायें तथा इसी क्रम से प्रतिदिन घटाएं। शोथ के कारण दूर होकर शोथ दूर हो जायेगा।

४. शिलाजीत २ रत्ती प्रतिदिन त्रिफला क्वाथ के साथ लें। शोथ जड़ से सदा के लिए दूर हो जायेगा।

मद्यपान के दोष

यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत्।
इत्येवं मद्यदोषज्ञाः मद्यं गर्हन्ति यत्नतः।।

जहां स्मृति–भ्रंश (बुद्धि–नाश अथवा स्मरण–शक्ति का नाश) अकेला ही दोष होता है। वहां सभी दोष उपस्थित हो जाते हैं। मद्य के प्रयोग से तो बुद्धि नाश के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं। यही कारण है कि मद्य के दोष को जानने समझने वाले लोग मद्य की निन्दा करते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं।

सत्यमेते महादोषाः मद्यस्योक्ताः न संशयः।
अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्।। चरक

मद्य के ये जो दोष कहे गये हैं, निस्सन्देह ये महा दोष हैं। विधिरहित अर्थात् औषधि आदि के प्रयोजन के अतिरिक्त मद्यपान अत्यन्त अहितकर है।

मद्य के दुष्प्रभाव

इयं भूमिरखद्यानां दौःशील्यस्येदमास्पदम्।
एकोऽयं बहुमार्गायाः दुर्गतेर्देशिकः परः ।।३।।
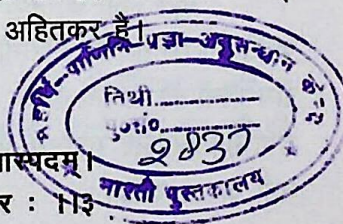
मद्य के प्रभाव में आकर मनुष्य जो नहीं खाना चाहिए उसे भी खाने लगता है। नीच से नीच कर्म करने में संकोच नहीं करता। यह अकेला मद्य ही अनेक प्रकार की दुर्गति प्रदान करता है।

निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः।
मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम्।।

नशा चढ़ने की प्रथम स्थिति में शराबी की बल–बुद्धि का क्षय हो जाता है। द्वितीय स्थिति में भयंकर प्रमाद की स्थिति में पहुंच कर स्वयं को सुखी अनुभव करता है और इसके बाद कर्त्तव्य अकर्त्तव्य भूल कर निरंकुश सर्प के समान वह मूर्ख कुछ भी आचरण कर सकता है । नशे की तृतीय स्थिति में वह निश्चेष्ट होकर मुर्दे के समान पड़ जाता है। उस समय वह मृत्यु से भी अधिक निकृष्ट अवस्था में पहुंच जाता है।

धर्माधर्मं सुखं दुःखमर्थानर्थं हिताहितम्।
मदासक्तो न जानाति कथं तच्छीलयेद् बुधः।।

अष्टांग हृदय नि० ६।६–८

मद्य का सेवन करने वाला नशे की स्थिति में धर्म–अधर्म सुख–दुःख, अर्थ–अनर्थ, हित–अहित कुछ नहीं जान पाता। इसलिए मनुष्य को मद्य का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

अयुक्त्योऽयुक्तमन्नं हि व्याधये मरणाय वा।
मद्यं त्रिवर्ग-धी-धैर्य-लज्जादेरपि नाशनम्।।

अष्टांग हृदय नि० ६।१०।१

विषम अथवा अहित भोजन करने से रोग अथवा मृत्यु होती है किन्तु मद्य सेवन से रोग और मृत्यु तो आती ही है। धर्म अर्थ और काम का बुद्धि धैर्य और लज्जा आदि का भी विनाश हो जाता है।

मद्य-दोष

हन्त्याशु हि विषं किञ्चित् किञ्चिद् रोगाय कल्पते।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः।।

चरक चि० २४।११

कुछ विषों का प्रयोग शीघ्र मृत्युदायी होता है और कुछ विष रोग को उत्पन्न करते हैं। किन्तु विष के समान ही मादक पदार्थों के प्रयोग से उत्पन्न नशा मृत्यु और रोग दोनों को उत्पन्न करता है। अतः इनका प्रयोग करना मृत्यु और रोगों को निमन्त्रण देना है। इसलिए स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन चाहने वालों को मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

योग

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनः समाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्।।

चरक चि० २४।५२

सभी प्राणियों के लिए इस लोक में अथवा परलोक में जो कल्याणकारी है अथवा मुक्ति के लिए जो उपयोगी है, वह सब मन की एकाग्रता (चित्त की वृत्तियों के निरोध) के अधीन है अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र और निरुद्ध करने के फल स्वरूप हमें वह सब प्राप्त हो जाते हैं, जो इस लोक या परलोक में कल्याण के लिए अपेक्षित हैं। मोक्ष की प्राप्ति भी मन की पूर्ण एकाग्रता (निरोध) से ही सम्भव है।

आहार

षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्।।

चरक सू० २७।३४८

जो व्यक्ति हित आहार को ही ग्रहण करता है अहित अथवा विषम भोजन नहीं करता, जो संयमी है तथा जो सत्पुरुषों में प्रिय है, वह छत्तीस सहस्र रात्रिपर्यन्त अर्थात् पूरे सौ वर्षों तक नीरोग रह कर जीवित रहता है अर्थात् हित आहार–विहार

करने वाला संयमी व्यक्ति नीरोग और दीनता रहित होकर सौ वर्षों तक जीवित रहता है।

निवृत्तो यस्तु मद्येन जितात्मा बुद्धिपूर्वकृत्।
विकारैः स्पृश्यते जातु न शारीरै र्न मानसैः।।

जो व्यक्ति किसी प्रकार के मद्य (नशे) का प्रयोग नही करता, जो संयमी है और बुद्धि पूर्वक लोक व्यवहार करता है, उसे कभी शारीरिक या मानसिक विकार (रोग) नहीं सताते।।

अष्टांग हृदय नि० ६/२३–२४

सुभाषित

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।
विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।।
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेप्यरौ।।

देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य (चिकित्सक), राजा और अतिथियों का सदा सत्कार करें। अपनी सहायता के लिए यदि कोई आये तो उन्हें भी निराश न करें, न ही उनका अपमान करें और न उन पर आक्षेप करें। अपकार करने वाले शत्रु को भी उपकार के द्वारा जीतने का प्रयत्न करें।

सुभाषित

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतर दूरगः।

शुभचिन्तक मित्रों का आदर करते हुए उनके बीच रहें। उनके साथ सब प्रकार का उचित व्यवहार करें। अन्य लोगों से विशेषतः इससे विपरीत स्वभाव वालों से जैसे भी हो दूर ही रहें।

–आचार्य वाग्भट्ट

अवृत्तिव्याधिशोकार्त्ताननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्।।

आजीविका के अभाव से , रोगों से अथवा शोक से दुःखी जनों की सब प्रकार से सहायता करें। कीड़े मकोड़े, चींटी आदि को भी अपने समान समझें।
घृत शरीर की अग्नि को बढ़ाता है, शरीराग्नि के सबल होने से सभी धातुओं का बल बढ़ता है। इसके विपरीत शरीराग्नि के निर्बल होने से धातुओं का क्षय होकर रोगों की वृद्धि होती है।

हस्ति वैद्यक